پھر اُٹھی اُٹھا کر کسی بار رہ گیا

پایا نہ وہ مقام کہ وہ دیکھا نہ ہو

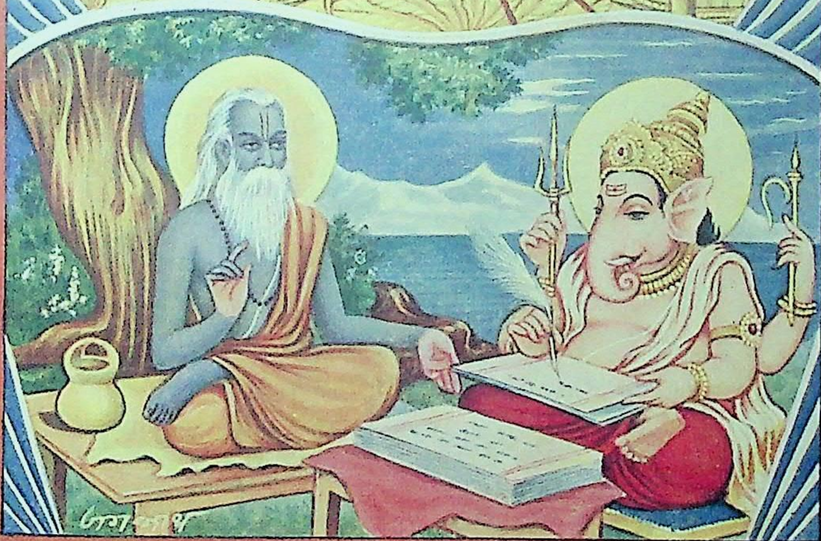
ایسی جگہ کہاں ہے جہاں پر ماتھا نہ ہو۔

महाभारत

संस्कृत मूल

संस्कृत मूल





हिन्दी अनुवाद

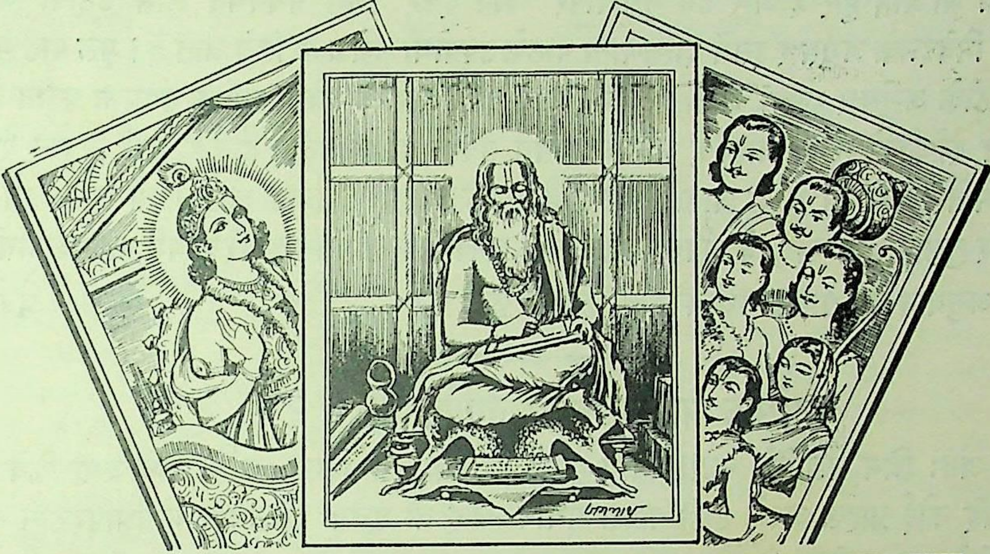
हिन्दी अनुवाद

वर्ष १

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या २

ॐ श्रीपरमात्मने नमः



महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष १ } गोरखपुर, मार्गशीर्ष २०१२, दिसम्बर १९५५ { संख्या २ पूर्ण संख्या २

महाभारत-वन्दना

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थो हरिः स्वयम् ।
तस्माद् भारतमेवाहं वन्दे वेदैकविग्रहम् ॥

'महाभारतमें सम्पूर्ण वेदोंके अर्थका प्रतिपादन हुआ है, साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण ही महाभारतके अर्थ हैं—उसके परम तात्पर्यरूपसे प्रतिष्ठित हैं तथा महाभारत वेदका ही एक स्वरूप है, इसलिये मैं महाभारतकी वन्दना करता हूँ ।'

(महाभारत, तात्पर्यप्रकाश)

निवेदन

महाभारतका यह दूसरा अङ्क है। पहले अङ्कके प्रकाशनको लोगोंने बहुत पसंद किया, यह स्थान-स्थानसे आये हुए पत्रोंसे विदित होता है। इस बीचमें पाठ तथा अन्यान्य कई बातोंके सम्बन्धमें सुझाव भी प्राप्त हुए हैं और उन सुझावोंपर ध्यान देकर उनसे यथोचित लाभ उठाया जा रहा है। पूर्व निवेदनके अनुसार इसमें दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक ले लिये जाते हैं। मूल पाठ मुख्यतः नीलकण्ठीके अनुसार रक्खा जाता है; परंतु जहाँ दूसरे पाठोंके श्लोक अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं, वहाँ उन श्लोकोंको लिया जाता है और जो प्रसंग सर्वथा प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं, उन्हें विद्वान् पण्डितोंकी सम्मतिसे नहीं भी लिया जाता। आशा है पाठकोंको इससे संतोष होगा। जो सज्जन इसे पढ़कर कुछ और सुझाव देना चाहें, वे अवश्य कृपा करें। उनकी सत्-सम्मति हमारे काममें सहायक होगी, ऐसा हमारा अनुमान है। पाठक तथा विद्वान् महोदय कृपा करें।

विनीत—प्रकाशक

मासिक महाभारतका वार्षिक चंदा २०) है।

अतः जिन सज्जनोंके २४।।) आये हुए हैं, उनके ४।।) अगले वर्षके लिये जमा किये जा रहे हैं। यदि कोई ग्राहक अपने ४।।) वापस मँगाना चाहें तो सूचना मिलनेपर मनीआर्डरफीस काटकर वापस भेजे जा सकते हैं।

व्यवस्थापक—महाभारत-विभाग, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

'कल्याण'के तीसवें वर्षका विशेषाङ्क 'सत्कथा-अङ्क'
१ जनवरी १९५६ को प्रकाशित हो चुका है।

यह विशेषाङ्क इतना रोचक तथा आकर्षक है कि सम्भवतः इसे बार-बार पढ़नेका तथा संग्रहमें रखनेका बड़ा मन होगा। इससे इसका प्रचार-प्रसार बहुत अधिक तथा इसके द्वारा निश्चितरूपसे लाभ होना सम्भव है, अतएव जो तुरंत ७॥) (साढ़े सात) रुपये मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक नहीं बन जायँगे, उनको सम्भवतः यह अङ्क मिलना कठिन हो जायगा। इसलिये जिन्होंने अबतक चंदा नहीं भेजा है, वे ७॥) तुरंत भेजकर ग्राहक बन जानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण' पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीताप्रेसकी दो नयी पुस्तकें

सटीक सूरसागरके खण्डशः प्रकाशन-योजनाकी तीसरी पुस्तक

सरल भावार्थसहित श्रीकृष्ण बालमाधुरी (बालकृष्ण-पदावली)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृ० २९६, सचित्र, मूल्य ॥।=), सजिल्द १।), डाकखर्च ॥।)।

आनन्दमय जीवन

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ २२०, मू० ॥।-), डाकखर्च ॥=)।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

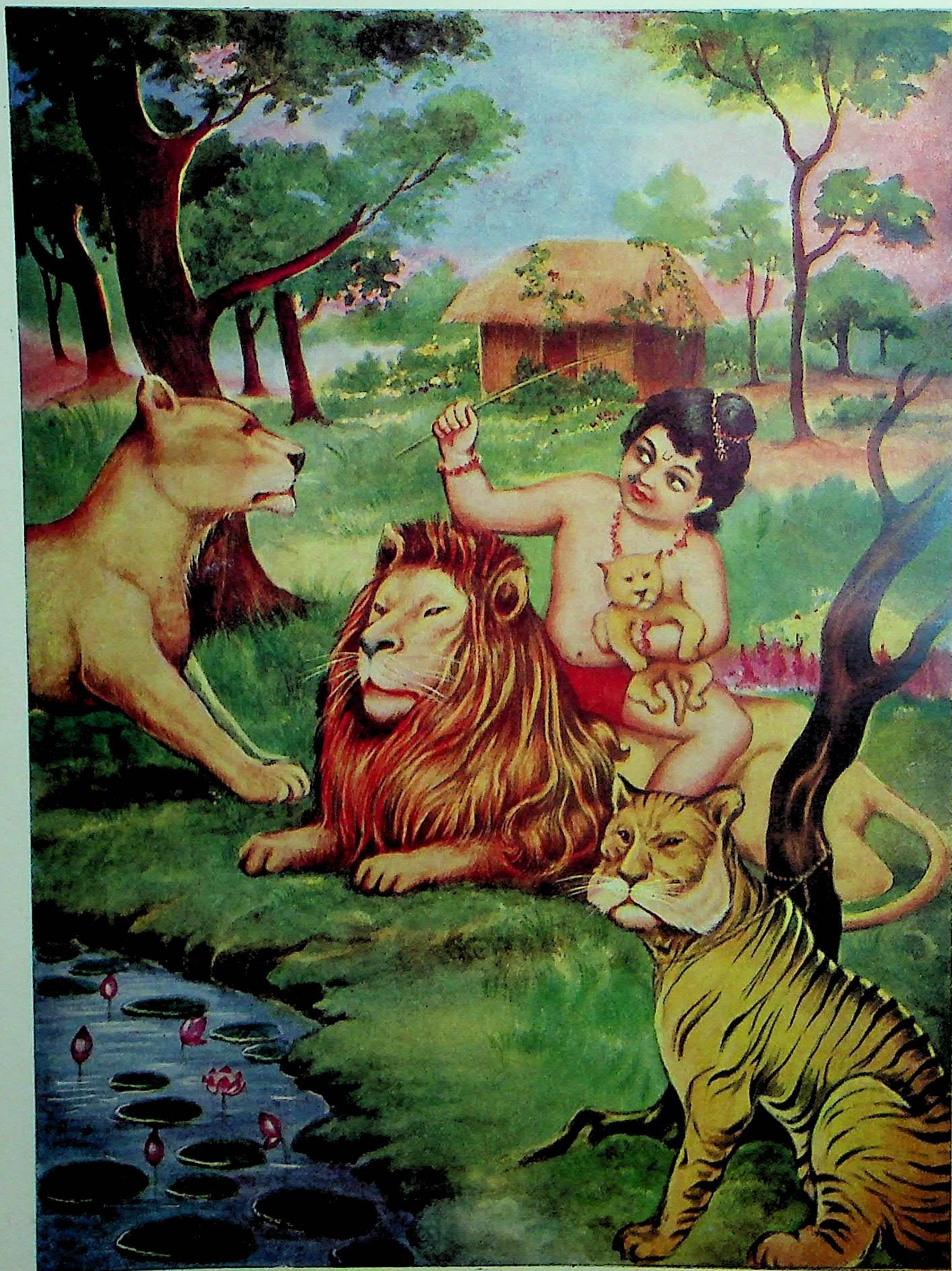
सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

सचित्र मासिक महाभारत हिंदी-भाषान्तरसहित आदिपर्वके अध्याय ६८ से १३० तककी

विषय-सूची

चित्र-सूची



सिंह-बाघोंमें बालक भरत

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तकी अद्भुत शक्ति तथा राज्यशासनकी क्षमताका वर्णन

जनमेजय उवाच

त्वत्तः श्रुतमिदं ब्रह्मन् देवदानवरक्षसाम्।
अंशावतरणं सम्यग् गन्धर्वाप्सरसां तथा ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैंने आपके मुखसे देवता, दानव, राक्षस, गन्धर्व तथा अप्सराओंके अंशावतरणका वर्णन अच्छी तरह सुन लिया ॥ १ ॥

इमं तु भूय इच्छामि कुरूणां वंशमादितः।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ २ ॥

विप्रवर! अब इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आपके द्वारा वर्णित कुरुवंशका वृत्तान्त पुनः आदिसे ही सुनना चाहता हूँ ॥२॥

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! पूरुवंशका विस्तार करनेवाले एक राजा हो गये हैं, जिनका नाम था दुष्यन्त। वे महान् पराक्रमी तथा चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समूची पृथ्वीके पालक थे ॥ ३ ॥

चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिंजयः ॥ ४ ॥
आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्दनः।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृतान् ॥ ५ ॥

राजा दुष्यन्त पृथ्वीके चारों भागोंका तथा समुद्रसे आवृत सम्पूर्ण देशोंका भी पूर्णरूपसे पालन करते थे। उन्होंने अनेक युद्धोंमें विजय पायी थी। रत्नाकर समुद्रतक फैले हुए, चारों वर्णके लोगोंसे भरे-पूरे तथा म्लेच्छदेशकी सीमासे मिले-जुले सम्पूर्ण भूभागोंका वे शत्रुमर्दन नरेश अकेले ही शासन तथा संरक्षण करते थे ॥ ४-५ ॥

न वर्णसंकरकरो न कृष्याकरकृज्जनः।
न पापकृत् कश्चिदासीत् तस्मिन् राजनि शासति ॥ ६ ॥

उस राजाके शासनकालमें कोई मनुष्य वर्णसंकर संतान उत्पन्न नहीं करता था; पृथ्वी बिना जोते-बोये ही अनाज पैदा करती थी और सारी भूमि ही रत्नोंकी खान बनी हुई थी, इसलिये कोई भी खेती करने या रत्नोंकी खानका पता लगानेकी चेष्टा नहीं करता था। पाप करनेवाला तो उस राज्यमें कोई था ही नहीं ॥ ६ ॥

धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ७ ॥
नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ ८ ॥

नरश्रेष्ठ! सभी लोग धर्ममें अनुराग रखते और उसीका सेवन करते थे। अतः धर्म और अर्थ दोनों ही उन्हें स्वतः प्राप्त हो जाते थे। तात! राजा दुष्यन्त जब इस देशके शासक थे, उस समय कहीं चोरोंका भय नहीं था। भूखका भय तो नाममात्रको भी नहीं था। इस देशपर दुष्यन्तके शासनकालमें रोग-व्याधिका डर तो बिल्कुल ही नहीं रह गया था ॥

स्वधर्मे रेमिरे वर्णा दैवे कर्मणि निःस्पृहाः।
तमाश्रित्य महीपालमासंश्चैवाकुतोभयाः ॥ ९ ॥

सब वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मके पालनमें रत रहते थे। देवाराधन आदि कर्मोंको निष्कामभावसे ही करते थे। राजा दुष्यन्तका आश्रय लेकर समस्त प्रजा निर्भय हो गयी थी ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि रसवन्ति च।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥ १० ॥

मेघ समयपर पानी बरसाता और अनाज रसयुक्त होते थे। पृथ्वी सब प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न तथा पशु-धनसे परिपूर्ण थी ॥ १० ॥

स्वकर्मनिरता विप्रा नानृतं तेषु विद्यते।
स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ॥ ११ ॥

ब्राह्मण अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें तत्पर थे। उनमें झूठ एवं छल-कपट आदिका अभाव था। राजा दुष्यन्त स्वयं भी नवयुवक थे। उनका शरीर वज्रके सदृश दृढ था। वे अद्भुत एवं महान् पराक्रमसे सम्पन्न थे ॥ ११ ॥

उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत् सवनकाननम्।
चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ॥ १२ ॥
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः।
बले विष्णुसमश्चासीत् तेजसा भास्करोपमः ॥ १३ ॥

वे अपने दोनों हाथोंद्वारा उपवनों और काननोंसहित मन्दराचलको उठाकर ले जानेकी शक्ति रखते थे। गदायुद्धके प्रक्षेप[1], विक्षेप[2], परिक्षेप[3] और अभिक्षेप[4]—इन चारों प्रकारोंमें कुशल तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें अत्यन्त निपुण

१. दूरवर्ती शत्रुपर गदा फेंकना 'प्रक्षेप' कहलाता है। २. समीपवर्ती शत्रुपर गदाकी कोटिसे प्रहार करना 'विक्षेप' कहा गया है। ३. जब शत्रु बहुत हों तो सब ओर गदाको घुमाते हुए शत्रुओंपर उसका प्रहार करना 'परिक्षेप' है। ४. गदाके अग्रभागसे मारना 'अभिक्षेप' कहलाता है।

थे। घोड़े और हाथीकी पीठपर बैठनेकी कलामें वे अत्यन्त प्रवीण थे। बलमें भगवान् विष्णुके समान और तेजमें भगवान् सूर्यके सदृश थे ॥ १२-१३ ॥

अक्षोभ्यत्वेऽर्णवसमः सहिष्णुत्वे धरासमः।
सम्मतः स महीपालः प्रसन्नपुरराष्ट्रवान् ॥ १४ ॥
भूयो धर्मपरैर्भावैर्मुदितं जनमादिशत् ॥ १५ ॥

वे समुद्रके समान अक्षोभ्य और पृथ्वीके समान सहनशील थे। महाराज दुष्यन्तका सर्वत्र सम्मान था। उनके नगर तथा राष्ट्रके लोग सदा प्रसन्न रहते थे। वे अत्यन्त धर्मयुक्त भावनासे सदा प्रसन्न रहनेवाली प्रजाका शासन करते थे ॥१४-१५॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने अष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

दुष्यन्तका शिकारके लिये वनमें जाना और विविध हिंसक वन-जन्तुओंका वध करना

जनमेजय उवाच

सम्भवं भरतस्याहं चरितं च महामतेः।
शकुन्तलायाश्चोत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! मैं परम बुद्धिमान् भरतकी उत्पत्ति और चरित्रको तथा शकुन्तलाकी उत्पत्तिके प्रसङ्गको भी यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

दुष्यन्तेन च वीरेण यथा प्राप्ता शकुन्तला।
तं वै पुरुषसिंहस्य भगवन् विस्तरं त्वहम् ॥ २ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वज्ञ सर्वं मतिमतां वर।

भगवन्! वीरवर दुष्यन्तने शकुन्तलाको कैसे प्राप्त किया? मैं पुरुषसिंह दुष्यन्तके उस चरित्रको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। तत्त्वज्ञ मुने! आप बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं। अतः ये सब बातें बताइये ॥ २½ ॥

वैशम्पायन उवाच

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ॥ ३ ॥
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः।
बलेन चतुरङ्गेण वृतः परमवल्गुना ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—एक समयकी बात है, महाबाहु राजा दुष्यन्त बहुत-से सैनिक और सवारियोंको साथ लिये सैकड़ों हाथी-घोड़ोंसे घिरकर परम सुन्दर चतुरङ्गिणी सेनाके साथ एक गहन वनकी ओर चले ॥ ३-४ ॥

खड्गशक्तिधरैर्वीरैर्गदामुसलपाणिभिः।
प्रासतोमरहस्तैश्च ययौ योधशतैर्वृतः ॥ ५ ॥

जब राजाने यात्रा की, उस समय खड्ग, शक्ति, गदा, मुसल, प्रास और तोमर हाथमें लिये सैकड़ों योद्धा उन्हें घेरे हुए थे ॥ ५ ॥

सिंहनादैश्च योधानां शङ्खदुन्दुभिनिःस्वनैः।
रथनेमिस्वनैश्चैव सनागवरबृंहितैः ॥ ६ ॥
नानायुधधरैश्चापि नानावेषधरैस्तथा।
ह्रेषितस्वनमिश्रैश्च क्ष्वेडितास्फोटितस्वनैः ॥ ७ ॥
आसीत् किलकिलाशब्दस्तस्मिन् गच्छति पार्थिवे।
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया नृपशोभया ॥ ८ ॥
ददृशुस्तं स्त्रियस्तत्र शूरमात्मयशस्करम्।
शक्रोपमममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥ ९ ॥

महाराज दुष्यन्तके यात्रा करते समय योद्धाओंके सिंहनाद, शङ्ख और नगाड़ोंकी आवाज, रथके पहियोंकी घरघराहट, बड़े-बड़े गजराजोंकी चिग्घाड़, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, नाना प्रकारके आयुध तथा भाँति-भाँतिके वेष धारण करनेवाले योद्धाओंद्वारा की हुई गर्जना और ताल ठोंकनेकी आवाजोंसे चारों ओर भारी कोलाहल मच गया था। महलके श्रेष्ठ शिखर-पर बैठी हुई स्त्रियाँ उत्तम राजोचित शोभासे सम्पन्न शूरवीर दुष्यन्तको देख रही थीं। वे अपने यशको बढ़ानेवाले, इन्द्रके समान पराक्रमी और शत्रुओंका नाश करनेवाले थे। शत्रुरूपी मतवाले हाथीको रोकनेके लिये उनमें सिंहके समान शक्ति थी ॥ ६—९ ॥

पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र वज्रपाणिं स्म मेनिरे।
अयं स पुरुषव्याघ्रो रणे वसुपराक्रमः ॥ १० ॥
यस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः।

वहाँ देखती हुई स्त्रियोंने उन्हें वज्रपाणि इन्द्रके समान समझा और आपसमें वे इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो! देखो तो सही, ये ही वे पुरुषसिंह महाराज दुष्यन्त हैं, जो संग्रामभूमिमें वसुओंके समान पराक्रम दिखाते हैं, जिनके बाहुबलमें पड़कर शत्रुओंका अस्तित्व मिट जाता है' ॥१०½॥

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताः स्त्रियः प्रेम्णा नराधिपम् ॥११॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टीश्च ससृजुस्तस्य मूर्धनि।
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ॥१२॥

ऐसी बातें करती हुई वे स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे महाराज दुष्यन्तकी स्तुति करतीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा

करती थीं। यत्र-तत्र खड़े हुए श्रेष्ठ ब्राह्मण सब ओर उनकी स्तुति-प्रशंसा करते थे ॥ ११-१२ ॥

निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया।
तं देवराजप्रतिमं मत्तवारणधूर्गतम् ॥१३॥
द्विजक्षत्रियविट्शूद्रा निर्यान्तमनुजग्मिरे।
ददृशुर्वर्धमानास्ते आशीर्भिश्च जयेन च ॥१४॥

इस प्रकार महाराज वनमें हिंसक पशुओंका शिकार खेलनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ नगरसे बाहर निकले। वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे। मतवाले हाथीकी पीठपर बैठकर यात्रा करनेवाले उन महाराज दुष्यन्तके पीछे-पीछे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी वर्णोंके लोग गये और सब आशीर्वाद एवं विजयसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदय-की कामना करते हुए उनकी ओर देखते रहे ॥ १३-१४ ॥

सुदूरमनुजग्मुस्तं पौरजानपदास्तथा।
न्यवर्तन्त ततः पश्चादनुज्ञाता नृपेण ह ॥१५॥

नगर और जनपदके लोग बहुत दूरतक उनके पीछे-पीछे गये। फिर महाराजकी आज्ञा होनेपर लौट आये ॥ १५ ॥

सुपर्णप्रतिमेनाथ रथेन वसुधाधिपः।
महीमापूरयामास घोषेण त्रिदिवं तथा ॥१६॥
स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम्।
बिल्वार्कखदिराकीर्णं कपित्थधवसंकुलम् ॥१७॥

उनका रथ गरुडके समान वेगशाली था। उसके द्वारा यात्रा करनेवाले नरेशने घरघराहटकी आवाजसे पृथ्वी और आकाशको गुँजा दिया। जाते-जाते बुद्धिमान् दुष्यन्तने एक नन्दनवनके समान मनोहर वन देखा, जो बेल, आक, खैर, कैथ और धव (बाकली) आदि वृक्षोंसे भर-पूर था ॥

विषमं पर्वतप्रस्थैरश्मभिश्च समावृतम्।
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ॥१८॥

पर्वतकी चोटीसे गिरे हुए बहुत-से शिलाखण्ड वहाँ इधर-उधर पड़े थे। ऊँची-नीची भूमिके कारण वह वन बड़ा दुर्गम जान पड़ता था। अनेक योजनतक फैले हुए उस वनमें कहीं जल या मनुष्यका पता नहीं चलता था ॥ १८ ॥

मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः।
तद् वनं मनुजव्याघ्रः सभृत्यबलवाहनः ॥१९॥
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान् मृगान्।
बाणगोचरसम्प्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ॥२०॥
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः।
दूरस्थान् सायकैः कांश्चिदभिनत् स नराधिपः ॥२१॥
अभ्याशमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत।
कांश्चिदेणान् समाजघ्ने शक्त्या शक्तिमतां वरः ॥२२॥

वह सब ओर मृग और सिंह आदि भयंकर जन्तुओं तथा अन्य वनवासी जीवोंसे भरा हुआ था। नरश्रेष्ठ राजा दुष्यन्त-ने सेवक, सैनिक और सवारियोंके साथ नाना प्रकारके हिंसक पशुओंका शिकार करते हुए उस वनको रौंद डाला। वहाँ बाणोंके लक्ष्यमें आये हुए बहुत-से व्याघ्रोंको महाराज दुष्यन्तने मार गिराया और कितनोंको सायकोंसे बींध डाला। शक्ति-शाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ नरेशने कितने ही दूरवर्ती हिंसक पशुओं-को बाणोंद्वारा घायल किया। जो निकट आ गये, उन्हें तलवारसे काट डाला और कितने ही एण जातिके पशुओंको शक्तिनामक शस्त्रद्वारा मौतके घाट उतार दिया ॥

गदामण्डलतत्त्वज्ञश्चचारामितविक्रमः।
तोमरैरसिभिश्चापि गदामुसलकम्पनैः ॥२३॥
चचार स विनिघ्नन् वै स्वैरचारान् वनद्विपान्।
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ॥२४॥
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः।
तत्र विद्रुतयूथानि हतयूथपतीनि च ॥२५॥
मृगयूथान्यथौत्सुक्याच्छब्दं चक्रुस्ततस्ततः।
शुष्काश्चापि नदीर्गत्वा जलनैराश्यकर्शिताः ॥२६॥
व्यायामक्लान्तहृदयाः पतन्ति स्म विचेतसः।
क्षुत्पिपासापरीताश्च श्रान्ताश्च पतिता भुवि ॥२७॥

असीम पराक्रमवाले राजा गदा घुमानेकी कलामें अत्यन्त प्रवीण थे। अतः वे तोमर, तलवार, गदा तथा मुसलोंकी मारसे स्वेच्छापूर्वक विचरनेवाले जंगली हाथियोंका वध करते हुए वहाँ सब ओर विचरने लगे। अद्भुत पराक्रमी नरेश और उनके युद्ध-प्रेमी सैनिकोंने उस विशाल वनका कोना-कोना छान डाला। अतः सिंह और बाघ उस वनको छोड़कर भाग गये। पशुओंके कितने ही झुंड, जिनके यूथपति मारे गये थे, व्यग्र होकर भागे जा रहे थे और कितने ही यूथ इधर-उधर आर्त-नाद करते थे। वे प्याससे पीड़ित हो सूखी नदियोंमें जाकर जब जल नहीं पाते, तब निराशासे अत्यन्त खिन्न हो दौड़नेके परिश्रमसे क्लान्तचित्त होनेके कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ते थे। भूख, प्यास और थकावटसे चूर-चूर हो बहुत-से पशु धरतीपर गिर पड़े ॥ २३–२७ ॥

केचित् तत्र नरव्याघ्रैरभक्ष्यन्त बुभुक्षितैः।
केचिदग्निमथोत्पाद्य संसाध्य च वनेचराः ॥२८॥
भक्षयन्ति स्म मांसानि प्रकुट्य विधिवत् तदा।
तत्र केचिद् गजा मत्ता बलिनः शस्त्रविक्षताः ॥२९॥
संकोच्याग्रकरान् भीताः प्रद्रवन्ति स्म वेगिताः।
शकृन्मूत्रं सृजन्तश्च क्षरन्तः शोणितं बहु ॥३०॥

वहाँ कितने ही व्याघ्र-स्वभावके नृशंस जंगली मनुष्य भूखे होनेके कारण कुछ मृगोंको कच्चे ही चबा गये। कितने ही वनमें विचरनेवाले व्याघ्र वहाँ आग जलाकर मांस पकानेकी अपनी रीतिके अनुसार मांसको कूट-कूटकर राँधने

और खाने लगे। उस वनमें कितने ही बलवान् और मतवाले हाथी अस्त्र-शस्त्रोंके आघातसे क्षत-विक्षत होकर सूँडको समेटे हुए भयके मारे वेगपूर्वक भाग रहे थे। उस समय उनके घावोंसे बहुत-सा रक्त बह रहा था और वे मल-मूत्र करते जाते थे ॥ २८-३० ॥

वन्या गजवरास्तत्र ममृदुर्मनुजान् बहून्।
तद् वनं बलमेघेन शरधारेण संवृतम्।
व्यरोचत मृगाकीर्णं राज्ञा हतमृगाधिपम् ॥ ३१ ॥

बड़े-बड़े जंगली हाथियोंने भी वहाँ भागते समय बहुत-से मनुष्योंको कुचल डाला। वहाँ बाणरूपी जलकी धारा बरसानेवाले सैन्यरूपी बादलोंने उस वनरूपी व्योमको सब ओरसे घेर लिया था। महाराज दुष्यन्तने जहाँके सिंहोंको मार डाला था, वह हिंसक पशुओंसे भरा हुआ वन बड़ी शोभा पा रहा था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमोऽध्यायः

तपोवन और कण्वके आश्रमका वर्णन तथा राजा दुष्यन्तका उस आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो मृगसहस्राणि हत्वा सबलवाहनः।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद् विवेश ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर सेना और सवारियोंके साथ राजा दुष्यन्तने सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करके एक हिंसक पशुका ही पीछा करते हुए दूसरे वनमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥ २ ॥

उस समय उत्तम बलसे युक्त महाराज दुष्यन्त अकेले ही थे तथा भूख, प्यास और थकावटसे शिथिल हो रहे थे। उस वनके दूसरे छोरमें पहुँचनेपर उन्हें एक बहुत बड़ा ऊसर मैदान मिला, जहाँ वृक्ष आदि नहीं थे ॥ २ ॥

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम्।
मनःप्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥ ३ ॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यन्महद् वनम्।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥ ४ ॥

उस वृक्षशून्य ऊसर भूमिको लाँघकर महाराज दुष्यन्त दूसरे विशालवनमें जा पहुँचे, जो अनेक उत्तम आश्रमोंसे सुशोभित था। देखनेमें अत्यन्त सुन्दर होनेके साथ ही वह मनमें अद्भुत आनन्दोल्लासकी सृष्टि कर रहा था। उस वनमें शीतल वायु चल रही थी। वहाँके वृक्ष फूलोंसे भरे थे और वनमें सब ओर व्याप्त हो उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ अत्यन्त सुखद हरी-हरी कोमल घास उगी हुई थी ॥ ३-४ ॥

विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥ ५ ॥

वह वन बहुत बड़ा था और मीठी बोली बोलनेवाले विविध विहंगमोंके कलरवोंसे गूँज रहा था। उसमें कहीं कोकिलोंकी कुहू-कुहू सुन पड़ती थी तो कहीं झींगुरोंकी झीनी झनकार गूँज रही थी ॥ ५ ॥

प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम्।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥ ६ ॥

वहाँ सब ओर बड़ी-बड़ी शाखाओंवाले विशाल वृक्ष अपनी सुखद शीतल छाया किये हुए थे और उन वृक्षोंके नीचे सब ओर भ्रमर मँडरा रहे थे। इस प्रकार वहाँ सर्वत्र बड़ी भारी शोभा छा रही थी ॥ ६ ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी।
षट्पदैर्नाप्यपाकीर्णस्तस्मिन् वै काननेऽभवत् ॥ ७ ॥

उस वनमें एक भी वृक्ष ऐसा नहीं था, जिसमें फूल और फल न लगे हों तथा भौंरे न बैठे हों। काँटेदार वृक्ष तो वहाँ ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता था ॥ ७ ॥

विहगैर्नादितं पुष्पैरलंकृतमतीव च।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥ ८ ॥

सब ओर अनेकानेक पक्षी चहक रहे थे। भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी अत्यन्त शोभा बढ़ा रहे थे। सभी ऋतुओंमें फूल देनेवाले सुखद छायायुक्त वृक्ष वहाँ चारों ओर फैले हुए थे ॥ ८ ॥

मनोरमं महेष्वासो विवेश वनमुत्तमम्।
मारुताकलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशाखिनः ॥ ९ ॥
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः।
दिवःस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ॥ १० ॥

महान् धनुर्धर राजा दुष्यन्तने इस प्रकार मनको मोह लेनेवाले उस उत्तम वनमें प्रवेश किया। उस समय फूलोंसे भरी हुई डालियोंवाले वृक्ष वायुके झकोरोंसे हिल-हिलकर उनके ऊपर बार-बार अद्भुत पुष्प-वर्षा करने लगे। वे वृक्ष इतने

ऊँचे थे, मानो आकाशको छू लेंगे। उनपर बैठे हुए मीठी बोली बोलनेवाले पक्षियोंके मधुर शब्द वहाँ गूँज रहे थे ॥ ९-१० ॥

विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ।
तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ॥ ११ ॥
रुवन्ति रावान् मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान् ॥ १२ ॥
लतागृहपरिक्षिप्तान् मनसः प्रीतिवर्धनान् ।
सम्पश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ १३ ॥

उस वनमें पुष्परूपी विचित्र वस्त्र धारण करनेवाले वृक्ष अद्भुत शोभा पा रहे थे। फूलोंके भारसे झुके हुए उनके कोमल पल्लवोंपर बैठे हुए मधुलोभी भ्रमर मधुर गुंजार कर रहे थे। राजा दुष्यन्तने वहाँ बहुत-से ऐसे रमणीय प्रदेश देखे जो फूलोंके ढेरसे सुशोभित तथा लतामण्डपोंसे अलंकृत थे। मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले उन मनोहर प्रदेशोंका अवलोकन करके उस समय महातेजस्वी राजाको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ११-१३ ॥

परस्पराश्लिष्टशाखैः पादपैः कुसुमान्वितैः ।
अशोभत वनं तत् तु महेन्द्रध्वजसंनिभैः ॥ १४ ॥

फूलोंसे लदे हुए वृक्ष एक दूसरेसे अपनी डालियोंको सटाकर मानो गले मिल रहे थे। वे गगनचुम्बी वृक्ष इन्द्रकी ध्वजाके समान जान पड़ते थे और उनके कारण उस वनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १४ ॥

सिद्धचारणसंघैश्च गन्धर्वाप्सरसां गणैः ।
सेवितं वनमत्यर्थं मत्तवानरकिन्नरम् ॥ १५ ॥

सिद्ध-चारणसमुदाय तथा गन्धर्व और अप्सराओंके समूह भी उस वनका अत्यन्त सेवन करते थे। वहाँ मतवाले वानर और किन्नर निवास करते थे ॥ १५ ॥

सुखः शीतः सुगन्धी च पुष्परेणुवहोऽनिलः ।
परिक्रामन् वने वृक्षानुपैतीव रिरंसया ॥ १६ ॥

उस वनमें शीतल, सुगन्ध, सुखदायिनी मन्द वायु फूलोंके पराग वहन करती हुई मानो रमणकी इच्छासे बार-बार वृक्षोंके समीप आती थी ॥ १६ ॥

एवंगुणसमायुक्तं ददर्श स वनं नृपः ।
नदीकच्छोद्भवं कान्तमुच्छ्रितध्वजसंनिभम् ॥ १७ ॥

वह वन मालिनी नदीके कछारमें फैला हुआ था और ऊँची ध्वजाओंके समान ऊँचे वृक्षोंसे भरा होनेके कारण अत्यन्त मनोहर जान पड़ता था। राजाने इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त उस वनका भलीभाँति अवलोकन किया ॥ १७ ॥

प्रेक्षमाणो वनं तत् तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार राजा अभी वनकी शोभा देख ही रहे थे कि उनकी दृष्टि एक उत्तम आश्रमपर पड़ी, जो अत्यन्त रमणीय और मनोरम था। वहाँ बहुत-से पक्षी हर्षोल्लासमें भरकर चहक रहे थे ॥ १८ ॥

नानावृक्षसमाकीर्णं सम्प्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ॥ १९ ॥

नाना प्रकारके वृक्षोंसे भर-पूर उस वनमें स्थान-स्थानपर अग्निहोत्रकी आग प्रज्वलित हो रही थी। इस प्रकार उस अनुपम आश्रमका श्रीमान् दुष्यन्त नरेशने मन-ही-मन बड़ा सम्मान किया ॥ १९ ॥

यतिभिर्वालखिल्यैश्च वृतं मुनिगणान्वितम् ।
अग्न्यगारैश्च बहुभिः पुष्पसंस्तरसंस्तृतम् ॥ २० ॥

वहाँ बहुत-से त्यागी-विरागी यति, वालखिल्य ऋषि तथा अन्य मुनिगण निवास करते थे। अनेकानेक अग्निहोत्र-गृह उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँ इतने फूल झड़कर गिरे थे कि उनके बिछौने-से बिछ गये थे ॥ २० ॥

महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।
मालिनीमभितो राजन् नदीं पुण्यां सुखोदकाम् ॥ २१ ॥

बड़े-बड़े तूनके वृक्षोंसे उस आश्रमकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी। राजन्! बीचमें पुण्यसलिला मालिनी नदी बहती थी, जिसका जल बड़ा ही सुखद एवं स्वादिष्ट था। उसके दोनों तटोंपर वह आश्रम फैला हुआ था ॥ २१ ॥

नैकपक्षिगणाकीर्णां तपोवनमनोरमाम् ।
तत्र व्यालमृगान् सौम्यान् पश्यन् प्रीतिमवाप सः ॥ २२ ॥

मालिनीमें अनेक प्रकारके जलपक्षी निवास करते थे तथा तटवर्ती तपोवनके कारण उसकी मनोहरता और बढ़ गयी थी। वहाँ विषधर सर्प और हिंसक वनजन्तु भी सौम्यभाव (हिंसाशून्य कोमलवृत्ति) से रहते थे। यह सब देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ २२ ॥

तं चाप्रतिरथः श्रीमानाश्रमं प्रत्यपद्यत ।
देवलोकप्रतीकाशं सर्वतः सुमनोहरम् ॥ २३ ॥

श्रीमान् दुष्यन्त नरेश अप्रतिरथ वीर थे—उस समय उनकी समानता करनेवाला भूमण्डलमें दूसरा कोई रथी योद्धा नहीं था। वे उक्त आश्रमके समीप जा पहुँचे, जो देवताओंके लोक-सा प्रतीत होता था। वह आश्रम सब ओरसे अत्यन्त मनोहर था ॥ २३ ॥

नदीं चाश्रमसंश्लिष्टां पुण्यतोयां ददर्श सः ।
सर्वप्राणभृतां तत्र जननीमिव धिष्ठिताम् ॥ २४ ॥

राजाने आश्रमसे सटकर बहनेवाली पुण्यसलिला मालिनी नदीकी ओर भी दृष्टिपात किया; जो वहाँ समस्त प्राणियोंकी जननी-सी विराज रही थी ॥ २४ ॥

सचक्रवाकपुलिनां पुष्पफेनप्रवाहिनीम् ।
सकिन्नरगणावासां वानरर्क्षनिषेविताम् ॥ २५ ॥

उसके तटपर चकवा-चकई किलोल कर रहे थे। नदीके जलमें बहुत-से फूल इस प्रकार बह रहे थे, मानो फेन हों। उसके तटप्रान्तमें किन्नरोंके निवास-स्थान थे। वानर और रीछ भी उस नदीका सेवन करते थे ॥ २५ ॥

पुण्यस्वाध्यायसंघुष्टां पुलिनैरुपशोभिताम् ।
मत्तवारणशार्दूलभुजगेन्द्रनिषेविताम् ॥२६॥

अनेक सुन्दर पुलिन मालिनीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वेद-शास्त्रोंके पवित्र स्वाध्यायकी ध्वनिसे उस सरिताका निकटवर्ती प्रदेश गूँज रहा था। मतवाले हाथी, सिंह और बड़े-बड़े सर्प भी मालिनीके तटका आश्रय लेकर रहते थे ॥ २६ ॥

तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥२७॥

उसके तटपर ही कश्यपगोत्रीय महात्मा कण्वका वह उत्तम एवं रमणीय आश्रम था। वहाँ महर्षियोंके समुदाय निवास करते थे ॥ २७ ॥

नदीमाश्रमसम्बद्धां दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥२८॥

उस मनोहर आश्रम और आश्रमसे सटी हुई नदीको देखकर राजाने उस समय उसमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥

अलंकृतं द्वीपवत्या मालिन्या रम्यतीरया ।
नरनारायणस्थानं गङ्गयेवोपशोभितम् ॥२९॥

टापुओंसे युक्त तथा सुरम्य तटवाली मालिनी नदीसे सुशोभित वह आश्रम गङ्गा नदीसे शोभायमान भगवान् नर-नारायणके आश्रम-सा जान पड़ता था ॥ २९ ॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टं प्रविवेश महद् वनम् ।
तत् स चैत्ररथप्रख्यं समुपेत्य नरर्षभः ॥३०॥
अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥३१॥
ध्वजिनीमश्वसम्बाधां पदातिगजसंकुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥३२॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अत्यन्त उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कश्यपगोत्रीय महर्षि तपोधन कण्वका, जिनके तेजका वाणी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता था, दर्शन करनेके लिये कुबेरके चैत्ररथवनके समान मनोहर उस महान् वनमें प्रवेश किया, जहाँ मतवाले मयूर अपनी केकाध्वनि फैला रहे थे। वहाँ पहुँचकर नरेशने रथ, घोड़े, हाथी और पैदलोंसे भरी हुई अपनी चतुरङ्गिणी सेनाको उस तपोवनके किनारे ठहरा दिया और कहा—॥ ३०–३२ ॥

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥३३॥

'सेनापति' और सैनिको! मैं रजोगुणरहित तपस्वी महर्षि कश्यपनन्दन कण्वका दर्शन करनेके लिये उनके आश्रममें जाऊँगा। जबतक मैं वहाँसे लौट न आऊँ, तबतक तुमलोग यहीं ठहरो' ॥ ३३ ॥

तद् वनं नन्दनप्रख्यमासाद्य मनुजेश्वरः ।
क्षुत्पिपासे जहौ राजा मुदं चावाप पुष्कलाम् ॥३४॥

इस प्रकार आदेश दे नरेश्वर दुष्यन्तने नन्दनवनके समान सुशोभित उस तपोवनमें पहुँचकर भूख-प्यासको भुला दिया। वहाँ उन्हें बड़ा आनन्द मिला ॥ ३४ ॥

सामात्यो राजलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ॥३५॥

वे नरेश मुकुट आदि राजचिह्नोंको हटाकर साधारण वेष-भूषामें मन्त्रियों और पुरोहितोंके साथ उस उत्तम आश्रमके भीतर गये ॥ ३५ ॥

दिदृक्षुस्तत्र तमृषिं तपोराशिमथाव्ययम् ।
ब्रह्मलोकप्रतीकाशमाश्रमं सोऽभिवीक्ष्य ह ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥३६॥

वहाँ वे तपस्याके भण्डार अविकारी महर्षि कण्वका दर्शन करना चाहते थे। राजाने उस आश्रमको देखा, मानो दूसरा ब्रह्मलोक हो! नाना प्रकारके पक्षी वहाँ कलरव कर रहे थे। भ्रमरोंके गुञ्जनसे सारा आश्रम गूँज रहा था ॥ ३६ ॥

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥३७॥

श्रेष्ठ ऋग्वेदी ब्राह्मण पद और क्रमपूर्वक ऋचाओंका पाठ कर रहे थे। नरश्रेष्ठ दुष्यन्तने अनेक प्रकारके यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें पढ़ी जाती हुई वैदिक ऋचाओंको सुना ॥ ३७ ॥

यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम् ।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥३८॥
भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः ।
यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः ॥३९॥

यज्ञविद्या और उसके अङ्गोंकी जानकारी रखनेवाले यजुर्वेदी विद्वान् भी आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले सामवेदी महर्षियोंद्वारा वहाँ मधुर स्वरसे सामवेदका गान किया जा रहा था। मनको संयम-में रखकर नियमपूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सामवेदी और अथर्ववेदी महर्षि भारुण्डसंज्ञक साममन्त्रोंके गीत गाते और अथर्ववेदके मन्त्रोंका उच्चारण करते थे; जिससे उस आश्रमकी बड़ी शोभा होती थी ॥ ३८-३९ ॥

अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः ।
संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते ॥४०॥

श्रेष्ठ अथर्ववेदीय विद्वान् तथा पूगयज्ञिय नामक सामके गायक सामवेदी महर्षि पद और क्रमसहित अपनी-अपनी संहिताका पाठ करते थे ॥ ४० ॥

शब्दसंस्कारसंयुक्तैर्ब्रुवद्भिश्चापरैर्द्विजैः ।
नादितः स बभौ श्रीमान् ब्रह्मलोक इवापरः ॥ ४१ ॥

दूसरे द्विजबालक शब्द-संस्कारसे सम्पन्न थे—वे स्थान, करण और प्रयत्नका ध्यान रखते हुए संस्कृतवाक्योंका उच्चारण कर रहे थे। इन सबके तुमुल शब्दोंसे गूँजता हुआ वह सुन्दर आश्रम द्वितीय ब्रह्मलोकके समान सुशोभित होता था ॥४१॥

यज्ञसंस्तरविद्भिश्च क्रमशिक्षाविशारदैः ।
न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसम्पन्नैर्वेदपारगैः ॥ ४२ ॥
नानावाक्यसमाहारसमवायविशारदैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥ ४३ ॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥ ४४ ॥
द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
पक्षिवानररुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥ ४५ ॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥ ४६ ॥

यज्ञवेदीकी रचनाके ज्ञाता, क्रम और शिक्षामें कुशल, न्यायके तत्त्व और आत्मानुभवसे सम्पन्न, वेदोंके पारङ्गत, परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक वाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें कुशल तथा विभिन्न शाखाओंकी गुणविधियोंका एक शाखामें उपसंहार करनेकी कलामें निपुण, उपासना आदि विशेषकार्योंके ज्ञाता, मोक्षधर्ममें तत्पर अपने सिद्धान्तकी स्थापना करके उसमें शङ्का उठाकर उसके परिहारपूर्वक उस सिद्धान्तके समर्थनमें परम प्रवीण, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा शिक्षा और कल्प—वेदके इन छहों अङ्गोंके विद्वान्, पदार्थ, शुभाशुभ कर्म, सत्त्व, रज, तम आदि गुणों-को जाननेवाले तथा कार्य (दृश्यवर्ग) और कारण (मूल प्रकृति) के ज्ञाता, पशु-पक्षियोंकी बोली समझनेवाले, व्यासग्रन्थका आश्रय लेकर मन्त्रोंकी व्याख्या करनेवाले तथा विभिन्न शास्त्रोंके प्रमुख विद्वान् वहाँ रहकर जो शब्दोच्चारण कर रहे थे, उन सबको राजा दुष्यन्तने सुना। कुछ लोक-रञ्जन करनेवाले लोगोंकी बातें भी उस आश्रममें चारों ओर सुनायी पड़ती थीं ॥ ४२–४६ ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान् नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ॥ ४७ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले दुष्यन्तने स्थान-स्थानपर नियमपूर्वक उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् ब्राह्मणोंको जप और होममें लगे हुए देखा ॥

आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।
प्रयत्नोपहितानि स दृष्ट्वा विस्मयमागमत् ॥ ४८ ॥

वहाँ प्रयत्नपूर्वक तैयार किये हुए बहुत सुन्दर एवं विचित्र आसन देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥४८॥

देवतायतनानां च प्रेक्ष्य पूजां कृतां द्विजैः ।
ब्रह्मलोकस्थमात्मानं मेने स नृपसत्तमः ॥ ४९ ॥

द्विजोंद्वारा की हुई देवालयोंकी पूजा-पद्धति देखकर नृप-श्रेष्ठ दुष्यन्तने ऐसा समझा कि मैं ब्रह्मलोकमें आ पहुँचा हूँ ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोवनगुणैर्युतम् ॥ ५० ॥

वह श्रेष्ठ एवं शुभ आश्रम कश्यपनन्दन महर्षि कण्वकी तपस्यासे सुरक्षित तथा तपोवनके उत्तम गुणोंसे संयुक्त था। राजा उसे देखकर तृप्त नहीं होते थे ॥ ५० ॥

स काश्यपस्यायतनं महाव्रतै-
र्वृतं समन्तादृषिभिस्तपोधनैः ।
विवेश सामात्यपुरोहितोऽरिहा
विविक्तमत्यर्थमनोहरं शुभम् ॥ ५१ ॥

महर्षि कण्वका वह आश्रम, जिसमें वे स्वयं रहते थे, सब ओरसे महान् व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी महर्षियों-द्वारा घिरा हुआ था। वह अत्यन्त मनोहर, मङ्गलमय और एकान्त स्थान था। शत्रुनाशक राजा दुष्यन्तने मन्त्री और पुरोहितके साथ उसकी सीमामें प्रवेश किया ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

राजा दुष्यन्तका शकुन्तलाके साथ वार्तालाप, शकुन्तलाके द्वारा अपने जन्मका कारण बतलाना तथा उसी प्रसंगमें विश्वामित्रकी तपस्यासे इन्द्रका चिन्तित होकर मेनकाको मुनिका तपोभङ्ग करनेके लिये भेजना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽगच्छन्महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर महाबाहु राजा दुष्यन्त साथ आये हुए अपने उन मन्त्रियोंको भी बाहर छोड़कर अकेले ही उस आश्रममें गये, किंतु वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि नहीं दिखायी दिये ॥१॥

सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाऽऽश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं संनादयन्निव ॥ २ ॥

महर्षि कण्वको न देखकर और आश्रमको सूना पाकर

राजाने सम्पूर्ण वनको प्रतिध्वनित करते हुए-से पूछा—'यहाँ कौन है ?' ॥ २ ॥

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाश्रमात् तस्मात् तापसीवेषधारिणी ॥ ३ ॥

दुष्यन्तके उस शब्दको सुनकर एक मूर्तिमती लक्ष्मी-सी सुन्दरी कन्या तापसीका वेष धारण किये आश्रमके भीतर-से निकली ॥ ३ ॥

सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमसितेक्षणा ।
(सुव्रताभ्यागतं तं तु पूज्यं प्राप्तमथेश्वरम् ।
रूपयौवनसम्पन्ना शीलाचारवती शुभा ।
सा तमायतपद्माक्षं व्यूढोरस्कं सुसंहतम् ॥
सिंहस्कन्धं दीर्घबाहुं सर्वलक्षणपूजितम् ।
विस्पष्टं मधुरां वाचं साब्रवीज्जनमेजय ।)
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥ ४ ॥

जनमेजय ! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली वह सुन्दरी कन्या रूप, यौवन, शील और सदाचारसे सम्पन्न थी । राजा दुष्यन्तके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित थे । उनकी छाती चौड़ी, शरीरकी गठन सुन्दर, कंधे सिंहके सदृश और भुजाएँ लंबी थीं । वे समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे । श्याम नेत्रोंवाली उस शुभलक्षणा कन्याने सम्मान्य राजा दुष्यन्तको देखते ही मधुर वाणीमें उनके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित करते हुए शीघ्रतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'अतिथिदेव ! आपका स्वागत है' ॥ ४ ॥

आसनेनार्चयित्वा च पाद्येनार्घ्येण चैव हि ।
पप्रच्छानामयं राजन् कुशलं च नराधिपम् ॥ ५ ॥

महाराज ! फिर आसन, पाद्य और अर्घ्य अर्पण करके उनका समादर करनेके पश्चात् उसने राजासे पूछा—'आपका शरीर नीरोग है न ? घरपर कुशल तो है ?' ॥ ५ ॥

यथावदर्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥ ६ ॥

उस समय विधिपूर्वक आदर-सत्कार करके आरोग्य और कुशल पूछकर वह तपस्विनी कन्या मुसकराती हुई-सी बोली—'कहिये आपकी क्या सेवा की जाय ?' ॥ ६ ॥

(आश्रमस्याभिगमने किं त्वं कार्यं चिकीर्षसि ।
कस्त्वमद्येह सम्प्राप्तो महर्षेराश्रमं शुभम् ॥)

'आपके आश्रमकी ओर पधारनेका क्या कारण है ? आप यहाँ कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ? आपका परिचय क्या है ? आप कौन हैं ? और आज यहाँ महर्षिके इस शुभ आश्रमपर (किस उद्देश्यसे) आये हैं ?'

तामब्रवीत् ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत् प्रतिपूजितः ॥ ७ ॥

उसके द्वारा विधिवत् किये हुए आतिथ्य-सत्कारको ग्रहण करके राजाने उस सर्वाङ्गसुन्दरी एवं मधुरभाषिणी कन्याकी ओर देखकर कहा ॥ ७ ॥

(दुष्यन्त उवाच

राजर्षेरस्मि पुत्रोऽहमिलिलस्य महात्मनः ।
दुष्यन्त इति मे नाम सत्यं पुष्करलोचने ॥)
आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥८॥

दुष्यन्त बोले—कमललोचने ! मैं राजर्षि महात्मा इलिल* का पुत्र हूँ और मेरा नाम दुष्यन्त है । मैं यह सत्य कहता हूँ । भद्रे ! मैं परम भाग्यशाली महर्षि कण्वकी उपासना करने—उनके सत्सङ्गका लाभ लेनेके लिये आया हूँ । शोभने ! बताओ तो, भगवान् कण्व कहाँ गये हैं ? ॥ ८ ॥

शकुन्तलोवाच

गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥ ९ ॥

शकुन्तला बोली—अभ्यागत ! मेरे पूज्य पिताजी फल लानेके लिये आश्रमसे बाहर गये हैं । अतः दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये । लौटनेपर उनसे मिलियेगा ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥ १० ॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा दुष्यन्तने देखा—महर्षि कण्व आश्रमपर नहीं हैं और वह तापसी कन्या उन्हें वहाँ ठहरनेके लिये कह रही है; साथ ही उनकी दृष्टि इस बातकी ओर भी गयी कि यह कन्या सर्वाङ्गसुन्दरी, अपूर्व शोभासे संपन्न तथा मनोहर मुसकानसे सुशोभित है । इसका शरीर सौन्दर्यकी प्रभासे प्रकाशित हो रहा है, तपस्या तथा मन-इन्द्रियोंके संयमने इसमें अपूर्व तेज भर दिया है । यह अनुपम रूप और नयी जवानीसे उद्भासित हो रही है, यह सब सोचकर राजाने पूछा—॥ १०-११ ॥

का त्वं कस्यासि सुश्रोणि किमर्थं चागता वनम् ।
एवंरूपगुणोपेता कुतस्त्वमसि शोभने ॥ १२ ॥

'मनोहर कटिप्रदेशसे सुशोभित सुन्दरी ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और किसलिये इस वनमें आयी हो ? शोभने ! तुममें ऐसे अद्भुत रूप और गुणोंका विकास कैसे हुआ है ? ॥

दर्शनादेव हि शुभे त्वया मेऽपहृतं मनः ।
इच्छामि त्वामहं ज्ञातुं तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥ १३ ॥

'शुभे ! तुमने दर्शनमात्रसे मेरे मनको हर लिया है ।

* दुष्यन्तके पिताके 'इलिल' और 'ईलिन' दोनों ही नाम मिलते हैं ।

कल्याणि ! मैं तुम्हारा परिचय जानना चाहता हूँ, अतः मुझे सब कुछ ठीक-ठीक बताओ ॥ १३ ॥

(शृणु मे नागनासोरु वचनं मत्तकाशिनि ॥
राजर्षेरन्वये जातः पूरोरस्मि विशेषतः ।
वृणे त्वामद्य सुश्रोणि दुष्यन्तो वरवर्णिनि ॥
न मेऽन्यत्र क्षत्रियायां मनो जातु प्रवर्तते ।
ऋषिपुत्रीषु चान्यासु नावर्णासु परासु वा ॥
तस्मात् प्रणिहितात्मानं विद्धि मां कलभाषिणि ।
तस्य मे त्वयि भावोऽस्ति क्षत्रिया ह्यसि का वद ॥
न हि मे भीरु विप्रायां मनः प्रसहते गतिम् ।
भजे त्वामायतापाङ्गि भक्तं भजितुमर्हसि ॥
भुङ्क्ष्व राज्यं विशालाक्षि बुद्धिं मा त्वन्यथा कृथाः।)

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघोंवाली मतवाली सुन्दरी ! मेरी बात सुनो; मैं राजर्षि पूरुके वंशमें उत्पन्न राजा दुष्यन्त हूँ। आज मैं अपनी पत्नी बनानेके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ। क्षत्रिय-कन्याके सिवा दूसरी किसी स्त्रीकी ओर मेरा मन कभी नहीं जाता । अन्यान्य ऋषिपुत्रियों, अपनेसे भिन्न वर्णकी कुमारियों तथा परायी स्त्रियोंकी ओर भी मेरे मनकी गति नहीं होती । मधुरभाषिणि ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि मैं अपने मनको पूर्णतः संयममें रखता हूँ । ऐसा होनेपर भी तुमपर मेरा अनुराग हो रहा है, अतः तुम क्षत्रिय-कन्या ही हो । बताओ, तुम कौन हो ? भीरु ! ब्राह्मण-कन्याकी ओर आकृष्ट होना मेरे मनको कदापि सह्य नहीं है । विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ; तुम्हारी सेवा चाहता हूँ; तुम मुझे स्वीकार करो । विशाललोचने ! मेरा राज्य भोगो। मेरे प्रति अन्यथा विचार न करो, मुझे पराया न समझो' ॥

एवमुक्ता तु सा कन्या तेन राज्ञा तमाश्रमे ।
उवाच हसती वाक्यमिदं सुमधुराक्षरम् ॥१४॥

उस आश्रममें राजाके इस प्रकार पूछनेपर वह कन्या हँसती हुई मिठासभरे वचनोंमें उनसे इस प्रकार बोली—॥ १४ ॥

कण्वस्याहं भगवतो दुष्यन्त दुहिता मता ।
तपस्विनो धृतिमतो धर्मज्ञस्य महात्मनः ॥१५॥

'महाराज दुष्यन्त ! मैं तपस्वी, धृतिमान्, धर्मज्ञ तथा महात्मा भगवान् कण्वकी पुत्री मानी जाती हूँ ॥ १५ ॥

(अस्वतन्त्रास्मि राजेन्द्र काश्यपो मे गुरुः पिता ।
तमेव प्रार्थय स्वार्थं नायुक्तं कर्तुमर्हसि ॥)

'राजेन्द्र ! मैं परतन्त्र हूँ । कश्यपनन्दन महर्षि कण्व मेरे गुरु और पिता हैं । उन्हींसे आप अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रार्थना करें। आपको अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये'॥

दुष्यन्त उवाच

ऊर्ध्वरेता महाभागे भगवाँल्लोकपूजितः ।
चलेद्धि वृत्ताद् धर्मोऽपि न चलेत् संशितव्रतः ॥१६॥

दुष्यन्त बोले—महाभागे ! विश्ववन्द्य कण्व तो नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं । वे बड़े कठोर व्रतका पालन करते हैं । साक्षात् धर्मराज भी अपने सदाचारसे विचलित हो सकते हैं, परंतु महर्षि कण्व नहीं ॥ १६ ॥

कथं त्वं तस्य दुहिता सम्भूता वरवर्णिनी ।
संशयो मे महानत्र तन्मे छेत्तुमिहार्हसि ॥१७॥

ऐसी दशामें तुम-जैसी सुन्दरी देवी उनकी पुत्री कैसे हो सकती है ? इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो रहा है । मेरे इस संदेहका निवारण तुम्हीं कर सकती हो ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

यथायमागमो मह्यं यथा चेदमभूत् पुरा ।
शृणु राजन् यथातत्त्वं यथास्मि दुहिता मुनेः ॥१८॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! ये सब बातें मुझे जिस प्रकार ज्ञात हुई हैं, मेरा यह जन्म आदि पूर्वकालमें जिस प्रकार हुआ है और मैं जिस प्रकार कण्व मुनिकी पुत्री हूँ, वह सब वृत्तान्त ठीक-ठीक बता रही हूँ; सुनिये ॥ १८ ॥

(अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते ।
स पापेनावृतो मूर्खः स्तेन आत्मापहारकः ॥)

जिसका स्वरूप तो अन्य प्रकारका है, किंतु जो सत्पुरुषोंके सामने उसका अन्य प्रकारसे ही परिचय देता है, अर्थात् जो पापात्मा होते हुए भी अपनेको धर्मात्मा कहता है, वह मूर्ख, पापसे आवृत, चोर एवं आत्मवञ्चक है ॥

ऋषिः कश्चिदिहागम्य मम जन्माभ्यचोदयत् ।
(ऊर्ध्वरेता यथासि त्वं कुतस्त्येयं शकुन्तला ।
पुत्री त्वत्तः कथं जाता सत्यं मे ब्रूहि काश्यप ॥)
तस्मै प्रोवाच भगवान् यथा तच्छृणु पार्थिव ॥१९॥

पृथ्वीपते ! एक दिन किसी ऋषिने यहाँ आकर मेरे जन्मके सम्बन्धमें मुनिसे पूछा—'कश्यपनन्दन ! आप तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हैं, फिर यह शकुन्तला कहाँसे आयी ? आपसे पुत्रीका जन्म कैसे हुआ ? यह मुझे सच-सच बताइये।' उस समय भगवान् कण्वने उससे जो बात बतायी, वही कहती हूँ, सुनिये ॥ १९ ॥

कण्व उवाच

तप्यमानः किल पुरा विश्वामित्रो महत् तपः ।
सुभृशं तापयामास शक्रं सुरगणेश्वरम् ॥२०॥

कण्व बोले—पहलेकी बात है, महर्षि विश्वामित्र बड़ी भारी तपस्या कर रहे थे । उन्होंने देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपनी तपस्यासे अत्यन्त संतापमें डाल दिया ॥ २० ॥

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति ।
भीतः पुरंदरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत् ॥२१॥

इन्द्रको यह भय हो गया कि तपस्यासे अधिक शक्ति-

शाली होकर ये विश्वामित्र मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देंगे, अतः उन्होंने मेनकासे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

गुणैरप्सरसां दिव्यैर्मेनके त्वं विशिष्यसे ।
श्रेयो मे कुरु कल्याणि यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥२२॥
असावादित्यसंकाशो विश्वामित्रो महातपाः ।
तप्यमानस्तपो घोरं मम कम्पयते मनः ॥२३॥

'मेनके ! अप्सराओंके जो दिव्य गुण हैं, वे तुममें सबसे अधिक हैं । कल्याणि ! तुम मेरा भला करो और मैं तुमसे जो बात कहता हूँ, सुनो । वे सूर्यके समान तेजस्वी, महातपस्वी विश्वामित्र घोर तपस्यामें संलग्न हो मेरे मनको कम्पित कर रहे हैं ॥ २२-२३ ॥

मेनके तव भारोऽयं विश्वामित्रः सुमध्यमे ।
शंसितात्मा सुदुर्धर्ष उग्रे तपसि वर्तते ॥२४॥

'सुन्दरी मेनके ! उन्हें तपस्यासे विचलित करनेका यह महान् भार मैं तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ । विश्वामित्रका अन्तःकरण शुद्ध है । उन्हें पराजित करना अत्यन्त कठिन है और वे इस समय घोर तपस्यामें लगे हैं ॥ २४ ॥

स मां न च्यावयेत् स्थानात् तं वै गत्वा प्रलोभय ।
चर तस्य तपोविघ्नं कुरु मेऽविघ्नमुत्तमम् ॥२५॥

'अतः ऐसा करो, जिससे वे मुझे अपने स्थानसे भ्रष्ट न कर सकें । तुम उनके पास जाकर उन्हें लुभाओ, उनकी तपस्यामें विघ्न डाल दो और इस प्रकार मेरे विघ्नके निवारणका उत्तम साधन प्रस्तुत करो ॥ २५ ॥

रूपयौवनमाधुर्यचेष्टितस्मितभाषणैः ।
लोभयित्वा वरारोहे तपसस्तं निवर्तय ॥२६॥

'वरारोहे ! अपने रूप, जवानी, मधुर स्वभाव, हाव-भाव, मन्द मुसकान और सरस वार्तालाप आदिके द्वारा मुनिको लुभाकर उन्हें तपस्यासे निवृत्त कर दो' ॥ २६ ॥

मेनकोवाच

महातेजाः स भगवांस्तथैव च महातपाः ।
कोपनश्च तथा ह्येनं जानाति भगवानपि ॥२७॥

मेनका बोली—देवराज ! भगवान् विश्वामित्र बड़े भारी तेजस्वी और महान् तपस्वी हैं । वे क्रोधी भी बहुत हैं । उनके इस स्वभावको आप भी जानते हैं ॥ २७ ॥

तेजसस्तपसश्चैव कोपस्य च महात्मनः ।
त्वमप्युद्विजसे यस्य नोद्विजेयमहं कथम् ॥२८॥

जिन महात्माके तेज, तप और क्रोधसे आप भी उद्विग्न हो उठते हैं, उनसे मैं कैसे नहीं डरूँगी ॥२८ ॥

महाभागं वसिष्ठं यः पुत्रैरिष्टैर्व्ययोजयत् ।
क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात् ॥२९॥
शौचार्थं यो नदीं चक्रे दुर्गमां बहुभिर्जलैः ।
यां तां पुण्यतमां लोके कौशिकीति विदुर्जनाः ॥३०॥

विश्वामित्र ऋषि वे ही हैं, जिन्होंने महाभाग महर्षि वसिष्ठका उनके प्यारे पुत्रोंसे सदाके लिये वियोग करा दिया, जो पहले क्षत्रियकुलमें उत्पन्न होकर भी तपस्याके बलसे ब्राह्मण बन गये, जिन्होंने अपने शौच-स्नानकी सुविधाके लिये अगाध जलसे भरी हुई उस दुर्गम नदीका निर्माण किया, जिसे लोकमें सब मनुष्य अत्यन्त पुण्यमयी कौशिकी नदीके नामसे जानते हैं ॥ २९-३० ॥

बभार यत्रास्य पुरा काले दुर्गे महात्मनः ।
दारान्मतङ्गो धर्मात्मा राजर्षिर्व्याधतां गतः ॥३१॥

विश्वामित्र महर्षि वे ही हैं, जिनकी पत्नीका पूर्वकालमें संकटके समय शापवश व्याध बने हुए धर्मात्मा राजर्षि मतङ्गने भरण-पोषण किया था ॥ ३१ ॥

अतीतकाले दुर्भिक्षे अभ्येत्य पुनराश्रमम् ।
मुनिः पारेति नद्या वै नाम चक्रे तदा प्रभुः ॥३२॥

दुर्भिक्ष बीत जानेपर उन शक्तिशाली मुनिने पुनः आश्रमपर आकर उस नदीका नाम 'पारा' रख दिया था ॥ ३२ ॥

मतङ्गं याजयाञ्चक्रे यत्र प्रीतमनाः स्वयम् ।
त्वं च सोमं भयाद् यस्य गतः पातुं सुरेश्वर ॥३३॥

सुरेश्वर ! उन्होंने मतङ्ग मुनिके किये हुए उपकारसे प्रसन्न होकर स्वयं पुरोहित बनकर उनका यज्ञ कराया, जिसमें उनके भयसे आप भी सोमपान करनेके लिये पधारे थे ॥ ३३ ॥

चकारान्यं च लोकं वै क्रुद्धो नक्षत्रसम्पदा ।
प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः ।
गुरुशापहतस्यापि त्रिशङ्कोः शरणं ददौ ॥३४॥

उन्होंने ही कुपित होकर दूसरे लोककी सृष्टि की और नक्षत्र-सम्पत्तिसे रूठकर प्रतिश्रवण आदि नूतन नक्षत्रोंका निर्माण किया था । ये वे ही महात्मा हैं, जिन्होंने गुरुके शापसे, हीनावस्थामें पड़े हुए राजा त्रिशङ्कुको भी शरण दी थी ॥ ३४ ॥

(ब्रह्मर्षिशापं राजर्षिः कथं मोक्ष्यति कौशिकः ।
अवमत्य तदा देवैर्यज्ञाङ्गं तद् विनाशितम् ॥
अन्यानि च महातेजा यज्ञाङ्गान्यसृजत् प्रभुः ।
निनाय च तदा स्वर्गं त्रिशङ्कुं स महातपाः ॥)

उस समय यह सोचकर कि 'विश्वामित्र ब्रह्मर्षि वसिष्ठके शापको कैसे छुड़ा देंगे ?' देवताओंने उनकी अवहेलना करके त्रिशङ्कुके यज्ञकी वह सारी सामग्री नष्ट कर दी। परंतु महातेजस्वी शक्तिशाली विश्वामित्रने दूसरी यज्ञ-सामग्रियोंकी सृष्टि कर ली तथा उन महातपस्वीने त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा ही दिया॥

एतानि यस्य कर्माणि तस्याहं भृशमुद्विजे।
यथासौ न दहेत् क्रुद्धस्तथाऽऽज्ञापय मां विभो ॥३५॥

जिनके ऐसे-ऐसे अद्भुत कर्म हैं, उन महात्मासे मैं बहुत डरती हूँ। प्रभो! जिससे वे कुपित हो मुझे भस्म न कर दें, ऐसे कार्यके लिये मुझे आज्ञा दीजिये ॥ ३५ ॥

तेजसा निर्दहेल्लोकान् कम्पयेद् धरणीं पदा।
संक्षिपेच्च महामेरुं तूर्णमावर्तयेद् दिशः ॥३६॥

वे अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको भस्म कर सकते हैं, पैरके आघातसे पृथ्वीको कँपा सकते हैं, विशाल मेरुपर्वतको छोटा बना सकते हैं और सम्पूर्ण दिशाओंमें तुरंत उलट-फेर कर सकते हैं ॥ ३६ ॥

तादृशं तपसा युक्तं प्रदीप्तमिव पावकम्।
कथमस्मद्विधा नारी जितेन्द्रियमभिस्पृशेत् ॥३७॥

ऐसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, तपस्वी और जितेन्द्रिय महात्माका मुझ-जैसी नारी कैसे स्पर्श कर सकती है?॥

हुताशनमुखं दीप्तं सूर्यचन्द्राक्षितारकम्।
कालजिह्वं सुरश्रेष्ठ कथमस्मद्विधा स्पृशेत् ॥३८॥

सुरश्रेष्ठ! अग्नि जिनका मुख है, सूर्य और चन्द्रमा जिनकी आँखोंके तारे हैं और काल जिनकी जिह्वा है, उन तेजस्वी महर्षिको मेरी-जैसी स्त्री कैसे छू सकती है ॥ ३८ ॥

यमश्च सोमश्च महर्षयश्च
साध्या विश्वे वालखिल्याश्च सर्वे।
एतेऽपि यस्योद्विजन्ते प्रभावात्
तस्मात् कस्मान्मादृशी नोद्विजेत ॥३९॥

यमराज, चन्द्रमा, महर्षिगण, साध्यगण, विश्वेदेव और सम्पूर्ण वालखिल्य ऋषि—ये भी जिनके प्रभावसे उद्विग्न रहते हैं, उन विश्वामित्र मुनिसे मेरी-जैसी स्त्री कैसे नहीं डरेगी?

त्वयैवमुक्ता च कथं समीप-
मृषेर्न गच्छेयमहं सुरेन्द्र।
रक्षां तु मे चिन्तय देवराज
यथा त्वदर्थं रक्षिताहं चरेयम् ॥४०॥

सुरेन्द्र! आपके इस प्रकार वहाँ जानेका आदेश देनेपर मैं उन महर्षिके समीप कैसे नहीं जाऊँगी? किंतु देवराज! पहले मेरी रक्षाका कोई उपाय सोचिये; जिससे सुरक्षित रहकर मैं आपके कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा कर सकूँ ॥ ४० ॥

कामं तु मे मारुतस्तत्र वासः
प्रक्रीडिताया विवृणोतु देव।
भवेच्च मे मन्मथस्तत्र कार्ये
सहायभूतस्तु तव प्रसादात् ॥४१॥

देव! मैं वहाँ जाकर जब क्रीड़ामें निमग्न हो जाऊँ, उस समय वायुदेव आवश्यकता समझकर मेरा वस्त्र उड़ा दें और इस कार्यमें आपके प्रसादसे कामदेव भी मेरे सहायक हों ॥ ४१ ॥

वनाच्च वायुः सुरभिः प्रवायात्
तस्मिन् काले तमृषिं लोभयन्त्याः।
तथेत्युक्त्वा विहिते चैव तस्मि-
स्ततो ययौ साऽऽश्रमं कौशिकस्य ॥४२॥

जब मैं ऋषिको लुभाने लगूँ, उस समय वनसे सुगन्धभरी वायु चलनी चाहिये। 'तथास्तु' कहकर इन्द्रने जब इसप्रकारकी व्यवस्था कर दी, तब मेनका विश्वामित्र मुनिके आश्रमपर गयी ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

(इस अध्यायमें ४२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक और कुल ५७ श्लोक हैं)

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

मेनका-विश्वामित्र-मिलन, कन्याकी उत्पत्ति, शकुन्त पक्षियोंके द्वारा उसकी रक्षा और कण्वका उसे अपने आश्रमपर लाकर शकुन्तला नाम रखकर पालन करना

कण्व उवाच

एवमुक्तस्तया शक्रः संदिदेश सदागतिम्।
प्रातिष्ठत तदा काले मेनका वायुना सह ॥ १ ॥

(शकुन्तला दुष्यन्तसे कहती है—)महर्षि कण्वने (पूर्वोक्त ऋषिसे शेष वृत्तान्त इस प्रकार) कहा— मेनकाके ऐसा कहनेपर इन्द्रदेवने वायुको उसके साथ जानेका आदेश दिया। तब मेनका वायुदेवके साथ समयानुसार वहाँसे प्रस्थित हुई ॥ १ ॥

अथापश्यद् वरारोहा तपसा दग्धकिल्बिषम्।
विश्वामित्रं तप्यमानं मेनका भीरुराश्रमे ॥ २ ॥

वनमें पहुँचकर भीरु स्वभाववाली सुन्दरी मेनकाने एक आश्रममें विश्वामित्र मुनिको तप करते देखा। वे तपस्याद्वारा अपने समस्त पाप दग्ध कर चुके थे ॥ २ ॥

अभिवाद्य ततः सा तं प्राक्रीडदृषिसंनिधौ।
अपोवाह च वासोऽस्या मारुतः शशिसंनिभम् ॥ ३ ॥

उस समय महर्षिको प्रणाम करके वह अप्सरा उनके समीपवर्ती स्थानमें ही भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करने लगी। इतनेमें ही वायुने मेनकाका चन्द्रमाके समान उज्ज्वल वस्त्र उसके शरीरसे हटा दिया ॥ ३ ॥

सागच्छत् त्वरिता भूमिं वासस्तदभिलिप्सती।
स्मयमानेव सव्रीडं मारुतं वरवर्णिनी ॥ ४ ॥

यह देख सुन्दरी मेनका लजाकर वायुदेवको कोसती एवं मुसकराती हुई-सी वह वस्त्र लेनेकी इच्छासे तुरंत ही उस स्थानकी ओर दौड़ी गयी, जहाँ वह गिरा था ॥ ४ ॥

पश्यतस्तस्य तत्रर्षेरप्यग्निसमतेजसः।
विश्वामित्रस्ततस्तां तु विषमस्थामनिन्दिताम् ॥ ५ ॥
गृद्धां वाससि सम्भ्रान्तां मेनकां मुनिसत्तमः।
अनिर्देश्यवयोरूपामपश्यद् विवृतां तदा ॥ ६ ॥

अग्निके समान तेजस्वी महर्षि विश्वामित्रके देखते-देखते वहाँ यह घटना घटित हुई। वह अनिन्द्य सुन्दरी विषम परिस्थितिमें पड़ गयी थी और घबराकर वस्त्र लेनेकी इच्छा कर रही थी। उसका रूप-सौन्दर्य अवर्णनीय था। तरुणावस्था भी अद्भुत थी। उस सुन्दरी अप्सराको मुनिवर विश्वामित्रने वहाँ नंगी देख लिया ॥ ५-६ ॥

तस्या रूपगुणान् दृष्ट्वा स तु विप्रर्षभस्तदा।
चकार भावं संसर्गात् तया कामवशं गतः ॥ ७ ॥

उसके रूप और गुणोंको देखते ही विप्रवर विश्वामित्र कामके अधीन हो गये। सम्पर्कमें आनेके कारण मेनकामें उनका अनुराग हो गया ॥ ७ ॥

न्यमन्त्रयत चाप्येनां सा चाप्यैच्छदनिन्दिता।
तौ तत्र सुचिरं कालमुभौ व्यहरतां तदा ॥ ८ ॥
रममाणौ यथाकामं यथैकदिवसं तथा।
(कामक्रोधावजितवान् मुनिर्नित्यं क्षमान्वितः।
चिरार्जितस्य तपसः क्षयं स कृतवानृषिः ॥
तपसः संक्षयादेव मुनिर्मोहं समाविशत्।
कामरागाभिभूतस्य मुनेः पार्श्वं जगाम सा ॥)
जनयामास स मुनिर्मेनकायां शकुन्तलाम् ॥ ९ ॥
प्रस्थे हिमवतो रम्ये मालिनीमभितो नदीम्।
जातमुत्सृज्य तं गर्भं मेनका मालिनीमनु ॥ १० ॥
कृतकार्या ततस्तूर्णमगच्छच्छक्रसंसदम्।
तं वने विजने गर्भं सिंहव्याघ्रसमाकुले ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा शयानं शकुनाः समन्तात् पर्यवारयन्।
नेमां हिंस्युर्वने बालां क्रव्यादा मांसगृद्धिनः ॥ १२ ॥

उन्होंने मेनकाको अपने निकट आनेका निमन्त्रण दिया। अनिन्द्य सुन्दरी मेनका तो यह चाहती ही थी, उनसे सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये वह राजी हो गयी। तदनन्तर वे दोनों वहाँ सुदीर्घ कालतक इच्छानुसार विहार तथा रमण करते रहे। वह महान् काल उन्हें एक दिनके समान प्रतीत हुआ। काम और क्रोधपर विजय न पा सकनेवाले उन सदा क्षमाशील महर्षिने दीर्घकालसे उपार्जित की हुई तपस्याको नष्ट कर दिया। तपस्याका क्षय होनेसे मुनिके मनपर मोह छा गया। तब मेनका काम तथा रागके वशीभूत हुए मुनिके पास गयी। ब्रह्मन्! फिर मुनिने मेनकाके गर्भसे हिमालयके रमणीय शिखरपर मालिनी नदीके किनारे शकुन्तलाको जन्म दिया। मेनकाका काम पूरा हो चुका था; वह उस नवजात गर्भको मालिनीके तटपर छोड़कर तुरंत इन्द्रलोकको चली गयी। सिंह और व्याघ्रोंसे भरे हुए निर्जन वनमें उस शिशुको सोते देख शकुन्तों (पक्षियों) ने उसे सब ओरसे पाँखोंद्वारा ढक लिया; जिससे कच्चे मांस खानेवाले गीध आदि जीव वनमें इस कन्याकी हिंसा न कर सकें ॥ ८-१२ ॥

पर्यरक्षन्त तां तत्र शकुन्ता मेनकात्मजाम्।
उपस्प्रष्टुं गतश्चाहमपश्यं शयितामिमाम् ॥ १३ ॥
निर्जने विपिने रम्ये शकुन्तैः परिवारिताम्।
(मां दृष्ट्वैवान्वपद्यन्त पादयोः पतिता द्विजाः।
अब्रुवञ्छकुनाः सर्वे कलं मधुरभाषिणः ॥

इस प्रकार वहाँ शकुन्त ही मेनकाकुमारीकी रक्षा कर रहे थे। उसी समय आचमन करनेके लिये जब मैं मालिनी-तटपर गया तो देखा—यह रमणीय निर्जन वनमें पक्षियोंसे घिरी हुई सो रही है। मुझे देखते ही वे सब मधुरभाषी पक्षी मेरे पैरोंपर गिर गये और सुन्दर वाणीमें इस प्रकार कहने लगे ॥

द्विजा ऊचुः

विश्वामित्रसुतां ब्रह्मन् न्यासभूतां भरस्व वै।
कामक्रोधावजितवान् सखा ते कौशिकीं गतः ॥
तस्मात् पोषय तत्पुत्रीं दयावानिति तेऽब्रुवन्।

पक्षी बोले—ब्रह्मन्! यह विश्वामित्रकी कन्या आपके यहाँ धरोहरके रूपमें आयी है। आप इसका पालन-पोषण कीजिये। कौशिकीके तटपर गये हुए आपके सखा विश्वामित्र काम और क्रोधको नहीं जीत सके थे। आप दयालु हैं; इसलिये उनकी पुत्रीका पालन कीजिये। इस प्रकार पक्षियोंने कहा ॥

कण्व उवाच

सर्वभूतरुतज्ञोऽहं दयावान् सर्वजन्तुषु।
निर्जनेऽपि महारण्ये शकुनैः परिवारिताम् ॥)
आनयित्वा ततश्चैनां दुहितृत्वे न्यवेशयम् ॥ १४ ॥

कण्व मुनि कहते हैं—ब्रह्मन्! मैं समस्त प्राणियोंकी बोली समझता हूँ और सब जीवोंके प्रति दयाभाव रखता हूँ। अतः उस निर्जन महावनमें पक्षियोंसे घिरी हुई इस कन्याको वहाँसे लाकर मैंने इसे अपनी पुत्रीके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ १३-१४ ॥

शरीरकृत् प्राणदाता यस्य चान्नानि भुञ्जते ।
क्रमेणैते त्रयोऽप्युक्ताः पितरो धर्मशासने ॥ १५ ॥

जो गर्भाधानके द्वारा शरीरका निर्माण करता है, जो अभयदान देकर प्राणोंकी रक्षा करता है और जिसका अन्न भोजन किया जाता है, धर्मशास्त्रमें क्रमशः ये तीनों पुरुष पिता कहे गये हैं ॥ १५ ॥

निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया ॥ १६ ॥

निर्जन वनमें इसे शकुन्तोंने घेर रक्खा था, इसलिये 'शकुन्तान् लाति रक्षकत्वेन गृह्णाति' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इस कन्याका नाम मैंने 'शकुन्तला' रख दिया ॥ १६ ॥

एवं दुहितरं विद्धि मम विप्र शकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते मामनिन्दिता ॥ १७ ॥

ब्रह्मन् ! इस प्रकार शकुन्तला मेरी बेटी हुई, आप यह जान लें। प्रशंसनीय शील-स्वभाववाली शकुन्तला भी मुझे अपना पिता मानती है ॥ १७ ॥

शकुन्तलोवाच

एतदाचष्ट पृष्टः सन् मम जन्म महर्षये ।
सुतां कण्वस्य मामेवं विद्धि त्वं मनुजाधिप ॥ १८ ॥
कण्वं हि पितरं मन्ये पितरं स्वमजानती ।
इति ते कथितं राजन् यथावृत्तं श्रुतं मया ॥ १९ ॥

शकुन्तला कहती है—राजन् ! उन महर्षिके पूछनेपर पिता कण्वने मेरे जन्मका यह वृत्तान्त उन्हें बताया था। इस तरह आप मुझे कण्वकी ही पुत्री समझिये। मैं अपने जन्मदाता पिताको तो जानती नहीं, कण्वको ही पिता मानती हूँ। महाराज ! इस प्रकार जो वृत्तान्त मैंने सुन रक्खा था, वह सब आपको बता दिया ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

(इस अध्यायमें १९ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक और कुल २४½ श्लोक हैं)

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तला और दुष्यन्तका गान्धर्व विवाह और महर्षि कण्वके द्वारा उसका अनुमोदन

दुष्यन्त उवाच

सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं यथा कल्याणि भाषसे ।
भार्या मे भव सुश्रोणि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १ ॥

दुष्यन्त बोले—कल्याणि ! तुम जैसी बातें कह चुकी हो, उनसे भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि तुम क्षत्रिय-कन्या हो (क्योंकि विश्वामित्र मुनि जन्मसे तो क्षत्रिय ही हैं)। सुश्रोणि ! मेरी पत्नी बन जाओ। बोलो, मैं तुम्हारी प्रसन्नताके लिये क्या करूँ॥

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ॥ २ ॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वं राज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥ ३ ॥

सोनेके हार, सुन्दर वस्त्र, तपाये हुए सुवर्णके दो कुण्डल, विभिन्न नगरोंके बने हुए सुन्दर और चमकीले मणिरत्ननिर्मित आभूषण, स्वर्णपदक और कोमल मृगचर्म आदि वस्तुएँ तुम्हारे लिये मैं अभी लाये देता हूँ। शोभने ! अधिक क्या कहूँ, मेरा सारा राज्य आजसे तुम्हारा हो जाय, तुम मेरी महारानी बन जाओ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

भीरु ! सुन्दरि ! गान्धर्व विवाहके द्वारा मुझे अङ्गीकार करो। रम्भोरु ! विवाहोंमें गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहलाता है ॥

शकुन्तलोवाच

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥ ५ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! मेरे पिता कण्व फल लानेके लिये इस आश्रमसे बाहर गये हैं। दो घड़ी प्रतीक्षा कीजिये। वे ही मुझे आपकी सेवामें समर्पित करेंगे ॥ ५ ॥

(पिता हि मे प्रभुर्नित्यं दैवतं परमं मतम् ।
यस्य वा दास्यति पिता स मे भर्ता भविष्यति ॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रस्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥
अमन्यमाना राजेन्द्र पितरं मे तपस्विनम् ।
अधर्मेण हि धर्मिष्ठ कथं वरमुपास्महे ॥

महाराज ! पिता ही मेरे प्रभु हैं। उन्हें ही मैं सदा अपना सर्वोत्कृष्ट देवता मानती हूँ। पिताजी मुझे जिसको सौंप देंगे, वही मेरा पति होगा। कुमारावस्थामें पिता, जवानीमें पति और बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करता है। अतः स्त्रीको कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये। धर्मिष्ठ राजेन्द्र ! मैं अपने तपस्वी पिताकी अवहेलना करके अधर्मपूर्वक पतिका वरण कैसे कर सकती हूँ ?

दुष्यन्त उवाच

मा मैवं वद सुश्रोणि तपोराशिं दयात्मकम् ।

दुष्यन्त बोले--सुन्दरी ! ऐसा न कहो। तपोराशि महात्मा कण्व बड़े ही दयालु हैं।

शकुन्तलोवाच

मन्युप्रहरणा विप्रा न विप्राः शस्त्रपाणयः ॥
अग्निर्दहति तेजोभिः सूर्यो दहति रश्मिभिः ।
राजा दहति दण्डेन ब्राह्मणो मन्युना दहेत् ॥
क्रोधितो मन्युना हन्ति वज्रपाणिरिवासुरान् ।)

शकुन्तलाने कहा-राजन् ! ब्राह्मण क्रोधके द्वारा ही प्रहार करते हैं। वे हाथमें लोहेका हथियार नहीं धारण करते। अग्नि अपने तेजसे, सूर्य अपनी किरणोंसे, राजा दण्डसे और ब्राह्मण क्रोधसे दग्ध करते हैं। कुपित ब्राह्मण अपने क्रोधसे अपराधीको वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे वज्रधारी इन्द्र असुरोंको।

दुष्यन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥ ६ ॥

दुष्यन्त बोले—वरारोहे ! तुम्हारा शील और स्वभाव प्रशंसाके योग्य है। मैं चाहता हूँ, तुम मुझे स्वेच्छासे स्वीकार करो। मैं तुम्हारे लिये ही यहाँ ठहरा हूँ। मेरा मन तुममें ही लगा हुआ है ॥ ६ ॥

आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनो मित्रमात्मैव तथाऽऽत्मा चात्मनः पिता ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥ ७ ॥

आत्मा ही अपना बन्धु है। आत्मा ही अपना आश्रय है। आत्मा ही अपना मित्र है और वही अपना पिता है, अतः तुम स्वयं ही धर्मपूर्वक आत्मसमर्पण करने योग्य हो ॥ ७ ॥

अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः ।
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः ॥ ८ ॥
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमः स्मृतः ।
तेषां धर्म्यान् यथापूर्वं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ ९ ॥

धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे संक्षेपसे आठ प्रकारके ही विवाह माने गये हैं—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा आठवाँ पैशाच।* स्वायम्भुव मनुका कथन है कि इनमें बादवालोंकी अपेक्षा पहलेवाले विवाह धर्मानुकूल हैं ॥

प्रशस्तांश्चतुरः पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय ।
षडानुपूर्व्या क्षत्रस्य विद्धि धर्म्याननिन्दिते ॥ १० ॥

पूर्वकथित जो चार विवाह—ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य हैं, उन्हें ब्राह्मणके लिये उत्तम समझो। अनिन्दिते ! ब्राह्मसे लेकर गान्धर्वतक क्रमशः छः विवाह क्षत्रियके लिये धर्मानुकूल जानो ॥ १० ॥

राज्ञां तु राक्षसोऽप्युक्तो विट्शूद्रेष्वासुरः स्मृतः ।
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या अधर्म्यौ द्वौ स्मृताविह ॥ ११ ॥

राजाओंके लिये तो राक्षस विवाहका भी विधान है। वैश्यों और शूद्रोंमें आसुर विवाह ग्राह्य माना गया है। अन्तिम पाँच विवाहोंमें तीन तो धर्मसम्मत हैं और दो अधर्मरूप माने गये हैं ॥ ११ ॥

पैशाच आसुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ।
अनेन विधिना कार्यो धर्मस्यैषा गतिः स्मृता ॥ १२ ॥

पैशाच और आसुर विवाह कदापि करने योग्य नहीं हैं। इस विधिके अनुसार विवाह करना चाहिये। यह धर्मका मार्ग बताया गया है ॥ १२ ॥

गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रे धर्म्यौ तौ मा विशङ्किथाः ।
पृथग् वा यदि वा मिश्रौ कर्तव्यौ नात्र संशयः ॥ १३ ॥

गान्धर्व और राक्षस—दोनों विवाह क्षत्रियजातिके लिये धर्मानुकूल ही हैं। अतः उनके विषयमें तुम्हें संदेह नहीं करना चाहिये। वे दोनों विवाह परस्पर मिले हों या पृथक्-पृथक् हों, क्षत्रियके लिये करने योग्य ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥ १४ ॥

अतः सुन्दरी ! मैं तुम्हें पानेके लिये इच्छुक हूँ। तुम भी मुझे पानेकी इच्छा रखकर गान्धर्व विवाहके द्वारा मेरी पत्नी बन जाओ ॥ १४ ॥

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥ १५ ॥

शकुन्तलाने कहा—पौरवश्रेष्ठ ! यदि यह गान्धर्व विवाह धर्मका मार्ग है, यदि आत्मा स्वयं ही अपना दान

---

* कन्याको वस्त्र और आभूषणोंसे अलंकृत करके सजातीय योग्य वरके हाथमें देना 'ब्राह्म' विवाह कहलाता है। अपने घरपर देवयज्ञ करके यज्ञान्तमें ऋत्विजको अपनी कन्याका दान करना 'दैव' विवाह कहा गया है। वर और कन्या दोनों साथ रहकर धर्माचरण करें, इस बुद्धिसे कन्यादान करना 'प्राजापत्य' विवाह माना गया है। वरसे एक गाय और एक बैल शुल्कके रूपमें लेकर कन्यादान करना 'आर्ष' विवाह बताया गया है। वरसे मूल्यके रूपमें बहुत-सा धन लेकर कन्या देना 'आसुर' विवाह माना गया है। वर और वधू दोनों एक दूसरेको स्वेच्छासे स्वीकार कर लें, यह 'गान्धर्व' विवाह है। जब घरके लोग सोये हों अथवा असावधान हों, उस दशामें कन्याको चुरा लेना 'पैशाच' विवाह है। युद्ध करके मार-काट मचाकर रोती हुई कन्याको उसके रोते हुए भाई-बन्धुओंसे छीन लाना 'राक्षस' विवाह माना गया है।

करनेमें समर्थ है तो इसके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु प्रभो ! मेरी एक शर्त है, उसे सुन लीजिये ॥ १५ ॥

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत् त्वदनन्तरः ॥१६॥
युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥१७॥

और उसका पालन करनेके लिये मुझसे सच्ची प्रतिज्ञा कीजिये। वह शर्त क्या है, यह मैं एकान्तमें आपसे कह रही हूँ—महाराज दुष्यन्त ! मेरे गर्भसे आपके द्वारा जो पुत्र उत्पन्न हो, वही आपके बाद युवराज हो, ऐसी मेरी इच्छा है । यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ । यदि यह शर्त इसी रूपमें आपको स्वीकार हो तो आपके साथ मेरा समागम हो सकता है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुन्तलाकी यह बात सुनकर राजा दुष्यन्तने बिना कुछ सोचे-विचारे यह उत्तर दे दिया कि 'ऐसा ही होगा ।' वे शकुन्तलासे बोले—'शुचिस्मिते ! मैं शीघ्र तुम्हें अपने नगरमें ले चलूँगा ॥१८॥

यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ।
एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ॥१९॥
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ॥२०॥
प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वा नाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥२१॥

'सुश्रोणि ! तुम राजभवनमें ही रहनेयोग्य हो । मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ ।' ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलाका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया और उसके साथ एकान्तवास किया । फिर उसे विश्वास दिलाकर वहाँसे विदा हुए । जाते समय उन्होंने बार-बार कहा—'पवित्र मुसकानवाली सुन्दरी ! मैं तुम्हारे लिये चतुरङ्गिणी सेना भेजूँगा और उसीके साथ अपने राजभवनमें बुलवाऊँगा' ॥१९-२१॥

(एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां स्मितपूर्वमुदैक्षत ॥
प्रदक्षिणीकृतां देवीं राजा सम्परिषस्वजे ।
शकुन्तला ह्यश्रुमुखी पपात नृपपादयोः ॥
तां देवीं पुनरुत्थाप्य मा शुचेति पुनः पुनः ।
शपेयं सुकृतेनैव प्रापयिष्ये नृपात्मजे ॥)

अनिन्द्यगामिनी शकुन्तलासे ऐसा कहकर राजर्षि दुष्यन्तने उसे अपनी भुजाओंमें भर लिया और उसकी ओर मुसकराते हुए देखा । देवी शकुन्तला राजाकी परिक्रमा करके खड़ी थी । उस समय उन्होंने उसे हृदयसे लगा लिया। शकुन्तलाके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह नरेशके चरणोंमें गिर पड़ी । राजाने देवी शकुन्तलाको फिर उठाकर बार-बार कहा—'राजकुमारी ! चिन्ता न करो । मैं अपने पुण्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, तुम्हें अवश्य बुला लूँगा ।'

वैशम्पायन उवाच

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन् प्रायात् काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥२२॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार शकुन्तलासे प्रतिज्ञा करके नरेश्वर राजा दुष्यन्त आश्रमसे चल दिये । उनके मनमें महर्षि कण्वकी ओरसे बड़ी चिन्ता थी कि तपस्वी भगवान् कण्व यह सब सुनकर न जाने क्या कर बैठेंगे ? इस तरह चिन्ता करते हुए ही राजाने अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ २२-२३ ॥

मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥२४॥

उनके गये दो ही घड़ी बीती थी कि महर्षि कण्व भी आश्रमपर आ गये; परंतु शकुन्तला लज्जावश पहलेके समान पिताके समीप नहीं गयी ॥ २४ ॥

(शङ्कितेव च विप्रर्षिमुपचक्राम सा शनैः ।
ततोऽस्य राजञ्जग्राह आसनं चाप्यकल्पयत् ॥
शकुन्तला च सव्रीडा तमृषिं नाभ्यभाषत ।
तस्मात् स्वधर्मात् स्खलिता भीता सा भरतर्षभ ॥
अभवद् दोषदर्शित्वाद् ब्रह्मचारिण्ययन्त्रिता ।
स तदा व्रीडितां दृष्ट्वा ऋषिस्तां प्रत्यभाषत ॥

तत्पश्चात् वह डरती हुई ब्रह्मर्षिके निकट धीरे-धीरे गयी। फिर उसने उनके लिये आसन लेकर बिछाया । शकुन्तला इतनी लज्जित हो गयी थी कि महर्षिसे कोई बाततक न कर सकी । भरतश्रेष्ठ ! वह अपने धर्मसे गिर जानेके कारण भयभीत हो रही थी । जो कुछ समय पहलेतक स्वाधीन ब्रह्मचारिणी थी, वही उस समय अपना दोष देखनेके कारण घबरा गयी थी । शकुन्तलाको लज्जामें डूबी हुई देख महर्षि कण्वने उससे कहा ॥

कण्व उवाच

सव्रीडैव च दीर्घायुः पुरेव भविता न च ।
वृत्तं कथय रम्भोरु मा त्रासं च प्रकल्पय ॥

कण्व बोले—बेटी ! तू सलज्ज रहकर ही दीर्घायु होगी। अब पहले-जैसी चपल न रह सकेगी । शुभे ! सारी बातें स्पष्ट बता; भय न कर ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कृच्छ्रादतिशुभा सव्रीडा श्रीमती तदा ।
सगद्गदमुवाचेदं काश्यपं सा शुचिस्मिता ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पवित्र मुसकानवाली वह सुन्दरी अत्यन्त सदाचारिणी थी; तो भी अपने व्यवहारसे लज्जाका अनुभव करती हुई महर्षि कण्वसे बड़ी कठिनाईके साथ गद्गदकण्ठ होकर बोली ॥

शकुन्तलोवाच

राजा ताताजगामेह दुष्यन्त इलिलात्मजः ।
मया पतिर्वृतो योऽसौ दैवयोगादिहागतः ॥
तस्य तात प्रसीदस्व भर्ता मे सुमहायशाः ।
अतः सर्वं तु यद् वृत्तं दिव्यज्ञानेन पश्यसि ॥
अभयं क्षत्रियकुले प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥)

शकुन्तला बोली—तात ! इलिलकुमार महाराज दुष्यन्त इस वनमें आये थे। दैवयोगसे इस आश्रमपर भी उनका आगमन हुआ और मैंने उन्हें अपना पति स्वीकार कर लिया । पिताजी ! आप उनपर प्रसन्न हों । वे महायशस्वी नरेश अब मेरे स्वामी हैं । इसके बादका सारा वृत्तान्त आप दिव्य ज्ञानदृष्टिसे देख सकते हैं । क्षत्रियकुलको अभयदान देकर उनपर कृपादृष्टि करें ॥

विज्ञायाथ च तां कण्वो दिव्यज्ञानो महातपाः ।
उवाच भगवान् प्रीतः पश्यन् दिव्येन चक्षुषा ॥ २५ ॥

महातपस्वी भगवान् कण्व दिव्यज्ञानसे सम्पन्न थे । वे दिव्य दृष्टिसे देखकर शकुन्तलाकी तात्कालिक अवस्थाको जान गये; अतः प्रसन्न होकर बोले—॥ २५ ॥

त्वयाद्य भद्रे रहसि मामनादृत्य यः कृतः ।
पुंसा सह समायोगो न स धर्मोपघातकः ॥२६॥

'भद्रे ! आज तुमने मेरी अवहेलना करके जो एकान्तमें किसी पुरुषके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है, वह तुम्हारे धर्मका नाशक नहीं है ॥ २६ ॥

क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते ।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः ॥२७॥

'क्षत्रियके लिये गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ कहा गया है। स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरेको चाहते हों, उस दशामें उन दोनोंका एकान्तमें जो मन्त्रहीन सम्बन्ध स्थापित होता है, उसे गान्धर्व विवाह कहा गया है ॥ २७ ॥

धर्मात्मा च महात्मा च दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
अभ्यगच्छः पतिं यत् त्वं भजमानं शकुन्तले ॥ २८ ॥
महात्मा जनिता लोके पुत्रस्तव महाबलः ।
य इमां सागरापाङ्गीं कृत्स्नां भोक्ष्यति मेदिनीम् ॥ २९ ॥

'शकुन्तले ! महामना दुष्यन्त धर्मात्मा और श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे तुम्हें चाहते थे । तुमने योग्य पतिके साथ सम्बन्ध स्थापित किया है; इसलिये लोकमें तुम्हारे गर्भसे एक महाबली और महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा, जो समुद्रसे घिरी हुई इस समूची पृथ्वीका उपभोग करेगा ॥ २८-२९ ॥

परं चाभिप्रयातस्य चक्रं तस्य महात्मनः ।
भविष्यत्यप्रतिहतं सततं चक्रवर्तिनः ॥ ३० ॥

'शत्रुओंपर आक्रमण करनेवाले उस महामना चक्रवर्ती नरेशकी सेना सदा अप्रतिहत होगी । उसकी गतिको कोई रोक नहीं सकेगा' ॥३० ॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत् ।
विनिधाय ततो भारं संविधाय फलानि च ॥ ३१ ॥

तदनन्तर शकुन्तलाने उनके लाये हुए फलके भारको लेकर यथास्थान रख दिया । फिर उनके दोनों पैर धोये तथा जब वे भोजन और विश्राम कर चुके, तब वह मुनिसे इस प्रकार बोली ॥ ३१ ॥

शकुन्तलोवाच

मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै ससचिवाय त्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥

शकुन्तलाने कहा—भगवन् ! मैंने पुरुषोंमें श्रेष्ठ राजा दुष्यन्तका पतिरूपमें वरण किया है । अतः मन्त्रियोंसहित उन नरेशपर आपको कृपा करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
(ऋतवो बहवस्ते वै गता व्यर्थाः शुचिस्मिते ।
सार्थकं साम्प्रतं ह्येतन्न च पापोऽस्ति तेऽनघे ॥)
गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम् ॥ ३३ ॥

कण्व बोले—उत्तम वर्णवाली पुत्री ! मैं तुम्हारे भलेके लिये राजा दुष्यन्तपर भी प्रसन्न ही हूँ । शुचिस्मिते ! अबतक तेरे बहुत-से ऋतु व्यर्थ बीत गये हैं । इस बार यह सार्थक हुआ है । अनघे ! तुम्हें पाप नहीं लगेगा । शुभे ! तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा ।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब शकुन्तलाने दुष्यन्तके हितकी इच्छासे यह वर माँगा कि पूरुवंशी नरेश सदा धर्ममें स्थिर रहें और वे कभी राज्यसे भ्रष्ट न हों ॥ ३४ ॥

(एवमस्त्विति तां प्राह कण्वो धर्मभृतां वरः ।
पस्पर्श चापि पाणिभ्यां सुतां श्रीमिव रूपिणीम् ॥

उस समय धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कण्वने उससे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) । यह कहकर उन्होंने मूर्तिमती लक्ष्मी-सी पुत्री शकुन्तलाका दोनों हाथोंसे स्पर्श किया और कहा ॥

(कण्व उवाच
अद्यप्रभृति देवी त्वं दुष्यन्तस्य महात्मनः।
पतिव्रतानां या वृत्तिस्तां वृत्तिमनुपालय ॥)

कण्व बोले—बेटी! आजसे तू महात्मा राजा दुष्यन्तकी महारानी है। अतः पतिव्रता स्त्रियोंका जो बर्ताव तथा सदाचार है, उसका निरन्तर पालन कर ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यान-विषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(इस अध्यायमें ३४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९½ श्लोक और कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

शकुन्तलाके पुत्रका जन्म, उसकी अद्भुत शक्ति, पुत्रसहित शकुन्तलाका दुष्यन्तके यहाँ जाना, दुष्यन्त-शकुन्तला-संवाद, आकाशवाणीद्वारा शकुन्तलाकी शुद्धिका समर्थन और भरतका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच
प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम्।
(गर्भश्च ववृधे तस्यां राजपुत्र्यां महात्मनः।
शकुन्तला चिन्तयन्ती राजानं कार्यगौरवात् ॥
दिवारात्रमनिद्रैव स्नानभोजनवर्जिता ॥
राजप्रेषणिका विप्राश्चतुरङ्गबलैः सह।
अद्य श्वो वा परश्वो वा समायान्तीति निश्चिता ॥
दिवसान् पक्षानृतून् मासानयनानि च सर्वशः।
गण्यमानेषु सर्वेषु व्यतीयुस्त्रीणि भारत ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब शकुन्तलासे पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके राजा दुष्यन्त चले गये, तब क्षत्रियकन्या शकुन्तलाके उदरमें उन महात्मा दुष्यन्तके द्वारा स्थापित किया हुआ गर्भ धीरे-धीरे बढ़ने और पुष्ट होने लगा। शकुन्तला कार्यकी गुरुतापर दृष्टि रखकर निरन्तर राजा दुष्यन्तका ही चिन्तन करती रहती थी। उसे न तो दिनमें नींद आती थी और न रातमें ही। उसका स्नान और भोजन छूट गया था। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि राजाके भेजे हुए ब्राह्मण चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आज, कल या परसोंतक मुझे लेनेके लिये अवश्य आ जायँगे। भरतनन्दन! शकुन्तलाको दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा वर्ष—इन सबकी गणना करते-करते तीन वर्ष बीत गये ॥

गर्भं सुषाव वामोरूः कुमारममितौजसम् ॥ १ ॥
त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु दीप्तानलसमद्युतिम्।
रूपौदार्यगुणोपेतं दौष्यन्तिं जनमेजय ॥ २ ॥

जनमेजय! तदनन्तर पूरे तीन वर्ष व्यतीत होनेके बाद सुन्दर जाँघोंवाली शकुन्तलाने अपने गर्भसे प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी, रूप और उदारता आदि गुणोंसे सम्पन्न, अमित पराक्रमी कुमारको जन्म दिया, जो दुष्यन्तके वीर्यसे उत्पन्न हुआ था ॥ १-२ ॥

(तस्मै तदान्तरिक्षात् तु पुष्पवृष्टिः पपात ह।
देवदुन्दुभयो नेदुर्ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥
गायन्त्यो मधुरं तत्र देवैः शक्रोऽभ्युवाच ह।

उस समय आकाशसे उस बालकके लिये फूलोंकी वर्षा हुई, देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं और अप्सराएँ मधुर स्वरमें गाती हुई नृत्य करने लगीं। उस अवसरपर वहाँ देवताओं-सहित इन्द्रने आकर कहा ॥

शक्र उवाच
शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥
बलं तेजश्च रूपं च न समं भुवि केनचित्।
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरवः ॥
अनेकानि सहस्राणि राजसूयादिभिर्मखैः।
स्वार्थं ब्राह्मणसात् कृत्वा दक्षिणाममितां ददात् ॥

इन्द्र बोले—शकुन्तले! तुम्हारा यह पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। पृथ्वीपर कोई भी इसके बल, तेज तथा रूपकी समानता नहीं कर सकता। यह पूरुवंशका रत्न सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा। राजसूय आदि यज्ञोंद्वारा सहस्रों बार अपना सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन करके उन्हें अपरिमित दक्षिणा देगा॥

वैशम्पायन उवाच
देवतानां वचः श्रुत्वा कण्वाश्रमनिवासिनः।
सभाजयन्त कण्वस्य सुतां सर्वे महर्षयः ॥
शकुन्तला च तच्छ्रुत्वा परं हर्षमवाप सा।
द्विजानाहूय मुनिभिः सत्कृत्य च महायशाः ॥)
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः।
विधिवत् कारयामास वर्धमानस्य धीमतः ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इन्द्रादि देवताओंका यह वचन सुनकर कण्वके आश्रममें रहनेवाले सभी महर्षि कण्वकन्या शकुन्तलाके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। यह सब सुनकर शकुन्तलाको भी बड़ा हर्ष हुआ। पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कण्वने मुनियोंसे ब्राह्मणोंको बुलाकर उनका पूर्ण सत्कार करके बालकका विधिपूर्वक जातकर्म आदि संस्कार कराया। वह बुद्धिमान् बालक प्रतिदिन बढ़ने लगा ॥ ३ ॥

दन्तैः शुक्लैः शिखरिभिः सिंहसंहननो महान्।
चक्राङ्कितकरः श्रीमान् महामूर्धा महाबलः ॥ ४ ॥

वह सफेद और नुकीले दाँतोंसे शोभा पा रहा था। उसके शरीरका गठन सिंहके समान था। वह ऊँचे कदका था। उसके हाथोंमें चक्रके चिह्न थे। वह अद्भुत शोभासे सम्पन्न, विशाल मस्तकवाला और महान् बलवान् था ॥ ४ ॥

कुमारो देवगर्भाभः स तत्राशु व्यवर्धत।
षड्वर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ॥ ५ ॥
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥ ६ ॥

देवताओंके बालक-सा प्रतीत होनेवाला वह तेजस्वी कुमार वहाँ शीघ्रतापूर्वक बढ़ने लगा। छः वर्षकी अवस्थामें ही वह बलवान् बालक कण्वके आश्रममें सिंहों, व्याघ्रों, वराहों, भैंसों और हाथियोंको पकड़कर खींच लाता और आश्रमके समीपवर्ती वृक्षोंमें बाँध देता था ॥ ५-६ ॥

आरोहन् दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति।
(ततश्च राक्षसान् सर्वान् पिशाचांश्च रिपून् रणे।
मुष्टियुद्धेन ताडित्वा ऋषीनाराधयत् तदा ॥
कश्चिद् दितिसुतस्तं तु हन्तुकामो महाबलः।
वध्यमानांस्तु दैतेयानमर्षी तं समभ्ययात् ॥
तमागतं प्रहस्यैव बाहुभ्यां परिगृह्य च।
दृढं चावध्य बाहुभ्यां पीडयामास तं तदा ॥
मर्दितो न शशाकास्य मोचितुं बलवत्तया।
प्राक्रोशद् भैरवं तत्र द्वारेभ्यो निःसृतं त्वसृक् ॥
तेन शब्देन वित्रस्ता मृगाः सिंहादयो गणाः।
सुस्रुवुश्च शकृन्मूत्रमाश्रमस्थाश्च सुस्रुवुः ॥
निरसुं जानुभिः कृत्वा विससर्ज च सोऽपतत्।
तं दृष्ट्वा विस्मयं चक्रुः कुमारस्य विचेष्टितम् ॥
नित्यकालं वध्यमाना दैतेया राक्षसैः सह।
कुमारस्य भयादेव नैव जग्मुस्तदाश्रमम् ॥)
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ॥७॥

फिर वह सबका दमन करते हुए उनकी पीठपर चढ़ जाता और क्रीडा करते हुए उन्हें सब ओर दौड़ाता हुआ दौड़ता था। वहाँ सब राक्षस और पिशाच आदि शत्रुओंको युद्धमें मुष्टिप्रहारके द्वारा परास्त करके वह राजकुमार ऋषि-मुनियोंकी आराधनामें लगा रहता था। एक दिन कोई महाबली दैत्य उसे मार डालनेकी इच्छासे उस वनमें आया। वह उसके द्वारा प्रतिदिन सताये जाते हुए दूसरे दैत्योंकी दशा देखकर अमर्षमें भरा हुआ था। उसके आते ही राजकुमारने हँसकर उसे दोनों हाथोंसे पकड़ लिया और अपनी बाँहोंमें दृढ़तापूर्वक कसकर दबाया। वह बहुत जोर लगानेपर भी अपनेको उस बालकके चंगुलसे छुड़ा न सका, अतः भयंकर स्वरसे चीत्कार करने लगा। उस समय दबावके कारण उसकी इन्द्रियोंसे रक्त बह चला। उसकी चीत्कारसे भयभीत हो मृग और सिंह आदि जंगली जीव मल-मूत्र करने लगे तथा आश्रमपर रहनेवाले प्राणियोंकी भी यही दशा हुई। दुष्यन्तकुमारने घुटनोंसे मार-मारकर उस दैत्यके प्राण ले लिये; तत्पश्चात् उसे छोड़ दिया। उसके हाथसे छूटते ही वह दैत्य गिर पड़ा। उस बालकका यह पराक्रम देखकर सब लोगोंको बड़ा विस्मय हुआ। कितने ही दैत्य और राक्षस प्रतिदिन उस दुष्यन्तकुमारके हाथों मारे जाते थे। कुमारके भयसे ही उन्होंने कण्वके आश्रमपर जाना छोड़ दिया। यह देख कण्वके आश्रममें रहनेवाले ऋषियोंने उसका नया नामकरण किया— ॥ ७ ॥

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ॥ ८ ॥
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः।

'यह सब जीवोंका दमन करता है, इसलिये 'सर्वदमन' नामसे प्रसिद्ध हो।' तबसे उस कुमारका नाम सर्वदमन हो गया। वह पराक्रम, तेज और बलसे सम्पन्न था ॥ ८½ ॥

(अप्रेषयति दुष्यन्ते महिष्यास्तनयस्य च।
पाण्डुभावपरीताङ्गीं चिन्तया समभिप्लुताम् ॥
लम्बालकां कृशां दीनां तथा मलिनवाससम्।
शकुन्तलां च सम्प्रेक्ष्य प्रदध्यौ स मुनिस्तदा ॥
शास्त्राणि सर्ववेदाश्च द्वादशाब्दस्य चाभवन्।)

राजा दुष्यन्तने अपनी रानी और पुत्रको बुलानेके लिये जब किसी भी मनुष्यको नहीं भेजा, तब शकुन्तला चिन्तामग्न हो गयी। उसके सारे अङ्ग सफेद पड़ने लगे। उसके खुले हुए लंबे केश लटक रहे थे, वस्त्र मैले हो गये थे, वह अत्यन्त दुर्बल और दीन दिखायी देती थी। शकुन्तलाको इस दयनीय दशामें देखकर कण्व मुनिने कुमार सर्वदमनके लिये विद्याका चिन्तन किया। इससे उस बारह वर्षके ही बालकके हृदयमें समस्त शास्त्रों और सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्रकाशित हो गया ॥

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ॥ ९ ॥
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम्।

महर्षि कण्वने उस कुमार और उसके लोकोत्तर कर्मको देखकर शकुन्तलासे कहा—'अब इसके युवराज-पदपर अभिषिक्त होनेका समय आया है ॥ ९½ ॥

(शृणु भद्रे मम सुते मम वाक्यं शुचिस्मिते।
पतिव्रतानां नारीणां विशिष्टमिति चोच्यते ॥

'मेरी कल्याणमयी पुत्री ! मेरा यह वचन सुनो। पवित्र मुसकानवाली शकुन्तले ! पतिव्रता स्त्रियोंके लिये यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है; इसलिये बता रहा हूँ ॥

पतिशुश्रूषणं पूर्वं मनोवाक्कायचेष्टितैः।
अनुज्ञाता मया पूर्वं पूजयैतद् व्रतं तव ॥
एतेनैव च वृत्तेन विशिष्टां लप्स्यसे श्रियम्।

'सती स्त्रियोंके लिये सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वे मन, वाणी, शरीर और चेष्टाओंद्वारा निरन्तर पतिकी सेवा करती रहें। मैंने पहले भी तुम्हें इसके लिये आदेश दिया है। तुम अपने इस व्रतका पालन करो। इस पतिव्रतोचित आचार-व्यवहारसे ही विशिष्ट शोभा प्राप्त कर सकोगी॥

तस्माद् भद्रे प्रयातव्यं समीपं पौरवस्य ह॥
स्वयं नायाति मत्वा ते गतं कालं शुचिस्मिते।
गत्वाऽऽराधय राजानं दुष्यन्तं हितकाम्यया॥

'भद्रे! तुम्हें पूरुनन्दन दुष्यन्तके पास जाना चाहिये। वे स्वयं नहीं आ रहे हैं, ऐसा सोचकर तुमने बहुत-सा समय उनकी सेवासे दूर रहकर बिता दिया। शुचिस्मिते! अब तुम अपने हितकी इच्छासे स्वयं जाकर राजा दुष्यन्तकी आराधना करो॥

दौष्यन्तिं यौवराज्यस्थं दृष्ट्वा प्रीतिमवाप्स्यसि।
देवतानां गुरूणां च क्षत्रियाणां च भामिनि।
भर्तॄणां च विशेषेण हितं संगमनं सताम्॥
तस्मात् पुत्रि कुमारेण गन्तव्यं मत्प्रियेप्सया।
प्रतिवाक्यं न दद्यास्त्वं शापिता मम पादयोः॥

'वहाँ दुष्यन्तकुमार सर्वदमनको युवराज पदपर प्रतिष्ठित देख तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। देवता, गुरु, क्षत्रिय, स्वामी तथा साधु पुरुष—इनका सङ्ग विशेष हितकर है। अतः बेटी! तुम्हें मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे कुमारके साथ अवश्य अपने पतिके यहाँ जाना चाहिये। मैं अपने चरणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम मुझे मेरी इस आज्ञाके विपरीत कोई उत्तर न देना'॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुतां तत्र पौत्रं कण्वोऽभ्यभाषत।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय पौरवम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—पुत्रीसे ऐसा कहकर महर्षि कण्वने उसके पुत्र भरतको दोनों बाहोंसे पकड़कर अङ्कमें भर लिया और उसका मस्तक सूँघकर कहा॥

कण्व उवाच

सोमवंशोद्भवो राजा दुष्यन्तो नाम विश्रुतः।
तस्याग्रमहिषी चैषा तव माता शुचिव्रता॥
गन्तुकामा भर्तृवशं त्वया सह सुमध्यमा।
गत्वाभिवाद्य राजानं यौवराज्यमवाप्स्यसि॥
स पिता तव राजेन्द्रस्तस्य त्वं वशगो भव।
पितृपैतामहं राज्यमनुतिष्ठस्व भावतः॥

कण्व बोले—वत्स! चन्द्रवंशमें दुष्यन्त नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं। पवित्र व्रतका पालन करनेवाली यह तुम्हारी माता उन्हींकी महारानी है। यह सुन्दरी तुम्हें साथ लेकर अब पतिकी सेवामें जाना चाहती है। तुम वहाँ जाकर राजाको प्रणाम करके युवराज-पद प्राप्त करोगे। वे महाराज दुष्यन्त ही तुम्हारे पिता हैं। तुम सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहना और बाप-दादेके राज्यका प्रेमपूर्वक पालन करना॥

शकुन्तले शृणुष्वेदं हितं पथ्यं च भामिनि।
पतिव्रताभावगुणान् हित्वा साध्यं न किंचन॥
पतिव्रतानां देवा वै तुष्टाः सर्ववरप्रदाः।
प्रसादं च करिष्यन्ति ह्यापदर्थे च भामिनि॥
पतिप्रसादात् पुण्यगतिं प्राप्नुवन्ति न चाशुभम्।
तस्माद् गत्वा तु राजानमाराधय शुचिस्मिते॥)

(फिर कण्व शकुन्तलासे बोले—) 'भामिनि! शकुन्तले! यह मेरी हितकर एवं लाभप्रद बात सुनो। पतिव्रताभाव-सम्बन्धी गुणोंको छोड़कर तुम्हारे लिये और कोई वस्तु साध्य नहीं है। पतिव्रताओंपर सम्पूर्ण वरोंको देनेवाले देवतालोग भी संतुष्ट रहते हैं। भामिनि! वे आपत्तिके निवारणके लिये अपने कृपा-प्रसादका भी परिचय देंगे। शुचिस्मिते! पतिव्रता देवियाँ पतिके प्रसादसे पुण्यगतिको ही प्राप्त होती हैं; अशुभ गतिको नहीं। अतः तुम जाकर राजाकी आराधना करो'॥

तस्य तद् बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह॥१०॥
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात्।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम्॥११॥

फिर उस बालकके बलको समझकर कण्वने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित मेरी पुत्री शकुन्तला और इसके पुत्रको शीघ्र ही इस घरसे ले जाकर पतिके घरमें पहुँचा दो॥१०-११॥

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम्॥१२॥

'स्त्रियोंका अपने भाई-बन्धुओंके यहाँ अधिक दिनोंतक रहना अच्छा नहीं होता। वह उनकी कीर्ति, शील तथा पातिव्रत धर्मका नाश करनेवाला होता है। अतः इसे अविलम्ब पतिके घरमें पहुँचा दो'॥१२॥

(*वैशम्पायन उवाच*

धर्माभिपूजितं पुत्रं काश्यपेन निशाम्य तु।
काश्यपात् प्राप्य चानुज्ञां मुमुदे च शकुन्तला॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कश्यपनन्दन कण्वने धर्मानुसार मेरे पुत्रका बड़ा आदर किया है, यह देखकर तथा उनकी ओरसे पतिके घर जानेकी आज्ञा पाकर शकुन्तला मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई॥

कण्वस्य वचनं श्रुत्वा प्रतिगच्छेति चासकृत् ।
तथेत्युक्त्वा तु कण्वं च मातरं पौरवोऽब्रवीत् ॥
किं चिरायसि मातस्त्वं गमिष्यामो नृपालयम् ।

कण्वके मुखसे बारंबार 'जाओ-जाओ' यह आदेश सुनकर पूरुनन्दन सर्वदमनने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और मातासे कहा—'मा ! तुम क्यों विलम्ब करती हो, चलो राजमहल चलें' ॥

एवमुक्त्वा तु तां देवीं दुष्यन्तस्य महात्मनः ॥
अभिवाद्य मुनेः पादौ गन्तुमैच्छत् स पौरवः ।

देवी शकुन्तलासे ऐसा कहकर पौरवराजकुमारने मुनिके चरणोंमें मस्तक झुकाकर महात्मा राजा दुष्यन्तके यहाँ जानेका विचार किया ॥

शकुन्तला च पितरमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
प्रदक्षिणीकृत्य तदा पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
अज्ञानान्मे पिता चेति दुरुक्तं वापि चानृतम् ॥
अकार्यं वाप्यनिष्टं वा क्षन्तुमर्हति काश्यप ।

शकुन्तलाने भी हाथ जोड़कर पिताको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके उस समय यह बात कही—'भगवन् ! काश्यप ! आप मेरे पिता हैं, यह समझकर मैंने अज्ञानवश यदि कोई कठोर या असत्य बात कह दी हो अथवा न करनेयोग्य या अप्रिय कार्य कर डाला हो, तो उसे आप क्षमा कर देंगे' ॥

एवमुक्तो नतशिरा मुनिर्नोवाच किंचन ॥
मनुष्यभावात् कण्वोऽपि मुनिरश्रूण्यवर्तयत् ।

शकुन्तलाके ऐसा कहनेपर शिर झुकाकर बैठे हुए कण्व मुनि कुछ बोल न सके; मानव-स्वभावके अनुसार करुणाका उदय हो जानेसे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥

अब्भक्षान् वायुभक्षांश्च शीर्णपर्णाशनान् मुनीन् ॥
फलमूलाशिनो दान्तान् कृशान् धमनिसंततान् ।
व्रतिनो जटिलान् मुण्डान् वल्कलाजिनसंवृतान् ॥

उनके आश्रममें बहुत-से ऐसे मुनि रहते थे, जो जल पीकर, वायु पीकर अथवा सूखे पत्ते खाकर तपस्या करते थे । फल-मूल खाकर रहनेवाले भी बहुत थे । वे सब-के-सब जितेन्द्रिय एवं दुर्बल शरीरवाले थे । उनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखायी देती थीं । उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले उन महर्षियोंमेंसे कितने ही सिरपर जटा धारण करते थे और कितने ही सिर मुड़ाये रहते थे । कोई वल्कल धारण करते थे और कोई मृगचर्म लपेटे रहते थे ॥

समाहूय मुनीन् कण्वः कारुण्यादिदमब्रवीत् ।
मया तु लालिता नित्यं मम पुत्री यशस्विनी ।
वने जाता विवृद्धा च न च जानाति किंचन ॥
अश्रमेण पथा सर्वैर्नीयतां क्षत्रियालयम् ।)

महर्षि कण्वने उन मुनियोंको बुलाकर करुण भावसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी यशस्विनी पुत्री वनमें उत्पन्न हुई और यहीं पलकर इतनी बड़ी हुई है । मैंने सदा इसे लाड़-प्यार किया है । यह कुछ नहीं जानती है । विप्रगण ! तुम सबलोग इसे ऐसे मार्गसे राजा दुष्यन्तके घर ले जाओ जिसमें अधिक श्रम न हो' ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रतिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य दुष्यन्तस्य पुरं प्रति ॥१३॥

'बहुत अच्छा' कहकर वे सभी महातेजस्वी शिष्य (पुत्र-सहित) शकुन्तलाको आगे करके दुष्यन्तके नगरकी ओर चले ॥

गृहीत्वामरगर्भाभं पुत्रं कमललोचनम् ।
आजगाम ततः सुभ्रूर्दुष्यन्तं विदिताद् वनात् ॥१४॥

तदनन्तर सुन्दर भौंहोंवाली शकुन्तला कमलके समान नेत्रोंवाले देवबालकके सदृश तेजस्वी पुत्रको साथ ले अपने परिचित तपोवनसे चलकर महाराज दुष्यन्तके यहाँ आयी ॥ १४॥

अभिसृत्य च राजानं विदिता च प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥१५॥

राजाके यहाँ पहुँचकर अपने आगमनकी सूचना दे अनुमति लेकर वह उसी बालसूर्यके समान तेजस्वी पुत्रके साथ राजसभामें प्रविष्ट हुई ॥ १५ ॥

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागताः ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥१६॥

सब शिष्यगण राजाको महर्षिका संदेश सुनाकर पुनः आश्रमको लौट आये और शकुन्तला न्यायपूर्वक महाराजके प्रति सम्मानका भाव प्रकट करती हुई पुत्रसे बोली—॥ १६ ॥

(अभिवादय राजानं पितरं ते दृढव्रतम् ।
एवमुक्त्वा तु पुत्रं सा लज्जानतमुखी स्थिता ॥
स्तम्भमालिङ्ग्य राजानं प्रसीदस्वेत्युवाच सा ।
शकुन्तलोऽपि राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः ॥
हर्षेणोत्फुल्लनयनो राजानं चान्ववैक्षत ।
दुष्यन्तो धर्मबुद्ध्या तु चिन्तयन्नेव सोऽब्रवीत् ॥

'बेटा ! दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ये महाराज तुम्हारे पिता हैं; इन्हें प्रणाम करो ।' पुत्रसे ऐसा कहकर शकुन्तला लज्जासे मुख नीचा किये एक खंभेका सहारा लेकर खड़ी हो गयी और महाराजसे बोली—'देव ! प्रसन्न हों ।' शकुन्तलाका पुत्र भी हाथ जोड़कर राजाको प्रणाम करके उन्हींकी ओर देखने लगा । उसके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे । राजा दुष्यन्तने उस समय धर्मबुद्धिसे कुछ विचार करते हुए ही कहा ॥

दुष्यन्त उवाच

किमागमनकार्यं ते ब्रूहि त्वं वरवर्णिनि ।
करिष्यामि न संदेहः सपुत्राया विशेषतः ॥

दुष्यन्त बोले—सुन्दरि ! यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या उद्देश्य है ? बताओ । विशेषतः उस दशामें, जब कि तुम पुत्रके साथ आयी हो, मैं तुम्हारा कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा; इसमें संदेह नहीं ॥

शकुन्तलोवाच

प्रसीदस्व महाराज वक्ष्यामि पुरुषोत्तम ॥)

शकुन्तलाने कहा—महाराज ! आप प्रसन्न हों । पुरुषोत्तम ! मैं अपने आगमनका उद्देश्य बताती हूँ, सुनिये ॥

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ।
त्वया ह्ययं सुतो राजन् मय्युत्पन्नः सुरोपमः ।
यथासमयमेतस्मिन् वर्तस्व पुरुषोत्तम ॥१७॥

राजन् ! यह आपका पुत्र है । इसे आप युवराज-पदपर अभिषिक्त कीजिये । महाराज ! यह देवोपम कुमार आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हुआ है । पुरुषोत्तम ! इसके लिये आपने मेरे साथ जो शर्त कर रक्खी है, उसका पालन कीजिये ॥१७॥

यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्त्वया ।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥१८॥

महाभाग ! आपने कण्वके आश्रमपर मेरे साथ समागमके समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी, उसका इस समय स्मरण कीजिये॥

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नपि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥१९॥

राजा दुष्यन्तने शकुन्तलाका यह वचन सुनकर सब बातोंको याद रखते हुए भी उससे इस प्रकार कहा—'दुष्ट तपस्विनि ! मुझे कुछ भी याद नहीं है । तुम किसकी स्त्री हो ? ॥ १९ ॥

धर्मकामार्थसम्बन्धं न स्मरामि त्वया सह ।
गच्छ वा तिष्ठ वा कामं यद् वापीच्छसि तत् कुरु॥२०॥

'तुम्हारे साथ मेरा धर्म, काम अथवा अर्थको लेकर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, इस बातका मुझे तनिक भी स्मरण नहीं है । तुम इच्छानुसार जाओ या रहो अथवा जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो' ॥ २० ॥

सैवमुक्ता वरारोहा व्रीडितेव तपस्विनी ।
निःसंज्ञेव च दुःखेन तस्थौ स्थूणेव निश्चला ॥२१॥

सुन्दर अङ्गवाली तपस्विनी शकुन्तला दुष्यन्तके ऐसा कहनेपर लज्जित हो दुःखसे बेहोश-सी हो गयी और खंभेकी तरह निश्चलभावसे खड़ी रह गयी ॥ २१ ॥

संरम्भामर्षताम्राक्षी स्फुरमाणौष्ठसम्पुटा ।
कटाक्षैर्निर्दहन्तीव तिर्यग् राजानमैक्षत ॥२२॥

क्रोध और अमर्षसे उसकी आँखें लाल हो गयीं, ओठ फड़कने लगे और मानो जला देगी, इस भावसे टेढ़ी चितवन-द्वारा राजाकी ओर देखने लगी ॥ २२ ॥

आकारं गूहमाना च मन्युना च समीरिता ।
तपसा सम्भृतं तेजो धारयामास वै तदा ॥२३॥

क्रोध उसे उत्तेजित कर रहा था, फिर भी उसने अपने आकारको छिपाये रक्खा और तपस्याद्वारा संचित किये हुए अपने तेजको वह अपने भीतर ही धारण किये रही ॥२३॥

सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा दुःखामर्षसमन्विता ।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य क्रुद्धा वचनमब्रवीत् ॥२४॥
जानन्नपि महाराज कस्मादेवं प्रभाषसे ।
न जानामीति निःशङ्कं यथान्यः प्राकृतो जनः ॥२५॥

वह दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार-सा करती रही, फिर दुःख और अमर्षमें भरकर पतिकी ओर देखती हुई क्रोध-पूर्वक बोली—'महाराज ! आप जान-बूझकर भी दूसरे-दूसरे निम्न कोटिके मनुष्योंकी भाँति निःशङ्क होकर ऐसी बात क्यों कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता' ॥ २४-२५ ॥

अत्र ते हृदयं वेद सत्यस्यैवानृतस्य च ।
कल्याणं वद साक्ष्येण माऽऽत्मानमवमन्यथाः ॥२६॥

'इस विषयमें यहाँ क्या झूठ है और क्या सच, इस बातको आपका हृदय ही जानता होगा । उसीको साक्षी बनाकर—हृदयपर हाथ रखकर सही-सही बात कहिये, जिससे आपका कल्याण हो । आप अपने आत्माकी अवहेलना न कीजिये ॥२६॥

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥२७॥

'(आपका स्वरूप तो कुछ और है, परंतु आप बन कुछ और रहे हैं ।) जो अपने असली स्वरूपको छिपाकर अपने-को कुछ-का-कुछ दिखाता है, अपने आत्माका अपहरण करनेवाले उस चोरने कौन-सा पाप नहीं किया ? ॥ २७ ॥

एकोऽहमस्मीति च मन्यसे त्वं
न हृच्छयं वेत्सि मुनिं पुराणम् ।
यो वेदिता कर्मणः पापकस्य
तस्यान्तिके त्वं वृजिनं करोषि ॥२८॥

'आप समझ रहे हैं कि उस समय मैं अकेला था (कोई देखनेवाला नहीं था), परंतु आपको पता नहीं कि वह सनातन मुनि (परमात्मा) सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमान है । वह सबके पाप-पुण्यको जानता है और आप उसीके निकट रहकर पाप कर रहे हैं ॥ २८ ॥

(धर्म एव हि साधूनां सर्वेषां हितकारणम् ।
नित्यं मिथ्याविहीनानां न च दुःखावहो भवेत् ॥)

मन्यते पापकं कृत्वा न कश्चिद् वेत्ति मामिति ।
विदन्ति चैनं देवाश्च यश्चैवान्तरपूरुषः ॥२९॥

'जो सदा असत्यसे दूर रहनेवाले हैं, उन समस्त साधु पुरुषोंकी दृष्टिमें केवल धर्म ही हितकारक है । धर्म कभी दुःखदायक नहीं होता । मनुष्य पाप करके यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, किंतु उसका यह समझना भारी भूल है; क्योंकि सब देवता और अन्तर्यामी परमात्मा भी मनुष्यके उस पाप-पुण्यको देखते और जानते हैं ॥ २९ ॥

आदित्यचन्द्रावनिलानलौ च
द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।
अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥३०॥

'सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, हृदय, यमराज, दिन, रात, दोनों संध्याएँ और धर्म—ये सभी मनुष्यके भले-बुरे आचार-व्यवहारको जानते हैं ॥३०॥

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम् ।
हृदि स्थितः कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥३१॥

'जिसपर हृदयस्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञ परमात्मा संतुष्ट रहते हैं सूर्यपुत्र यमराज उसके सभी पापोंको स्वयं नष्ट कर देते हैं ॥३१॥

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम् ॥३२॥

'परंतु जिस दुरात्मापर अन्तर्यामी संतुष्ट नहीं होते, यमराज उस पापीको उसके पापोंका स्वयं ही दण्ड देते हैं ॥ ३२ ॥

योऽवमन्यात्मनाऽऽत्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
न तस्य देवाः श्रेयांसो यस्यात्मापि न कारणम् ॥३३॥
स्वयं प्राप्तेति मामेवं मावमंस्थाः पतिव्रताम् ।
अर्चार्हां नार्चयसि मां स्वयं भार्यामुपस्थिताम् ॥३४॥

'जो स्वयं अपने आत्माका तिरस्कार करके कुछ-का-कुछ समझता और करता है, देवता भी उसका भला नहीं कर सकते और उसका आत्मा भी उसके हितका साधन नहीं कर सकता । मैं स्वयं आपके पास आयी हूँ, ऐसा समझकर मुझ पतिव्रता पत्नीका तिरस्कार न कीजिये । मैं आपके द्वारा आदर पाने योग्य हूँ और स्वयं आपके निकट आयी हुई आपहीकी पत्नी हूँ, तथापि आप मेरा आदर नहीं करते हैं ॥

किमर्थं मां प्राकृतवदुपप्रेक्षसि संसदि ।
न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे ॥३५॥

'आप किसलिये नीच पुरुषकी भाँति भरी सभामें मुझे अपमानित कर रहे हैं ? मैं सूने जंगलमें तो नहीं रो रही हूँ ? फिर आप मेरी बात क्यों नहीं सुनते ? ॥ ३५ ॥

यदि मे याचमानाया वचनं न करिष्यसि ।
दुष्यन्त शतधा मूर्धा ततस्तेऽद्य स्फुटिष्यति ॥३६॥

'महाराज दुष्यन्त ! यदि मेरे उचित याचना करनेपर भी आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो आज आपके सिरके सैकड़ों टुकड़े हो जायँगे ॥ ३६ ॥

भार्यां पतिः सम्प्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥३७॥

'पति ही पत्नीके भीतर गर्भरूपसे प्रवेश करके पुत्र-रूपमें जन्म लेता है । यही जाया (जन्म देनेवाली स्त्री) का जायात्व है, जिसे पुराणवेत्ता विद्वान् जानते हैं ॥ ३७ ॥

यदागमवतः पुंसस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत् तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥३८॥

'शास्त्रके ज्ञाता पुरुषके इस प्रकार जो संतान उत्पन्न होती है, वह संततिकी परम्पराद्वारा अपने पहलेके मरे हुए पितामहोंका उद्धार कर देती है ॥ ३८ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥३९॥

'पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे पिताका त्राण करता है, इसलिये साक्षात् ब्रह्माजीने उसे 'पुत्र' कहा है ॥ ३९ ॥

(पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः ॥)

'मनुष्य पुत्रसे पुण्यलोकोंपर विजय पाता है, पौत्रसे अक्षय सुखका भागी होता है तथा पौत्रके पुत्रसे प्रपितामहगण आनन्दके भागी होते हैं ॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥४०॥

'वही भार्या है, जो घरके काम-काजमें कुशल हो । वही भार्या है, जो संतानवती हो । वही भार्या है, जो अपने पतिको प्राणोंके समान प्रिय मानती हो और वही भार्या है, जो पतिव्रता हो ॥ ४० ॥

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥४१॥

'भार्या पुरुषका आधा अङ्ग है । भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है । भार्या धर्म, अर्थ और कामका मूल है और संसार-सागरसे तरनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये भार्या ही प्रमुख साधन है॥४१॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तः श्रियान्विताः ॥४२॥

'जिनके पत्नी है, वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते हैं । सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ हैं । पत्नीवाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते हैं तथा जो पत्नीसे युक्त हैं, वे मानो लक्ष्मीसे सम्पन्न हैं (क्योंकि पत्नी ही घरकी लक्ष्मी है) ॥ ४२ ॥

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातरः ॥४३॥

'पत्नी ही एकान्तमें प्रिय वचन बोलनेवाली सङ्गिनी या मित्र है। धर्मकार्योंमें ये स्त्रियाँ पिताकी भाँति पतिकी हितैषिणी होती हैं और संकटके समय माताकी भाँति दुःखमें हाथ बँटाती तथा कष्ट-निवारणकी चेष्टा करती हैं ॥ ४३ ॥

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परागतिः ॥४४॥

'परदेशमें यात्रा करनेवाले पुरुषके साथ यदि उसकी स्त्री हो तो वह घोर-से-घोर जंगलमें भी विश्राम पा सकता है-सुखसे रह सकता है। लोक-व्यवहारमें भी जिसके स्त्री है, उसीपर सब विश्वास करते हैं। इसलिये स्त्री ही पुरुषकी श्रेष्ठ गति है॥४४॥

संसरन्तमपि प्रेतं विषमेष्वेकपातिनम्।
भार्यैवान्वेति भर्तारं सततं या पतिव्रता ॥४५॥

'पति संसारमें हो या मर गया हो, अथवा अकेले ही नरकमें पड़ा हो; पतिव्रता स्त्री ही सदा उसका अनुगमन करती है ॥ ४५ ॥

प्रथमं संस्थिता भार्या पतिं प्रेत्य प्रतीक्षते।
पूर्वं मृतं च भर्तारं पश्चात् साध्व्यनुगच्छति ॥४६॥

'साध्वी स्त्री यदि पहले मर गयी हो तो परलोकमें जाकर वह पतिकी प्रतीक्षा करती है और यदि पहले पति मर गया हो तो सती स्त्री पीछेसे उसका अनुसरण करती है ॥४६॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् पाणिग्रहणमिष्यते।
यदाप्नोति पतिर्भार्यामिहलोके परत्र च ॥ ४७॥

'राजन्! इसीलिये सुशीला स्त्रीका पाणिग्रहण करना सबके लिये अभीष्ट होता है;क्योंकि पति अपनी पतिव्रता स्त्रीको इहलोकमें तो पाता ही है, परलोकमें भी प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

आत्माऽऽत्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम् ॥ ४८ ॥

'पत्नीके गर्भसे अपने द्वारा उत्पन्न किये हुए आत्माको ही विद्वान् पुरुष पुत्र कहते हैं, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी उस धर्मपत्नीको जो पुत्रकी माता बन चुकी है, माताके ही समान देखे ॥ ४८ ॥

(अन्तरात्मैव सर्वस्य पुत्रनाम्नोच्यते सदा।
गती रूपं च चेष्टा च आवर्ता लक्षणानि च ॥
पितॄणां यानि दृश्यन्ते पुत्राणां सन्ति तानि च।
तेषां शीलाचारगुणास्तत्सम्पर्काच्छुभाशुभाः ॥)

'सबका अन्तरात्मा ही सदा पुत्र नामसे प्रतिपादित होता है। पिताकी जैसी चाल होती है, जैसे रूप, चेष्टा, आवर्त (भँवर) और लक्षण आदि होते हैं, पुत्रमें भी वैसी ही चाल और वैसे ही रूप-लक्षण आदि देखे जाते हैं। पिताके सम्पर्कसे ही पुत्रोंमें शुभ-अशुभ शील, गुण एवं आचार आदि आते हैं ॥

भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम्।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥ ४९ ॥

'जैसे दर्पणमें अपना मुँह देखा जाता है, उसी प्रकार पत्नीके गर्भसे उत्पन्न हुए अपने आत्माको ही पुत्ररूपमें देखकर पिताको वैसा ही आनन्द होता है, जैसा पुण्यात्मा पुरुषको स्वर्गलोककी प्राप्ति हो जानेपर होता है ॥ ४९ ॥

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ताः सलिलेष्विव ॥ ५० ॥

'जैसे धूपसे तपे हुए जीव जलमें स्नान कर लेनेपर शान्तिका अनुभव करते हैं, उसी प्रकार जो मानसिक दुःख और चिन्ताओंकी आगमें जल रहे हैं तथा जो नाना प्रकारके रोगोंसे पीड़ित हैं, वे मानव अपनी पत्नीके समीप होनेपर आनन्दका अनुभव करते हैं ॥५०॥

(विप्रवासकृशा दीना नरा मलिनवाससः।
तेऽपि स्वदारांस्तुष्यन्ति दरिद्रा धनलाभवत् ॥)

'जो परदेशमें रहकर अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, जो दीन और मलिन वस्त्र धारण करनेवाले हैं, वे दरिद्र मनुष्य भी अपनी पत्नीको पाकर ऐसे संतुष्ट होते हैं, मानो उन्हें कोई धन मिल गया हो ॥

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥ ५१ ॥

'रति, प्रीति तथा धर्म पत्नीके ही अधीन हैं, ऐसा सोचकर पुरुषको चाहिये कि वह कुपित होनेपर भी पत्नीके साथ कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ५१ ॥

(आत्मनोऽर्धमिति श्रौतं सा रक्षति धनं प्रजाः।
शरीरं लोकयात्रां वै धर्मं स्वर्गमृषीन् पितॄन् ॥)

'पत्नी अपना आधा अङ्ग है, यह श्रुतिका वचन है। वह धन, प्रजा, शरीर, लोकयात्रा, धर्म, स्वर्ग, ऋषि तथा पितर—इन सबकी रक्षा करती है ॥

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥ ५२ ॥

'स्त्रियाँ पतिके आत्माके जन्म लेनेका सनातन पुण्य क्षेत्र हैं। ऋषियोंमें भी क्या शक्ति है कि बिना स्त्रीके संतान उत्पन्न कर सकें ॥ ५२ ॥

प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्यधिकं ततः ॥ ५३ ॥

'जब पुत्र धरतीकी धूलमें सना हुआ पास आता और पिताके अङ्गोंसे लिपट जाता है, उस समय जो सुख मिलता है, उससे बढ़कर और क्या हो सकता है? ॥ ५३ ॥

स त्वं स्वयमभिप्राप्तं साभिलाषमिमं सुतम्।
प्रेक्षमाणं कटाक्षेण किमर्थमवमन्यसे ॥ ५४ ॥

अण्डानि बिभ्रति स्वानि न भिन्दन्ति पिपीलिकाः ।
न भरेथाः कथं नु त्वं धर्मज्ञः सन् स्वमात्मजम् ॥ ५५॥

'देखिये, आपका यह पुत्र स्वयं आपके पास आया है और प्रेमपूर्ण तिरछी चितवनसे आपकी ओर देखता हुआ आपकी गोदमें बैठनेके लिये उत्सुक है; फिर आप किसलिये इसका तिरस्कार करते हैं। चींटियाँ भी अपने अण्डोंका पालन ही करती हैं; उन्हें फोड़तीं नहीं। फिर आप धर्मज्ञ होकर भी अपने पुत्रका भरण-पोषण क्यों नहीं करते ? ॥ ५४-५५ ॥

(ममाण्डानीति वर्धन्ते कोकिलानपि वायसाः ।
किं पुनस्त्वं न मन्येथाः सर्वज्ञः पुत्रमीदृशम् ॥
मलयाच्चन्दनं जातमतिशीतं वदन्ति वै ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य चन्दनादधिकं भवेत् ॥)

''ये मेरे अपने ही अण्डे हैं' ऐसा समझकर कौए कोयलके अण्डोंका भी पालन-पोषण करते हैं; फिर आप सर्वज्ञ होकर अपनेसे ही उत्पन्न हुए ऐसे सुयोग्य पुत्रका सम्मान क्यों नहीं करते ? लोग मलयगिरिके चन्दनको अत्यन्त शीतल बताते हैं, परंतु गोदमें सटाये हुए शिशुका स्पर्श चन्दनसे भी अधिक शीतल एवं सुखद होता है ॥

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥ ५६ ॥

'अपने शिशु पुत्रको हृदयसे लगा लेनेपर उसका स्पर्श जितना सुखदायक जान पड़ता है, वैसा सुखद स्पर्श न तो कोमल वस्त्रोंका है, न रमणीय सुन्दरियोंका है और न शीतल जलका ही है ॥ ५६ ॥

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥ ५७ ॥

'मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चतुष्पदों (चौपायों) में गौ श्रेष्ठतम है, गौरवशाली व्यक्तियोंमें गुरु श्रेष्ठ हैं और स्पर्श करनेयोग्य वस्तुओंमें पुत्र ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५७ ॥

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥ ५८ ॥

'आपका यह पुत्र देखनेमें कितना प्यारा है। यह आपके अङ्गोंसे लिपटकर आपका स्पर्श करे। संसारमें पुत्रके स्पर्शसे बढ़कर सुखदायक स्पर्श और किसीका नहीं है ॥ ५८ ॥

त्रिषु वर्षेषु पूर्णेषु प्रजाताहमरिंदम ।
इमं कुमारं राजेन्द्र तव शोकविनाशनम् ॥ ५९ ॥
आहर्ता वाजिमेधस्य शतसंख्यस्य पौरव ।
इति वागन्तरिक्षे मां सूतकेऽभ्यवदत् पुरा ॥ ६० ॥

'शत्रुओंका दमन करनेवाले सम्राट् ! मैंने पूरे तीन वर्षोंतक अपने गर्भमें धारण करनेके पश्चात् आपके इस पुत्रको जन्म दिया है। यह आपके शोकका विनाश करनेवाला होगा। पौरव ! पहले जब मैं सौरमें थी, उस समय आकाश-वाणीने मुझसे कहा था कि यह बालक सौ अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला होगा ॥ ५९-६० ॥

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद् ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥ ६१ ॥

'प्रायः देखा जाता है कि दूसरे गाँवकी यात्रा करके लौटे हुए मनुष्य घर आनेपर बड़े स्नेहसे पुत्रोंको गोदमें उठा लेते हैं और उनके मस्तक सूँघकर आनन्दित होते हैं ॥ ६१ ॥

वेदेष्वपि वदन्तीमं मन्त्रग्रामं द्विजातयः ।
जातकर्मणि पुत्राणां तवापि विदितं तथा ॥ ६२ ॥

'पुत्रोंके जातकर्म संस्कारके समय वेदज्ञ ब्राह्मण जिस वैदिक मन्त्र-समुदायका उच्चारण करते हैं, उसे आप भी जानते हैं॥६२॥

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

'(उस मन्त्रसमुदायका भाव इस प्रकार है—) हे बालक ! तुम मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो; हृदयसे उत्पन्न हुए हो। तुम पुत्र नामसे प्रसिद्ध मेरे आत्मा ही हो, अतः वत्स ! तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो ॥ ६३ ॥

जीवितं त्वदधीनं मे संतानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात् त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥ ६४ ॥

'मेरा जीवन तथा अक्षय संतान-परम्परा भी तुम्हारे ही अधीन है, अतः पुत्र ! तुम अत्यन्त सुखी होकर सौ वर्षोंतक जीवन धारण करो ॥ ६४ ॥

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात् पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेऽऽत्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥ ६५ ॥

'यह बालक आपके अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ है; मानो एक पुरुषसे दूसरा पुरुष प्रकट हुआ है। निर्मल सरोवरमें दिखायी देनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति अपने द्वितीय आत्मारूप इस पुत्रको देखिये ॥ ६५ ॥

यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात् प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन् द्विधा कृतः ॥ ६६ ॥
मृगापकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन् कुमारी पितुराश्रमे ॥ ६७॥

'जैसे गार्हपत्य अग्निसे आहवनीय अग्निका प्रणयन (प्राकट्य) होता है, उसी प्रकार यह बालक आपसे उत्पन्न हुआ है, मानो आप एक होकर भी अब दो रूपोंमें प्रकट हो गये हैं। राजन् ! आजसे कुछ वर्ष पहले आप शिकार खेलने वनमें गये थे। वहाँ एक हिंसक पशुके पीछे आकृष्ट हो आप दौड़ते हुए मेरे पिताजीके आश्रमपर पहुँच गये, जहाँ

मुझ कुमारी कन्याको आपने गान्धर्व विवाहद्वारा पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ६६-६७ ॥

उर्वशी पूर्वचित्तिश्च सहजन्या च मेनका ।
विश्वाची च घृताची च षडेवाप्सरसां वराः ॥ ६८॥

'उर्वशी, पूर्वचित्ति, सहजन्या, मेनका, विश्वाची और घृताची—ये छः अप्सराएँ ही अन्य सब अप्सराओंसे श्रेष्ठ हैं ॥

तासां सा मेनका नाम ब्रह्मयोनिर्वराप्सराः ।
दिवः सम्प्राप्य जगतीं विश्वामित्रादजीजनत् ॥ ६९ ॥

'उन सबमें भी मेनका नामवाली अप्सरा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साक्षात् ब्रह्माजीसे उत्पन्न हुई है । उसीने स्वर्गलोकसे भूतलपर आकर विश्वामित्रजीके सम्पर्कसे मुझे उत्पन्न किया था ॥६९॥

(श्रीमानृषिर्धर्मपरो वैश्वानर इवापरः ।
ब्रह्मयोनिः कुशो नाम विश्वामित्रपितामहः ॥
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभश्च धार्मिकः ।
गाधिस्तस्य सुतो राजन् विश्वामित्रस्तु गाधिजः ॥
एवंविधः पिता राजन् मेनका जननी वरा ॥)

'महाराज ! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक धर्मपरायण तेजस्वी महर्षि हो गये हैं, जो दूसरे अग्निदेवके समान प्रतापी थे । उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीसे हुई थी । वे महर्षि विश्वामित्र-के प्रपितामह थे । कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ था । वे बड़े धर्मात्मा थे । राजन् ! कुशनाभके पुत्र गाधि हुए और गाधिसे विश्वामित्रका जन्म हुआ । ऐसे कुलीन महर्षि मेरे पिता हैं और मेनका मेरी श्रेष्ठ माता है ॥

सा मां हिमवतः प्रस्थे सुषुवे मेनकाप्सराः ।
अवकीर्य च मां याता परात्मजमिवासती ॥ ७० ॥

'उस मेनका अप्सराने हिमालयके शिखरपर मुझे जन्म दिया; किंतु वह असद् व्यवहार करनेवाली अप्सरा मुझे परायी संतानकी तरह वहीं छोड़कर चली गयी ॥ ७० ॥

(पक्षिणः पुण्यवन्तस्ते सहिता धर्मतस्तदा ।
पक्षैस्तैरभिगुप्ता च तस्मादस्मि शकुन्तला ॥
ततोऽहमृषिणा दृष्टा काश्यपेन महात्मना ।
जलार्थमग्निहोत्रस्य गतं दृष्ट्वा तु पक्षिणः ॥
न्यासभूतामिव मुनेः प्रददुर्मां दयावतः ।
स मारणिमिवादाय स्वमाश्रममुपागमत् ॥
सा वै सम्भाविता राजन्ननुक्रोशान्महर्षिणा ।
तेनैव स्वसुतेवाहं राजन् वै परमर्षिणा ॥
विश्वामित्रसुता चाहं वर्धिता मुनिना नृप ।
यौवने वर्तमानां च दृष्टवानसि मां नृप ॥
आश्रमे पर्णशालायां कुमारीं विजने वने ।
धात्रा प्रचोदितां शून्ये पित्रा विरहितां मिथः ॥
वाग्भिस्त्वं सूनृताभिर्मामपत्यार्थमचूचुदः ।
अकार्षीस्त्वाश्रमे वासं धर्मकामार्थनिश्चितम् ॥
गान्धर्वेण विवाहेन विधिना पाणिमग्रहीः ।
साहं कुलं च शीलं च सत्यवादित्वमात्मनः ॥
स्वधर्मं च पुरस्कृत्य त्वामद्य शरणं गता ।
तस्मान्नार्हसि संश्रुत्य तथेति वितथं वचः ॥
स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा परित्यक्तुमुपस्थिताम् ।
त्वन्नाथां लोकनाथस्त्वं नार्हसि त्वमनागसम् ॥)

'वे पक्षी भी पुण्यवान् हैं, जिन्होंने एक साथ आकर उस समय धर्मपूर्वक अपने पंखोंसे मेरी रक्षा की। शकुन्तों (पक्षियों)ने मेरी रक्षा की, इसलिये मेरा नाम शकुन्तला हो गया । तदनन्तर महात्मा कश्यपनन्दन कण्वकी दृष्टि मुझपर पड़ी । वे अग्निहोत्रके लिये जल लानेके हेतु उधर गये हुए थे । उन्हें देखकर पक्षियोंने उन दयालु महर्षिको मुझे धरोहरकी भाँति सौंप दिया । वे मुझे अरणी (शमी) की भाँति लेकर अपने आश्रमपर आये । राजन् ! महर्षिने कृपापूर्वक अपनी पुत्रीके समान मेरा पालन-पोषण किया । नरेश्वर ! इस प्रकार मैं विश्वामित्र मुनिकी पुत्री हूँ और महात्मा कण्वने मुझे पाल-पोसकर बड़ी किया है । आपने युवावस्थामें मुझे देखा था । निर्जन वनमें आश्रमकी पर्णकुटीके भीतर सूने स्थानमें, जब कि मेरे पिता उपस्थित नहीं थे, विधाताकी प्रेरणासे प्रभावित मुझ कुमारी कन्याको आपने अपने मीठे वचनोंद्वारा संतानोत्पादनके निमित्त सहवासके लिये प्रेरित किया । धर्म, अर्थ एवं कामकी ओर दृष्टि रखकर मेरे साथ आश्रममें निवास किया । गान्धर्व विवाहकी विधिसे आपने मेरा पाणिग्रहण किया है । वही मैं आज अपने कुल, शील, सत्यवादिता और धर्मको आगे रखकर आपकी शरणमें आयी हूँ । इसलिये पूर्वकालमें वैसी प्रतिज्ञा करके अब उसे असत्य न कीजिये । आप जगत्के रक्षक हैं, मेरे प्राणनाथ हैं । मैं सर्वथा निरपराध हूँ और स्वयं आपकी सेवामें उपस्थित हूँ, अतः अपने धर्मको पीछे करके मेरा परित्याग न कीजिये ॥

किं नु कर्माशुभं पूर्वं कृतवत्यन्यजन्मनि ।
यदहं बान्धवैस्त्यक्ता बाल्ये सम्प्रति च त्वया ॥ ७१॥

'मैंने पूर्व जन्मान्तरोंमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे बाल्यावस्थामें तो मेरे बान्धवोंने मुझे त्याग दिया और इस समय आप पतिदेवताके द्वारा भी मैं त्याग दी गयी ॥७१॥

कामं त्वया परित्यक्ता गमिष्यामि स्वमाश्रमम् ।
इमं तु बालं संत्यक्तुं नार्हस्यात्मजमात्मनः ॥ ७२॥

'महाराज ! आपके द्वारा स्वेच्छासे त्याग दी जानेपर मैं पुनः अपने आश्रमको लौट जाऊँगी, किंतु अपने इस नन्हें-से पुत्रका त्याग आपको नहीं करना चाहिये ॥७२ ॥

दुष्यन्त उवाच

न पुत्रमभिजानामि त्वयि जातं शकुन्तले ।
असत्यवचना नार्यः कस्ते श्रद्धास्यते वचः ॥ ७३ ॥
मेनका निरनुक्रोशा बन्धकी जननी तव ।
यया हिमवतः पृष्ठे निर्माल्यमिव चोज्झिता ॥ ७४ ॥

दुष्यन्त बोले—शकुन्तले ! मैं तुम्हारे गर्भसे उत्पन्न इस पुत्रको नहीं जानता । स्त्रियाँ प्रायः झूठ बोलनेवाली होती हैं । तुम्हारी बातपर कौन श्रद्धा करेगा ? तुम्हारी माता वेश्या मेनका बड़ी क्रूरहृदया है, जिसने तुम्हें हिमालयके शिखरपर निर्माल्यकी तरह उतार फेंका है ॥ ७३-७४ ॥

स चापि निरनुक्रोशः क्षत्रयोनिः पिता तव ।
विश्वामित्रो ब्राह्मणत्वे लुब्धः कामवशं गतः ॥ ७५ ॥

और तुम्हारे क्षत्रियजातीय पिता विश्वामित्र भी, जो ब्राह्मण बननेके लिये लालायित थे और मेनकाको देखते ही कामके अधीन हो गये थे, बड़े निर्दयी जान पड़ते हैं ॥७५॥

मेनकाप्सरसां श्रेष्ठा महर्षीणां पिता च ते ।
तयोरपत्यं कस्मात् त्वं पुंश्चलीव प्रभाषसे ॥ ७६ ॥

मेनका अप्सराओंमें श्रेष्ठ बतायी जाती है और तुम्हारे पिता विश्वामित्र भी महर्षियोंमें उत्तम समझे जाते हैं । तुम उन्हीं दोनोंकी संतान होकर व्यभिचारिणी स्त्रीके समान क्यों झूठी बातें बना रही हो ॥ ७६ ॥

अश्रद्धेयमिदं वाक्यं कथयन्ती न लज्जसे ।
विशेषतो मत्सकाशे दुष्टतापसि गम्यताम् ॥ ७७ ॥

तुम्हारी यह बात श्रद्धा करनेके योग्य नहीं है । इसे कहते समय तुम्हें लज्जा नहीं आती ? विशेषतः मेरे समीप ऐसी बातें कहनेमें तुम्हें संकोच होना चाहिये । दुष्ट तपस्विनि ! तुम चली जाओ यहाँसे ॥ ७७ ॥

क्व महर्षिः स चैवाग्र्यः साप्सराः क्व च मेनका ।
क्व च त्वमेवं कृपणा तापसीवेषधारिणी ॥ ७८ ॥

कहाँ वे मुनिशिरोमणि महर्षि विश्वामित्र, कहाँ अप्सराओंमें श्रेष्ठ मेनका और कहाँ तुम-जैसी तापसीका वेष धारण करनेवाली दीन-हीन नारी ? ॥ ७८ ॥

अतिकायश्च ते पुत्रो बालोऽतिबलवानयम् ।
कथमल्पेन कालेन शालस्तम्भ इवोद्गतः ॥ ७९ ॥

तुम्हारे इस पुत्रका शरीर बहुत बड़ा है । बाल्यावस्थामें ही यह अत्यन्त बलवान् जान पड़ता है । इतने थोड़े समयमें यह साखूके खंभे-जैसा लम्बा कैसे हो गया ? ॥ ७९ ॥

सुनिकृष्टा च ते योनिः पुंश्चलीव प्रभाषसे ।
यदृच्छया कामरागाज्जाता मेनकया ह्यसि ॥ ८० ॥

तुम्हारी जाति नीच है । तुम कुलटा-जैसी बातें करती हो । जान पड़ता है, मेनकाने अकस्मात् भोगासक्तिके वशीभूत होकर तुम्हें जन्म दिया है ॥ ८० ॥

सर्वमेतत् परोक्षं मे यत् त्वं वदसि तापसि ।
नाहं त्वामभिजानामि यथेष्टं गम्यतां त्वया ॥ ८१ ॥

तुम जो कुछ कहती हो, वह सब मेरी आँखोंके सामने नहीं हुआ है । तापसी ! मैं तुम्हें नहीं पहचानता । तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं चली जाओ ॥ ८१ ॥

शकुन्तलोवाच

राजन् सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यसि ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यसि ॥ ८२ ॥

शकुन्तलाने कहा—राजन् ! आप दूसरोंके सरसों बराबर दोषोंको तो देखते रहते हैं, किंतु अपने बेलके समान बड़े-बड़े दोषोंको देखकर भी नहीं देखते ॥ ८२ ॥

मेनका त्रिदशेष्वेव त्रिदशाश्चानु मेनकाम् ।
ममैवोद्रिच्यते जन्म दुष्यन्त तव जन्मनः ॥ ८३ ॥

मेनका देवताओंमें रहती है और देवता मेनकाके पीछे चलते हैं—उसका आदर करते हैं (उसी मेनकासे मेरा जन्म हुआ है); अतः महाराज दुष्यन्त ! आपके जन्म और कुलसे मेरा जन्म और कुल बढ़कर है ॥ ८३ ॥

क्षितावटसि राजेन्द्र अन्तरिक्षे चराम्यहम् ।
आवयोरन्तरं पश्य मेरुसर्षपयोरिव ॥ ८४ ॥

राजेन्द्र ! आप केवल पृथ्वीपर घूमते हैं, किन्तु मैं आकाशमें भी चल सकती हूँ । तनिक ध्यानसे देखिये, मुझमें और आपमें सुमेरु पर्वत और सरसोंका-सा अन्तर है ॥८४॥

महेन्द्रस्य कुबेरस्य यमस्य वरुणस्य च ।
भवनान्यनुसंयामि प्रभावं पश्य मे नृप ॥ ८५ ॥

नरेश्वर ! मेरे प्रभावको देख लो । मैं इन्द्र, कुबेर, यम और वरुण—सभीके लोकोंमें निरन्तर आने-जानेकी शक्ति रखती हूँ ॥ ८५ ॥

सत्यश्चापि प्रवादोऽयं यं प्रवक्ष्यामि तेऽनघ ।
निदर्शनार्थं न द्वेषाच्छ्रुत्वा तं क्षन्तुमर्हसि ॥ ८६ ॥

अनघ ! लोकमें एक कहावत प्रसिद्ध है और वह सत्य भी है, जिसे मैं दृष्टान्तके तौरपर आपसे कहूँगी; द्वेषके कारण नहीं । अतः उसे सुनकर क्षमा कीजियेगा ॥ ८६ ॥

विरूपो यावदादर्शे नात्मनः पश्यते मुखम् ।
मन्यते तावदात्मानमन्येभ्यो रूपवत्तरम् ॥ ८७ ॥

कुरूप मनुष्य जबतक आइनेमें अपना मुँह नहीं देख लेता, तबतक वह अपनेको दूसरोंसे अधिक रूपवान् समझता है ॥८७॥

यदा स्वमुखमादर्शे विकृतं सोऽभिवीक्षते ।
तदान्तरं विजानीते आत्मानं चेतरं जनम् ॥८८॥

किंतु जब कभी आइनेमें वह अपने विकृत मुखका दर्शन कर लेता है, तब अपने और दूसरोंमें क्या अन्तर है, यह उसकी समझमें आ जाता है ॥ ८८ ॥

अतीवरूपसम्पन्नो न कंचिदवमन्यते ।
अतीव जल्पन् दुर्वाचो भवतीह विहेठकः ॥८९॥

जो अत्यन्त रूपवान् है, वह किसी दूसरेका अपमान नहीं करता; परंतु जो रूपवान् न होकर भी अपने रूपकी प्रशंसामें अधिक बातें बनाता है, वह मुखसे खोटे वचन कहता और दूसरोंको पीडित करता है ॥ ८९ ॥

मूर्खो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
अशुभं वाक्यमादत्ते पुरीषमिव सूकरः ॥९०॥

मूर्ख मनुष्य परस्पर वार्तालाप करनेवाले दूसरे लोगोंकी भली-बुरी बातें सुनकर उनमेंसे बुरी बातोंको ही ग्रहण करता है; ठीक वैसे ही, जैसे सूअर अन्य वस्तुओंके रहते हुए भी विष्ठाको ही अपना भोजन बनाता है ॥ ९० ॥

प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः ।
गुणवद् वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥९१॥

परंतु विद्वान् पुरुष दूसरे वक्ताओंके शुभाशुभ वचनको सुनकर उनमेंसे गुणयुक्त बातोंको ही अपनाता है, ठीक उसी तरह, जैसे हंस पानीको छोड़कर केवल दूध ग्रहण कर लेता है ॥

अन्यान् परिवदन् साधुर्यथा हि परितप्यते ।
तथा परिवदन्नन्यांस्तुष्टो भवति दुर्जनः ॥९२॥

साधु पुरुष दूसरोंकी निन्दाका अवसर आनेपर जैसे अत्यन्त संतप्त हो उठता है, ठीक उसी प्रकार दुष्ट मनुष्य दूसरोंकी निन्दाका अवसर मिलनेपर बहुत संतुष्ट होता है ॥

अभिवाद्य यथा वृद्धान् सन्तो गच्छन्ति निर्वृतिम्।
एवं सज्जनमाक्रुश्य मूर्खो भवति निर्वृतः ॥९३॥
सुखं जीवन्त्यदोषज्ञा मूर्खा दोषानुदर्शिनः ।
यत्र वाच्याः परैः सन्तः परानाहुस्तथाविधान् ॥९४॥

जैसे साधु पुरुष बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करके बड़े प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मूर्ख मानव साधु पुरुषोंकी निन्दा करके संतोषका अनुभव करते हैं। साधु पुरुष दूसरोंके दोष न देखते हुए सुखसे जीवन बिताते हैं, किंतु मूर्ख मनुष्य सदा दूसरोंके दोष ही देखा करते हैं। जिन दोषोंके कारण दुष्टात्मा मनुष्य साधु पुरुषोंद्वारा निन्दाके योग्य समझे जाते हैं, दुष्टलोग वैसे ही दोषोंका साधु पुरुषोंपर आरोप करके उनकी निन्दा करते हैं ॥ ९३-९४ ॥

अतो हास्यतरं लोके किंचिदन्यन्न विद्यते ।
यत्र दुर्जनमित्याह दुर्जनः सज्जनं स्वयम् ॥९५॥

संसारमें इससे बढ़कर हँसीकी दूसरी कोई बात नहीं हो सकती कि जो दुर्जन हैं, वे स्वयं ही सज्जन पुरुषोंको दुर्जन कहते हैं ॥

सत्यधर्मच्युतात् पुंसः क्रुद्धादाशीविषादिव ।
अनास्तिकोऽप्युद्विजते जनः किं पुनरास्तिकः ॥९६॥

जो सत्यरूपी धर्मसे भ्रष्ट है, वह पुरुष क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पके समान भयंकर है। उससे नास्तिक भी भय खाता है; फिर आस्तिक मनुष्यके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥

स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं सदृशं यो न मन्यते ।
तस्य देवाः श्रियं घ्नन्ति न च लोकानुपाश्नुते ॥९७॥

जो स्वयं ही अपने तुल्य पुत्र उत्पन्न करके उसका सम्मान नहीं करता, उसकी सम्पत्तिको देवता नष्ट कर देते हैं और वह उत्तम लोकोंमें नहीं जाता ॥ ९७ ॥

कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन् ।
उत्तमं सर्वधर्माणां तस्मात् पुत्रं न संत्यजेत् ॥९८॥

पितरोंने पुत्रको कुल और वंशकी प्रतिष्ठा बताया है, अतः पुत्र सब धर्मोंमें उत्तम है। इसलिये पुत्रका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ ९८ ॥

स्वपत्नीप्रभवान् पञ्च लब्धान् क्रीतान् विवर्धितान् ।
कृतानन्यासु चोत्पन्नान् पुत्रान् वै मनुरब्रवीत् ॥९९॥

अपनी पत्नीसे उत्पन्न एक और अन्य स्त्रियोंसे उत्पन्न लब्ध, क्रीत, पोषित तथा उपनयनादिसे संस्कृत—ये चार मिलाकर कुल पाँच प्रकारके पुत्र मनुजीने बताये हैं ॥ ९९ ॥

धर्मकीर्त्यावहा नृणां मनसः प्रीतिवर्धनाः ।
त्रायन्ते नरकाज्जाताः पुत्रा धर्मप्लवाः पितॄन् ॥१००॥

ये सभी पुत्र मनुष्योंको धर्म और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाले तथा मनकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले होते हैं। पुत्र धर्मरूपी नौकाका आश्रय ले अपने पितरोंका नरकसे उद्धार कर देते हैं ॥

स त्वं नृपति शार्दूल पुत्रं न त्यक्तुमर्हसि ।
आत्मानं सत्यधर्मौ च पालयन् पृथिवीपते ।
नरेन्द्रसिंह कपटं न वोढुं त्वमिहार्हसि ॥१०१॥

अतः नृपश्रेष्ठ ! आप अपने पुत्रका परित्याग न करें। पृथ्वीपते ! नरेन्द्रप्रवर ! आप अपने आत्मा, सत्य और धर्म-का पालन करते हुए अपने सिरपर कपटका बोझ न उठावें ॥

वरं कूपशताद् वापी वरं वापीशतात् क्रतुः ।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम् ॥१०२॥

सौ कुँए खोदवानेकी अपेक्षा एक बावड़ी बनवाना उत्तम है। सौ बावड़ियोंकी अपेक्षा एक यज्ञ कर लेना उत्तम है।

सौ यज्ञ करनेकी अपेक्षा एक पुत्रको जन्म देना उत्तम है और सौ पुत्रोंकी अपेक्षा भी सत्यका पालन श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥१०३॥

एक हजार अश्वमेध यज्ञ एक ओर तथा सत्यभाषणका पुण्य दूसरी ओर यदि तराजूपर रक्खा जाय, तो हजार अश्वमेध यज्ञोंकी अपेक्षा सत्यका पलड़ा ही भारी होता है ॥ १०३ ॥

सर्ववेदाधिगमनं सर्वतीर्थावगाहनम् ।
सत्यं च वचनं राजन् समं वा स्यान्न वा समम् ॥१०४॥

राजन्! संपूर्ण वेदोंका अध्ययन और समस्त तीर्थोंका स्नान भी सत्य वचनकी समानता कर सकेगा या नहीं, इसमें संदेह ही है (क्योंकि सत्य उनसे भी श्रेष्ठ है) ॥ १०४ ॥

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद् विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किंचिदनृतादिह विद्यते ॥१०५॥

सत्यके समान कोई धर्म नहीं है। सत्यसे उत्तम कुछ भी नहीं है और झूठसे बढ़कर तीव्रतर पाप इस जगत्‌में दूसरा कोई नहीं है॥

राजन् सत्यं परं ब्रह्म सत्यं च समयः परः ।
मा त्याक्षीः समयं राजन् सत्यं संगतमस्तु ते ॥१०६॥

राजन्! सत्य परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। सत्य सबसे बड़ा नियम है। अतः महाराज! आप अपनी सत्य प्रतिज्ञाको न छोड़िये। सत्य आपका जीवनसङ्गी हो ॥ १०६ ॥

अनृते चेत् प्रसङ्गस्ते श्रद्दधासि न चेत् स्वयम् ।
आत्मना हन्त गच्छामि त्वादृशे नास्ति संगतम् ॥१०७॥

यदि आपकी झूठमें ही आसक्ति है और मेरी बातपर श्रद्धा नहीं करते हैं तो मैं स्वयं ही चली जाती हूँ। आप-जैसेके साथ रहना मुझे उचित नहीं है ॥ १०७ ॥

(पुत्रत्वे शङ्कमानस्य बुद्धिर्ज्ञापकदीपना ।
गतिः स्वरः स्मृतिः सत्त्वं शीलविज्ञानविक्रमाः ॥
धृष्णुप्रकृतिभावौ च आवर्ता रोमराजयः ।
समा यस्य यतः स्युस्ते तस्य पुत्रो न संशयः ॥
सादृश्येनोद्धृतं बिम्बं तव देहाद् विशाम्पते ।
तातेति भाषमाणं वै मा स्म राजन् वृथा कृथाः ॥)

यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसा संदेह होनेपर बुद्धि ही इसका निर्णय करनेवाली अथवा इस रहस्यपर प्रकाश डालनेवाली है। चाल-ढाल, स्वर, स्मरणशक्ति, उत्साह, शील-स्वभाव, विज्ञान, पराक्रम, साहस, प्रकृतिभाव, आवर्त (भँवर) तथा रोमावली—जिसकी ये सब वस्तुएँ जिससे सर्वथा मिलती-जुलती हों, वह उसीका पुत्र है, इसमें संशय नहीं है। राजन्! आपके शरीरसे पूर्ण समानता लेकर यह बिम्बकी भाँति प्रकट हुआ है और आपको 'तात' कहकर पुकार रहा है। आप इसकी आशा न तोड़ें ॥

त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त शैलराजावतंसकाम् ।
चतुरन्तामिमामुर्वी पुत्रो मे पालयिष्यति ॥१०८॥

महाराज दुष्यन्त! मैं एक बात कहे देती हूँ, आपके सहयोगके बिना भी मेरा यह पुत्र चारों समुद्रोंसे घिरी हुई गिरिराज हिमालयरूपी मुकुटसे सुशोभित समूची पृथ्वीका शासन करेगा ॥ १०८ ॥

(शकुन्तले तव सुतश्चक्रवर्ती भविष्यति ।
एवमुक्तो महेन्द्रेण भविष्यति न चान्यथा ॥
साक्षित्वे बहवोऽप्युक्ता देवदूतादयो मताः ।
न ब्रुवन्ति यथा सत्यमुताहोऽप्यनृतं किल ॥
असाक्षिणी मन्दभाग्या गमिष्यामि यथाऽऽगतम् ।)

देवराज इन्द्रका वचन है 'शकुन्तले! तुम्हारा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा।' यह कभी मिथ्या नहीं हो सकता। यद्यपि देवदूत आदि बहुत-से साक्षी बताये गये हैं, तथापि इस समय वे क्या सत्य है और क्या असत्य-इसके विषयमें कुछ नहीं कह रहे हैं। अतः साक्षीके अभावमें यह भाग्यहीन शकुन्तला जैसे आयी है, वैसे ही लौट जायगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा राजानं प्रातिष्ठत शकुन्तला ।
अथान्तरिक्षाद् दुष्यन्तं वागुवाचाशरीरिणी ॥१०९॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मन्त्रिभिश्च वृतं तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा दुष्यन्तसे इतनी बातें कहकर शकुन्तला वहाँसे चलनेको उद्यत हुई। इतनेमें ही ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य और मन्त्रियोंसे घिरे हुए दुष्यन्तको सम्बोधित करते हुए आकाशवाणी हुई ॥ १०९½ ॥

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ॥११०॥
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ।
(सर्वेभ्यो ह्यङ्गमङ्गेभ्यः साक्षादुत्पद्यते सुतः ।
आत्मा चैष सुतो नाम तथैव तव पौरव ॥
आहितं ह्यात्मनाऽऽत्मानं परिरक्ष इमं सुतम् ।
अनन्यां स्वां प्रतीक्षस्व मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥
स्त्रियः पवित्रमतुलमेतद् दुष्यन्त धर्मतः ।
मासि मासि रजो ह्यासां दुष्कृतान्यपकर्षति ॥)
रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ॥१११॥
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ।
जाया जनयते पुत्रमात्मनोऽङ्गं द्विधा कृतम् ॥११२॥

'दुष्यन्त! माता तो केवल भाथी (धौंकनी) के

समान है। पुत्र पिताका ही होता है; क्योंकि जो जिसके द्वारा उत्पन्न होता है, वह उसीका स्वरूप है—इस न्यायसे पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है, अतः दुष्यन्त ! तुम पुत्रका पालन करो। शकुन्तलाका अनादर मत करो ! पौरव ! पुत्र साक्षात् अपना ही शरीर है। वह पिताके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न होता है। वास्तवमें वह पुत्रनामसे प्रसिद्ध अपना आत्मा ही है। ऐसा ही यह तुम्हारा पुत्र भी है। अपने द्वारा ही गर्भमें स्थापित किये हुए आत्मस्वरूप इस पुत्रकी तुम रक्षा करो। शकुन्तला तुम्हारे प्रति अनन्य अनुराग रखनेवाली धर्म-पत्नी है। इसे इसी दृष्टिसे देखो ! उसका अनादर मत करो। दुष्यन्त ! स्त्रियाँ अनुपम पवित्र वस्तु हैं, यह धर्मतः स्वीकार किया गया है। प्रत्येक मासमें इनके जो रजःस्राव होता है, वह इनके सारे दोषोंको दूर कर देता है। नरदेव ! वीर्यका आधान करनेवाला पिता ही पुत्र बनता है और वह यमलोकसे अपने पितृगणका उद्धार करता है। तुमने ही इस गर्भका आधान किया था। शकुन्तला सत्य कहती है। जाया (पत्नी) दो भागोंमें विभक्त हुए पतिके अपने ही शरीरको पुत्ररूपमें उत्पन्न करती है ॥ ११०-११२ ॥

तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप ॥
अभूतिरेषा यत्त्यक्त्वा जीवेज्जीवन्तमात्मजम् ॥११३॥

'इसलिये राजा दुष्यन्त ! तुम शकुन्तलासे उत्पन्न हुए अपने पुत्रका पालन-पोषण करो। अपने जीवित पुत्रको त्यागकर जीवन धारण करना बड़े दुर्भाग्यकी बात है।

शाकुन्तलं महात्मानं दौष्यन्तिं भर पौरव।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि ॥११४॥
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः।

'पौरव ! यह महामना बालक शकुन्तला और दुष्यन्त दोनोंका पुत्र है। हम देवताओंके कहनेसे तुम इसका भरण-पोषण करोगे, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र भरतके नामसे विख्यात होगा ॥ ११४ ॥

(एवमुक्त्वा ततो देवा ऋषयश्च तपोधनाः।
पतिव्रतेति संहृष्टाः पुष्पवृष्टिं ववर्षिरे ॥)
तच्छ्रुत्वा पौरवो राजा व्याहृतं त्रिदिवौकसाम् ॥११५॥
पुरोहितममात्यांश्च सम्प्रहृष्टोऽब्रवीदिदम्।
शृण्वन्त्वेतद् भवन्तोऽस्य देवदूतस्य भाषितम् ॥११६॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् !) ऐसा कहकर देवता तथा तपस्वी ऋषि शकुन्तलाको पतिव्रता बतलाते हुए उसपर फूलोंकी वर्षा करने लगे। पूरुवंशी राजा दुष्यन्त देवताओंकी यह बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और पुरोहित तथा मन्त्रियोंसे इस प्रकार बोले—'आपलोग इस देवदूतका कथन भलीभाँति सुन लें ॥ ११५-११६ ॥

अहं चाप्येवमेवैनं जानामि स्वयमात्मजम्।
यद्यहं वचनादस्या गृह्णीयामि ममात्मजम् ॥११७॥
भवेद्धि शङ्क्यो लोकस्य नैव शुद्धो भवेदयम्।

'मैं भी अपने इस पुत्रको इसी रूपमें जानता हूँ। यदि केवल शकुन्तलाके कहनेसे मैं इसे ग्रहण कर लेता, तो सब लोग इसपर संदेह करते और यह बालक विशुद्ध नहीं माना जाता' ॥ ११७½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं विशोध्य तदा राजा देवदूतेन भारत।
हृष्टः प्रमुदितश्चापि प्रतिजग्राह तं सुतम् ॥११८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! इस प्रकार देवदूतके वचनसे उस बालककी शुद्धता प्रमाणित करके राजा दुष्यन्तने हर्ष और आनन्दमें मग्न हो उस समय अपने उस पुत्रको ग्रहण किया ॥ ११८ ॥

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ॥११९॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने पिताको जो-जो कार्य करने चाहिये, वे सब उपनयन आदि संस्कार बड़े आनन्द और प्रेमके साथ अपने उस पुत्रके लिये (शास्त्र और कुलकी मर्यादाके अनुसार) कराये ॥ ११९ ॥

मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च वन्दिभिः।
स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ॥१२०॥

और उसका मस्तक सूँघकर अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसे हृदयसे लगा लिया। उस समय ब्राह्मणोंने उन्हें आशीर्वाद दिया और वन्दीजनोंने उनके गुण गाये। महाराजने पुत्र-स्पर्शजनित परम आनन्दका अनुभव किया ॥ १२० ॥

तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः।
अब्रवीच्चैव तां राजा सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥१२१॥

दुष्यन्तने अपनी पत्नी शकुन्तलाका भी धर्मपूर्वक आदर-सत्कार किया और उसे समझाते हुए कहा—॥१२१॥

कृतो लोकपरोक्षोऽयं सम्बन्धो वै त्वया सह।
तस्मादेतन्मया देवि त्वच्छुद्ध्यर्थं विचारितम् ॥१२२॥

'देवि ! मैंने तुम्हारे साथ जो विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया था, उसे साधारण जनता नहीं जानती थी। अतः तुम्हारी शुद्धिके लिये ही मैंने यह उपाय सोचा था ॥ १२२ ॥

(ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव पृथग्विधाः।
त्वां देवि पूजयिष्यन्ति निर्विशङ्कं पतिव्रताम् ॥)

'देवि ! तुम निःसंदेह पतिव्रता हो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये सभी पृथक्-पृथक् तुम्हारा पूजन (समादर) करेंगे ॥

मन्यते चैव लोकस्ते स्त्रीभावान्मयि संगतम्।
पुत्रश्चायं वृतो राज्ये मया तस्माद् विचारितम् ॥१२३॥

'यदि इस प्रकार तुम्हारी शुद्धि न होती तो लोग यही समझते कि तुमने स्त्री-स्वभावके कारण कामवश मुझसे सम्बन्ध स्थापित कर लिया और मैंने भी कामके अधीन होकर ही तुम्हारे पुत्रको राज्यपर बिठानेकी प्रतीज्ञा कर ली। हम दोनोंके धार्मिक सम्बन्धपर किसीका विश्वास नहीं होता; इसीलिये यह उपाय सोचा गया था ॥ १२३ ॥

यच्च कोपितयात्यर्थं त्वयोक्तोऽस्म्यप्रियं प्रिये ।
प्रणयिन्या विशालाक्षि तत् क्षान्तं ते मया शुभे॥१२४॥

'प्रिये ! विशाललोचने ! तुमने भी कुपित होकर जो मेरे लिये अत्यन्त अप्रिय वचन कहे हैं, वे सब मेरे प्रति तुम्हारा अत्यन्त प्रेम होनेके कारण ही कहे गये हैं । अतः शुभे ! मैंने वह सब अपराध क्षमा कर दिया है ॥ १२४ ॥

(अनृतं वाप्यनिष्टं वा दुरुक्तं वापि दुष्कृतम् ।
त्वयाप्येवं विशालाक्षि क्षन्तव्यं मम दुर्वचः ॥
क्षान्त्या पतिकृते नार्यः पातिव्रत्यं व्रजन्ति ताः ।)

'विशाल नेत्रोंवाली देवि ! इसी प्रकार तुम्हें भी मेरे कहे हुए असत्य, अप्रिय, कटु एवं पापपूर्ण दुर्वचनोंके लिये मुझे क्षमा कर देना चाहिये। पतिके लिये क्षमाभाव धारण करनेसे स्त्रियाँ पातिव्रत्य-धर्मको प्राप्त होती हैं' ॥

तामेवमुक्त्वा राजर्षिर्दुष्यन्तो महिषीं प्रियाम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च पूजयामास भारत ॥१२५॥

जनमेजय ! अपनी प्यारी रानीसे ऐसी बात कहकर राजर्षि दुष्यन्तने अन्न, पान और वस्त्र आदिके द्वारा उसका आदर-सत्कार किया ॥ १२५ ॥

(स मातरमुपस्थाय रथन्तर्यामभाषत ।
मम पुत्रो वने जातस्तव शोकप्रणाशनः ॥
ऋणादद्य विमुक्तोऽहमस्मि पौत्रेण ते शुभे ।
विश्वामित्रसुता चेयं कण्वेन च विवर्धिता ॥
स्नुषा तव महाभागे प्रसीदस्व शकुन्तलाम् ।
पुत्रस्य वचनं श्रुत्वा पौत्रं सा परिषस्वजे ॥
पादयोः पतितां तत्र रथन्तर्या शकुन्तलाम् ।
परिष्वज्य च बाहुभ्यां हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥
उवाच वचनं सत्यं लक्षयँल्लक्षणानि च ।
तव पुत्रो विशालाक्षि चक्रवर्ती भविष्यति ॥
तव भर्ता विशालाक्षि त्रैलोक्यविजयी भवेत् ।
दिव्यान् भोगाननुप्राप्ता भव त्वं वरवर्णिनि ॥
एवमुक्ता रथन्तर्या परं हर्षमवाप सा ।
शकुन्तलां तदा राजा शास्त्रोक्तेनैव कर्मणा ॥
ततोऽग्रमहिषीं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताम् ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सैनिकानां च भूपतिः ॥)

तदनन्तर वे अपनी माता रथन्तर्याके पास जाकर बोले— 'माँ ! यह मेरा पुत्र है, जो वनमें उत्पन्न हुआ है। यह तुम्हारे शोकका नाश करनेवाला होगा । शुभे ! तुम्हारे इस पौत्रको पाकर आज मैं पितृ-ऋणसे मुक्त हो गया । महाभागे ! यह तुम्हारी पुत्र-वधू है महर्षि विश्वामित्रने इसे जन्म दिया और महात्मा कण्वने पाला है। तुम शकुन्तलापर कृपादृष्टि रक्खो।' पुत्रकी यह बात सुनकर राजमाता रथन्तर्याने पौत्रको हृदयसे लगा लिया और अपने चरणोंमें पड़ी हुई शकुन्तलाको दोनों भुजाओंमें भरकर वे हर्षके आँसू बहाने लगीं । साथ ही पौत्रके शुभ लक्षणोंकी ओर संकेत करती हुई बोलीं— 'विशालाक्षि ! तेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। तेरे पतिको तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त हो । सुन्दरि ! तुम्हें सदा दिव्य भोग प्राप्त होते रहें ।' यह कहकर राजमाता रथन्तर्या अत्यन्त हर्षसे विभोर हो उठीं । उस समय राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार समस्त आभूषणोंसे विभूषित शकुन्तलाको पटरानीके पदपर अभिषिक्त करके ब्राह्मणों तथा सैनिकोंको बहुत धन अर्पित किया ॥

दुष्यन्तस्तु तदा राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१२६॥

तदनन्तर महाराज दुष्यन्तने शकुन्तलाकुमारका नाम भरत रखकर उसे युवराजके पदपर अभिषिक्त कर दिया।१२६।

(भरते भारमावेश्य कृतकृत्योऽभवन्नृपः ।
ततो वर्षशतं पूर्णं राज्यं कृत्वा नराधिपः ॥
कृत्वा दानानि दुष्यन्तः स्वर्गलोकमुपेयिवान् ।)

फिर भरतको राज्यका भार सौंपकर महाराज दुष्यन्त कृतकृत्य हो गये। वे पूरे सौ वर्षोंतक राज्य भोगकर विविध प्रकारके दान दे अन्तमें स्वर्गलोक सिधारे ॥

तस्य तत् प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसंनादनं महत् ॥१२७॥

महात्मा राजा भरतका विख्यात चक्र[1] सब ओर घूमने लगा। वह अत्यन्त प्रकाशमान, दिव्य और अजेय था। वह महान् चक्र अपनी भारी आवाजसे सम्पूर्ण जगत्को प्रतिध्वनित करता चलता था ॥ १२७ ॥

स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥१२८॥

उन्होंने सब राजाओंको जीतकर अपने अधीन कर लिया तथा सत्पुरुषोंके धर्मका पालन और उत्तम यशका उपार्जन किया ॥ १२८ ॥

स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
ईजे च बहुभिर्यज्ञैर्यथा शक्रो मरुत्पतिः ॥१२९॥

१. चक्रके विशेषणोंसे यहाँ यही अनुमान होता है कि भरतके पास सुदर्शन चक्रके समान ही कोई चक्र था ।

महाराज भरत समस्त भूमण्डलमें विख्यात, प्रतापी एवं चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होंने देवराज इन्द्रकी भाँति बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया ॥ १२९ ॥

याजयामास तं कण्वो विधिवद् भूरिदक्षिणम्।
श्रीमान् गोविततं नाम वाजिमेधमवाप सः।
यस्मिन् सहस्रं पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥१३०॥

महर्षि कण्वने आचार्य होकर भरतसे प्रचुर दक्षिणाओंसे युक्त 'गोवितत' नामक अश्वमेध यज्ञका विधिपूर्वक अनुष्ठान करवाया। श्रीमान् भरतने उस यज्ञका पूरा फल प्राप्त किया। उसमें महाराज भरतने आचार्य कण्वको एक सहस्र पद्म स्वर्णमुद्राएँ दक्षिणारूपमें दीं ॥ १३० ॥

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥१३१॥

भरतसे ही इस भूखण्डका नाम भारत (अथवा भूमिका नाम भारती) हुआ। उन्हींसे यह कौरववंश भरतवंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उनके बाद उस कुलमें पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भरतवंशी) कहे जाते हैं ॥ १३१ ॥

भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः।
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ॥१३२॥
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः।
तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत।
महाभागान् देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान् ॥१३३॥

भरतके कुलमें देवताओंके समान महापराक्रमी तथा ब्रह्माजीके समान तेजस्वी बहुत-से राजर्षि हो गये हैं, जिनके सम्पूर्ण नामोंकी गणना असम्भव है। जनमेजय ! इनमें जो मुख्य हैं, उन्हींके नामोंका तुमसे वर्णन करूँगा। वे सभी महाभाग नरेश देवताओंके समान तेजस्वी तथा सत्य, सरलता आदि धर्मोंमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १३२-१३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शकुन्तलोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शकुन्तलोपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(इस अध्यायमें १३३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८९॥ श्लोक और कुल २२२½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दक्ष, वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्रोंकी उत्पत्ति; पुरूरवा, नहुष और ययातिके चरित्रोंका संक्षेपसे वर्णन

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥ २ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—निष्पाप जनमेजय ! अब मैं दक्ष प्रजापति, वैवस्वत मनु, भरत, कुरु, पूरु, अजमीढ़, यादव, कौरव तथा भरतवंशियोंकी कुल-परम्पराका तुमसे वर्णन करूँगा। उनका कुल परम पवित्र, महान् मङ्गलकारी तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है ॥१-२½॥

तेजोभिरुदिताः सर्वे महर्षिसमतेजसः ॥ ३ ॥
दश प्राचेतसः पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्वं दग्धा महीरुहाः ॥ ४ ॥

प्रचेताके दस पुत्र थे, जो अपने तेजके द्वारा सदा प्रकाशित होते थे। वे सब-के-सब महर्षियोंके समान तेजस्वी, सत्पुरुष और पुण्यकर्मा माने गये हैं। उन्होंने पूर्वकालमें अपने मुखसे प्रकट की हुई अग्निद्वारा उन बड़े-बड़े वृक्षोंको जलाकर भस्म कर दिया था। (जो प्राणियोंको पीडा दे रहे थे) ॥ ३-४ ॥

तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
सम्भूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः ॥ ५ ॥

उक्त दस प्रचेताओंद्वारा (मारीषाके गर्भसे) प्राचेतस दक्षका जन्म हुआ तथा दक्षसे ये समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं। नरश्रेष्ठ ! वे सम्पूर्ण जगत्के पितामह हैं ॥ ५ ॥

वीरिण्या सह संगम्य दक्षः प्राचेतसो मुनिः।
आत्मतुल्यानजनयत् सहस्रं संशितव्रतान् ॥ ६ ॥

प्राचेतस मुनि दक्षने वीरिणीसे समागम करके अपने ही समान गुण-शीलवाले एक हजार पुत्र उत्पन्न किये। वे सब-के-सब अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले थे ॥ ६ ॥

सहस्रसंख्यान् सम्भूतान् दक्षपुत्रांश्च नारदः।
मोक्षमध्यापयामास सांख्यज्ञानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

एक सहस्रकी संख्यामें प्रकट हुए उन दक्ष-पुत्रोंको देवर्षि नारदजीने मोक्ष-शास्त्रका अध्ययन कराया। परम उत्तम सांख्य-ज्ञानका उपदेश किया ॥ ७ ॥

ततः पञ्चाशतं कन्याः पुत्रिका अभिसंदधे।
प्रजापतिः प्रजा दक्षः सिसृक्षुर्जनमेजय ॥ ८ ॥

जनमेजय ! जब वे सभी विरक्त होकर घरसे निकल गये, तब

प्रजाकी सृष्टि करनेकी इच्छासे प्रजापति दक्षने पुत्रिकाके द्वारा पुत्र (दौहित्र) होनेपर उस पुत्रिकाको ही पुत्र मानकर पचास कन्याएँ उत्पन्न कीं ॥ ८ ॥

ददौ दश स धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।
कालस्य नयने युक्ताः सप्तविंशतिमिन्दवे ॥ ९ ॥

उन्होंने दस कन्याएँ धर्मको, तेरह कश्यपको और कालका संचालन करनेमें नियुक्त नक्षत्रस्वरूपा सत्ताईस कन्याएँ चन्द्रमाको ब्याह दीं ॥ ९ ॥

त्रयोदशानां पत्नीनां या तु दाक्षायणी वरा।
मारीचः कश्यपस्त्वस्यामादित्यान् समजीजनत्॥ १०॥
इन्द्रादीन् वीर्यसम्पन्नान् विवस्वन्तमथापि च।
विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ॥ ११ ॥

मरीचिनन्दन कश्यपने अपनी तेरह पत्नियोंमेंसे जो सबसे बड़ी दक्ष-कन्या अदिति थीं, उनके गर्भसे इन्द्र आदि बारह आदित्योंको जन्म दिया, जो बड़े पराक्रमी थे। तदनन्तर उन्होंने अदितिसे ही विवस्वान्‌को उत्पन्न किया। विवस्वान्‌के पुत्र यम हुए, जो वैवस्वत कहलाते हैं। वे समस्त प्राणियोंके नियन्ता हैं॥

मार्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः।
यमश्चापि सुतो जज्ञे ख्यातस्तस्यानुजः प्रभुः ॥ १२ ॥

विवस्वान्‌के ही पुत्र परम बुद्धिमान् मनु हुए, जो बड़े प्रभावशाली हैं। मनुके बाद उनसे यम नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई, जो सर्वत्र विख्यात हैं। यमराज मनुके छोटे भाई तथा प्राणियोंका नियमन करनेमें समर्थ हैं ॥ १२ ॥

धर्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥ १३ ॥

बुद्धिमान् मनु बड़े धर्मात्मा थे, जिनपर सूर्यवंशकी प्रतिष्ठा हुई। मानवोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह मनुवंश उन्हींसे विख्यात हुआ ॥ १३ ॥

ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः।
ततोऽभवन्महाराज ब्रह्म क्षत्रेण संगतम् ॥ १४ ॥

उन्हीं मनुसे ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब मानव उत्पन्न हुए हैं। महाराज! तभीसे ब्राह्मणकुल क्षत्रियसे सम्बद्ध हुआ॥१४॥

ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन्।
वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ॥ १५ ॥
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ॥ १६ ॥
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते।
पञ्चाशत् तु मनोः पुत्रास्तथैवान्येऽभवन् क्षितौ ॥ १७ ॥

उनमेंसे ब्राह्मणजातीय मानवोंने छहों अङ्गोंसहित वेदोंको धारण किया। वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, कारूष, शर्याति, आठवीं इला, नवें क्षत्रिय-धर्मपरायण पृषध्र तथा दसवें नाभागारिष्ट—इन दसोंको मनुपुत्र कहा जाता है। मनुके इस पृथ्वीपर पचास पुत्र और हुए ॥ १५-१७ ॥

अन्योन्यभेदात् ते सर्वे विनेशुरिति नः श्रुतम्।
पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ॥ १८ ॥

परंतु आपसकी फूटके कारण वे सब-के-सब नष्ट हो गये, ऐसा हमने सुना है। तदनन्तर इलाके गर्भसे विद्वान् पुरूरवाका जन्म हुआ ॥ १८ ॥

सा वै तस्याभवन्माता पिता चैवेति नः श्रुतम्।
त्रयोदश समुद्रस्य द्वीपानश्नन् पुरूरवाः ॥ १९ ॥

सुना जाता है, इला पुरूरवाकी माता भी थी और पिता भी*। राजा पुरूरवा समुद्रके तेरह द्वीपोंका शासन और उपभोग करते थे ॥ १९ ॥

अमानुषैर्वृतः सत्त्वैर्मानुषः सन् महायशाः।
विप्रैः स विग्रहं चक्रे वीर्योन्मत्तः पुरूरवाः ॥ २० ॥
जहार च स विप्राणां रत्नान्युत्क्रोशतामपि।

महायशस्वी पुरूरवा मनुष्य होकर भी मानवेतर प्राणियोंसे घिरे रहते थे। वे अपने बल-पराक्रमसे उन्मत्त हो ब्राह्मणोंके साथ विवाद करने लगे। बेचारे ब्राह्मण चीखते-चिल्लाते रहते थे तो भी वे उनका सारा धन-रत्न छीन लेते थे ॥२०½ ॥

सनत्कुमारस्तं राजन् ब्रह्मलोकादुपेत्य ह ॥ २१ ॥
अनुदर्शं ततश्चक्रे प्रत्यगृह्णन्न चाप्यसौ।
ततो महर्षिभिः क्रुद्धैः सद्यः शप्तो व्यनश्यत ॥ २२ ॥

जनमेजय! ब्रह्मलोकसे सनत्कुमारजीने आकर उन्हें बहुत समझाया और ब्राह्मणोंपर अत्याचार न करनेका उपदेश दिया, किंतु वे उनकी शिक्षा ग्रहण न कर सके। तब क्रोधमें भरे हुए महर्षियोंने तत्काल उन्हें शाप दे दिया, जिससे वे नष्ट हो गये ॥ २१-२२ ॥

लोभान्वितो बलमदान्नष्टसंज्ञो नराधिपः।
स हि गन्धर्वलोकस्थानुर्वश्या सहितो विराट् ॥ २३ ॥
आनिनाय क्रियार्थेऽग्नीन् यथावद् विहितांस्त्रिधा।
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ॥ २४ ॥
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः।
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिं गयमनेनसम् ॥ २५ ॥
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान् प्रचक्षते।
आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥

* वास्तवमें इला माता ही थी। जन्मदाता पिता चन्द्रमाके पुत्र बुध थे, परंतु इला जब पुरुषरूपमें परिणत हुई तो उसका नाम सुद्युम्न हुआ। सुद्युम्नने ही पुरूरवाको राज्य दिया था, इसलिये वे पिता भी कहे जाते हैं।

राजा पुरूरवा लोभसे अभिभूत थे और बलके घमंडमें आकर अपनी विवेक-शक्ति खो बैठे थे। वे शोभाशाली नरेश ही गन्धर्वलोकमें स्थित और विधिपूर्वक स्थापित त्रिविध अग्नियोंको उर्वशीके साथ इस धरातलपर लाये थे। इलानन्दन पुरूरवाके छः पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—आयु, धीमान्, अमावसु, दृढ़ायु, वनायु और शतायु। ये सभी उर्वशीके पुत्र हैं। उनमेंसे आयुके स्वर्भानुकुमारीके गर्भसे उत्पन्न पाँच पुत्र बताये जाते हैं—नहुष, वृद्धशर्मा, रजि, गय तथा अनेना। आयुर्नन्दन नहुष बड़े बुद्धिमान् और सत्यपराक्रमी थे॥ २३–२६॥

राज्यं शशास सुमहद् धर्मेण पृथिवीपते।
पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् गन्धर्वोरगराक्षसान्॥२७॥
नहुषः पालयामास ब्रह्मक्षत्रमथो विशः।
स हत्वा दस्युसंघातानृषीन् करमदापयत्॥२८॥

पृथ्वीपते! उन्होंने अपने विशाल राज्यका धर्मपूर्वक शासन किया। पितरों, देवताओं, ऋषियों, ब्राह्मणों, गन्धर्वों, नागों, राक्षसों तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंका भी पालन किया। राजा नहुषने झुंड-के-झुंड डाकुओं और लुटेरोंका वध करके ऋषियोंको भी कर देनेके लिये विवश किया॥२७-२८॥

पशुवच्चैव तान् पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान्।
कारयामास चेन्द्रत्वमभिभूय दिवौकसः॥२९॥
तेजसा तपसा चैव विक्रमेणौजसा तथा।
यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम्॥३०॥
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः।
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः॥३१॥

अपने इन्द्रत्वकालमें पराक्रमी नहुषने महर्षियोंको पशुकी तरह वाहन बनाकर उनकी पीठपर सवारी की थी। उन्होंने तेज, तप, ओज और पराक्रमद्वारा समस्त देवताओंको तिरस्कृत करके इन्द्रपदका उपभोग किया था। राजा नहुषने छः प्रियवादी पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव। इनमें यति योगका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत मुनि हो गये थे॥ २९–३१॥

ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत् सत्यपराक्रमः।
स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः॥३२॥

तब नहुषके दूसरे पुत्र सत्यपराक्रमी ययाति सम्राट् हुए। उन्होंने इस पृथ्वीका पालन तथा बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान किया॥

अतिभक्त्या पितॄनर्चन् देवांश्च प्रयतः सदा।
अन्वगृह्णात् प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः॥३३॥
तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिता गुणैः।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे॥३४॥

महाराज ययाति किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे। वे सदा मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर बड़े भक्ति-भावसे देवताओं तथा पितरोंका पूजन करते और समस्त प्रजापर अनुग्रह रखते थे। महाराज जनमेजय! राजा ययातिके देवयानी और शर्मिष्ठाके गर्भसे महान् धनुर्धर पुत्र उत्पन्न हुए। वे सभी समस्त सद्गुणोंके भण्डार थे॥ ३३-३४॥

देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च।
द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्च शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे॥३५॥

यदु और तुर्वसु—ये दो देवयानीके पुत्र थे और द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन शर्मिष्ठाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे॥

स शाश्वतीः समा राजन् प्रजा धर्मेण पालयन्।
जरामार्च्छन्महाघोरां नाहुषो रूपनाशिनीम्॥३६॥

राजन्! वे सर्वदा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते थे। एक समय नहुषपुत्र ययातिको अत्यन्त भयानक वृद्धावस्था प्राप्त हुई, जो रूप और सौन्दर्यका नाश करनेवाली है॥ ३६॥

जराभिभूतः पुत्रान् स राजा वचनमब्रवीत्।
यदुं पूरुं तुर्वसुं च द्रुह्युं चानुं च भारत॥३७॥

जनमेजय! वृद्धावस्थासे आक्रान्त होनेपर राजा ययातिने अपने समस्त पुत्रों यदु, पूरु, तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुसे कहा—॥३७॥

यौवनेन चरन् कामान् युवा युवतिभिः सह।
विहर्तुमहमिच्छामि साह्यं कुरुत पुत्रकाः॥३८॥

'पुत्रो! मैं युवावस्थासे सम्पन्न हो जवानीके द्वारा कामोपभोग करते हुए युवतियोंके साथ विहार करना चाहता हूँ। तुम मेरी सहायता करो'॥ ३८॥

तं पुत्रो देवयानेयः पूर्वजो वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं भवतः कार्यमस्माकं यौवनेन ते॥३९॥

यह सुनकर देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुने पूछा—'भगवन्! हमारी जवानी लेकर उसके द्वारा आपको कौन-सा कार्य करना है'॥ ३९॥

ययातिरब्रवीत् तं वै जरा मे प्रतिगृह्यताम्।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम्॥४०॥

तब ययातिने उससे कहा—'तुम मेरा बुढ़ापा ले लो और मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोपभोग करूँगा॥ ४०॥

यजतो दीर्घसत्रैर्मे शापाच्चोशनसो मुनेः।
कामार्थः परिहीणोऽयं तप्येयं तेन पुत्रकाः॥४१॥

'पुत्रो! अबतक तो मैं दीर्घकालीन यज्ञोंके अनुष्ठानमें लगा रहा और अब मुनिवर शुक्राचार्यके शापसे बुढ़ापेने मुझे धर दबाया है, जिससे मेरा कामरूप पुरुषार्थ छिन गया। इसीसे मैं संतप्त हो रहा हूँ॥ ४१॥

मामकेन शरीरेण राज्यमेकः प्रशास्तु वः।
अहं तन्वाभिनवया युवा काममवाप्नुयाम्॥४२॥

'तुममेंसे कोई एक व्यक्ति मेरा वृद्ध शरीर लेकर उसके द्वारा राज्यशासन करे। मैं नूतन शरीर पाकर युवावस्थासे सम्पन्न हो विषयोंका उपभोग करूँगा' ॥ ४२ ॥

ते न तस्य प्रत्यगृह्णन् यदुप्रभृतयो जराम्।
तमब्रवीत् ततः पूरुः कनीयान् सत्यविक्रमः ॥४३॥
राजंश्चराभिनवया तन्वा यौवनगोचरः।
अहं जरां समादाय राज्ये स्थास्यामि तेऽऽज्ञया ॥४४॥

राजाके ऐसा कहनेपर भी वे यदु आदि चार पुत्र उनकी वृद्धावस्था न ले सके। तब सबसे छोटे पुत्र सत्यपराक्रमी पूरुने कहा—राजन्! आप मेरे नूतन शरीरसे नौजवान होकर विषयोंका उपभोग कीजिये। मैं आपकी आज्ञासे बुढ़ापा लेकर राज्यसिंहासनपर बैठूँगा' ॥ ४३-४४ ॥

एवमुक्तः स राजर्षिस्तपोवीर्यसमाश्रयात्।
संचारयामास जरां तदा पुत्रे महात्मनि ॥४५॥

पूरुके ऐसा कहनेपर राजर्षि ययातिने तप और वीर्यके आश्रयसे अपनी वृद्धावस्थाका अपने महात्मा पुत्र पूरुमें संचार कर दिया ॥ ४५ ॥

पौरवेणाथ वयसा राजा यौवनमास्थितः।
यायातेनापि वयसा राज्यं पूरुरकारयत् ॥४६॥

ययाति स्वयं पूरुकी नयी अवस्था लेकर नौजवान बन गये। इधर पूरु भी राजा ययातिकी अवस्था लेकर उसके द्वारा राज्यका पालन करने लगे ॥ ४६ ॥

ततो वर्षसहस्राणि ययातिरपराजितः।
स्थितः स नृपशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमः ॥४७॥

तदनन्तर किसीसे परास्त न होनेवाले और सिंहके समान पराक्रमी नृपश्रेष्ठ ययाति एक सहस्र वर्षतक युवावस्थामें स्थित रहे ॥ ४७ ॥

ययातिरपि पत्नीभ्यां दीर्घकालं विहृत्य च।
विश्वाच्या सहितो रेमे पुनश्चैत्ररथे वने ॥४८॥

उन्होंने अपनी दोनों पत्नियोंके साथ दीर्घकालतक विहार करके चैत्ररथ वनमें जाकर विश्वाची अप्सराके साथ रमण किया॥

नाध्यगच्छत् तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः।
अवेत्य मनसा राजन्निमां गाथां तदा जगौ ॥४९॥

परंतु उस समय भी महायशस्वी ययाति काम-भोगसे तृप्त न हो सके। राजन्! उन्होंने मनसे विचारकर यह निश्चय कर लिया कि विषयोंके भोगनेसे भोगेच्छा कभी शान्त नहीं हो सकती। तब राजाने (संसारके हितके लिये) यह गाथा गायी—॥ ४९ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥५०॥

'विषय-भोगकी इच्छा विषयोंका उपभोग करनेसे कभी शान्त नहीं हो सकती। घीकी आहुति डालनेसे अधिक प्रज्वलित होनेवाली आगकी भाँति वह और भी बढ़ती ही जाती है ॥ ५० ॥

पृथिवी रत्नसम्पूर्णा हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥५१॥

'रत्नोंसे भरी हुई सारी पृथ्वी, संसारका सारा सुवर्ण, सारे पशु और सुन्दरी स्त्रियाँ किसी एक पुरुषको मिल जायँ तो भी वे सब-के-सब उसके लिये पर्याप्त नहीं होंगे। वह और भी पाना चाहेगा। ऐसा समझकर शान्ति धारण करे—भोगेच्छाको दबा दे ॥ ५१ ॥

यदा न कुरुते पापं सर्वभूतेषु कर्हिचित्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५२॥

'जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी किसी भी प्राणीके प्रति बुरा भाव नहीं करता, तब वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ५२ ॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥५३॥

'जब सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होनेके कारण यह पुरुष किसीसे नहीं डरता और जब उससे भी दूसरे प्राणी नहीं डरते तथा जब वह न तो किसीकी इच्छा करता है और न किसीसे द्वेष ही रखता है, उस समय वह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है' ॥५३॥

इत्यवेक्ष्य महाप्राज्ञः कामानां फल्गुतां नृप।
समाधाय मनो बुद्ध्या प्रत्यगृह्णाज्जरां सुतात् ॥५४॥

जनमेजय! परम बुद्धिमान् महाराज ययातिने इस प्रकार भोगोंकी निःसारताका विचार करके बुद्धिके द्वारा मनको एकाग्र किया और पुत्रसे अपना बुढ़ापा वापस ले लिया ॥५४॥

दत्त्वा च यौवनं राजा पूरुं राज्येऽभिषिच्य च।
अतृप्त एव कामानां पूरुं पुत्रमुवाच ह ॥५५॥

पूरुको उसकी जवानी लौटाकर राजाने उसे राज्यपर अभिषिक्त कर दिया और भोगोंसे अतृप्त रहकर ही अपने पुत्र पूरुसे कहा—॥ ५५ ॥

त्वया दायादवानस्मि त्वं मे वंशकरः सुतः।
पौरवो वंश इति ते ख्यातिं लोके गमिष्यति ॥५६॥

'बेटा! तुम्हारे-जैसे पुत्रसे ही मैं पुत्रवान् हूँ। तुम्हीं मेरे वंश-प्रवर्तक पुत्र हो। तुम्हारा वंश इस जगत्में पौरव वंशके नामसे विख्यात होगा' ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च।
ततः सुचरितं कृत्वा भृगुतुङ्गे महातपाः ॥ ५७॥
कालेन महता पश्चात् कालधर्ममुपेयिवान्।
कारयित्वा त्वनशनं सदारः स्वर्गमाप्तवान् ॥ ५८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर पूरुका राज्याभिषेक करनेके पश्चात् राजा ययातिने अपनी पत्नियोंके साथ भृगुतुङ्ग पर्वतपर जाकर सत्कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वहाँ बड़ी भारी तपस्या की। इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होनेके बाद स्त्रियोंसहित निराहार व्रत करके उन्होंने स्वर्गलोक प्राप्त किया ॥ ५७–५८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने **पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥**

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

कचका शिष्यभावसे शुक्राचार्य और देवयानीकी सेवामें संलग्न होना और अनेक कष्ट सहनेके पश्चात् मृतसंजीविनी विद्या प्राप्त करना

जनमेजय उवाच

ययातिः पूर्वजोऽस्माकं दशमो यः प्रजापतेः।
कथं स शुक्रतनयां लेभे परमदुर्लभाम् ॥ १ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण तपोधन।
आनुपूर्व्या च मे शंस राज्ञो वंशकरान् पृथक् ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन ! हमारे पूर्वज महाराज ययातिने, जो प्रजापतिसे दसवीं पीढ़ीमें उत्पन्न हुए थे, शुक्राचार्यकी अत्यन्त दुर्लभ पुत्री देवयानीको पत्नीरूपमें कैसे प्राप्त किया ? मैं इस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। आप मुझसे सभी वंश-प्रवर्तक राजाओंका क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन कीजिये॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

ययातिरासीन्नृपतिर्देवराजसमद्युतिः।
तं शुक्रवृषपर्वाणौ वव्राते वै यथा पुरा ॥ ३ ॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि पृच्छते जनमेजय।
देवयान्याश्च संयोगं ययातेर्नाहुषस्य च ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। पूर्वकालमें शुक्राचार्य और वृषपर्वाने ययातिका अपनी-अपनी कन्याके पतिके रूपमें जिस प्रकार वरण किया, वह सब प्रसंग तुम्हारे पूछनेपर मैं तुमसे कहूँगा। साथ ही यह भी बताऊँगा कि नहुषनन्दन ययाति तथा देवयानीका संयोग किस प्रकार हुआ ॥ ३-४ ॥

सुराणामसुराणां च समजायत वै मिथः।
ऐश्वर्यं प्रति संघर्षस्त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ५ ॥

एक समय चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीके ऐश्वर्यके लिये देवताओं और असुरोंमें परस्पर बड़ा भारी संघर्ष हुआ ॥ ५ ॥

जिगीषया ततो देवा वव्रिरेऽऽङ्गिरसं मुनिम्।
पौरोहित्येन याज्यार्थे काव्यं तूशनसं परे ॥ ६ ॥
ब्राह्मणौ तावुभौ नित्यमन्योन्यस्पर्धिनौ भृशम्।
तत्र देवा निजघ्नुर्यान् दानवान् युधि संगतान् ॥ ७ ॥
तान् पुनर्जीवयामास काव्यो विद्याबलाश्रयात्।
ततस्ते पुनरुत्थाय योधयांचक्रिरे सुरान् ॥ ८ ॥

उसमें विजय पानेकी इच्छासे देवताओंने अङ्गिरा मुनिके पुत्र बृहस्पतिका पुरोहितके पदपर वरण किया और दैत्योंने शुक्राचार्यको पुरोहित बनाया। वे दोनों ब्राह्मण सदा आपसमें बहुत लाग-डाट रखते थे। देवताओंने उस युद्धमें आये हुए जिन दानवोंको मारा था, उन्हें शुक्राचार्यने अपनी संजीविनी विद्याके बलसे पुनः जीवित कर दिया। अतः वे पुनः उठकर देवताओंसे युद्ध करने लगे ॥ ६—८ ॥

असुरास्तु निजघ्नुर्यान् सुरान् समरमूर्धनि।
न तान् संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ९ ॥

परंतु असुरोंने युद्धके मुहानेपर जिन देवताओंको मारा था, उन्हें उदारबुद्धि बृहस्पति जीवित न कर सके ॥ ९ ॥

न हि वेद स तां विद्यां यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान्।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन् परम् ॥ १० ॥

क्योंकि शक्तिशाली शुक्राचार्य जिस संजीविनी विद्याको जानते थे, उसका ज्ञान बृहस्पतिको नहीं था। इससे देवताओंको बड़ा विषाद हुआ ॥ १० ॥

ते तु देवा भयोद्विग्नाः काव्यादुशनसस्तदा।
ऊचुः कचमुपागम्य ज्येष्ठं पुत्रं बृहस्पतेः ॥ ११ ॥

इससे देवता शुक्राचार्यके भयसे उद्विग्न हो उस समय बृहस्पतिके ज्येष्ठ पुत्र कचके पास जाकर बोले—॥ ११ ॥

भजमानान् भजस्वास्मान् कुरु नः साह्यमुत्तमम्।
या सा विद्या निवसति ब्राह्मणेऽमिततेजसि ॥ १२ ॥

शुक्रे तामाहर क्षिप्रं भागभाङ् नो भविष्यसि ।
वृषपर्वसमीपे हि शक्यो द्रष्टुं त्वया द्विजः ॥१३॥

'ब्रह्मन् ! हम आपके सेवक हैं। आप हमें अपनाइये और हमारी उत्तम सहायता कीजिये । अमिततेजस्वी ब्राह्मण शुक्राचार्यके पास जो मृतसंजीविनी विद्या है, उसे शीघ्र सीखकर यहाँ ले आइये । इससे आप हम देवताओंके साथ यज्ञमें भाग प्राप्त कर सकेंगे । राजा वृषपर्वाके समीप आपको विप्रवर शुक्राचार्यका दर्शन हो सकता है ॥ १२-१३ ॥

रक्षते दानवांस्तत्र न स रक्षत्यदानवान् ।
तमाराधयितुं शक्तो भवान् पूर्ववयाः कविम् ॥१४॥

'वहाँ रहकर वे दानवोंकी रक्षा करते हैं। जो दानव नहीं हैं, उनकी रक्षा नहीं करते। आपकी अभी नयी अवस्था है, अतः आप शुक्राचार्यकी आराधना (करके उन्हें प्रसन्न) करनेमें समर्थ हैं ॥ १४ ॥

देवयानीं च दयितां सुतां तस्य महात्मनः ।
त्वमाराधयितुं शक्तो नान्यः कश्चन विद्यते ॥१५॥

'उन महात्माकी प्यारी पुत्रीका नाम देवयानी है, उसे अपनी सेवाओंद्वारा आप ही प्रसन्न कर सकते हैं। दूसरा कोई इसमें समर्थ नहीं है ॥ १५ ॥

शीलदाक्षिण्यमाधुर्यैराचारेण दमेन च ।
देवयान्यां हि तुष्टायां विद्यां तां प्राप्स्यसि ध्रुवम् ॥१६॥

'अपने शील-स्वभाव, उदारता, मधुर व्यवहार, सदाचार तथा इन्द्रियसंयमद्वारा देवयानीको संतुष्ट कर लेनेपर आप निश्चय ही उस विद्याको प्राप्त कर लेंगे' ॥ १६ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः प्रायाद् बृहस्पतिसुतः कचः ।
तदाभिपूजितो देवैः समीपे वृषपर्वणः ॥१७॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर बृहस्पतिपुत्र कच देवताओंसे सम्मानित हो वहाँसे वृषपर्वाके समीप गये ॥ १७ ॥

स गत्वा त्वरितो राजन् देवैः सम्प्रेषितः कचः ।
असुरेन्द्रपुरे शुक्रं दृष्ट्वा वाक्यमुवाच ह ॥१८॥

राजन्! देवताओंके भेजे हुए कच तुरंत दानवराज वृषपर्वाके नगरमें जाकर शुक्राचार्यसे मिले और इस प्रकार बोले—॥

ऋषेरङ्गिरसः पौत्रं पुत्रं साक्षाद् बृहस्पतेः ।
नाम्ना कचमिति ख्यातं शिष्यं गृह्णातु मां भवान् ॥१९॥

'भगवन्! मैं अङ्गिरा ऋषिका पौत्र तथा साक्षात् बृहस्पतिका पुत्र हूँ। मेरा नाम कच है। आप मुझे अपने शिष्यके रूपमें ग्रहण करें ॥ १९ ॥

ब्रह्मचर्यं चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरौ ।
अनुमन्यस्व मां ब्रह्मन् सहस्रं परिवत्सरान् ॥२०॥

ब्रह्मन्! आप मेरे गुरु हैं । मैं आपके समीप रहकर एक हजार वर्षोंतक उत्तम ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा । इसके लिये आप मुझे अनुमति दें' ॥ २० ॥

शुक्र उवाच

कच सुस्वागतं तेऽस्तु प्रतिगृह्णामि ते वचः ।
अर्चयिष्येऽहमर्च्यं त्वामर्चितोऽस्तु बृहस्पतिः ॥२१॥

शुक्राचार्यने कहा—कच! तुम्हारा भलीभाँति स्वागत है; मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करता हूँ। तुम मेरे लिये आदरके पात्र हो, अतः मैं तुम्हारा सम्मान एवं सत्कार करूँगा । तुम्हारे आदर-सत्कारसे मेरेद्वारा बृहस्पतिका आदर-सत्कार होगा॥ २१॥

वैशम्पायन उवाच

कचस्तु तं तथेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह तद् व्रतम् ।
आदिष्टं कविपुत्रेण शुक्रेणोशनसा स्वयम् ॥२२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब कचने 'बहुत अच्छा' कहकर महाकान्तिमान् कविपुत्र शुक्राचार्यके आदेशके अनुसार स्वयं ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया ॥ २२ ॥

व्रतस्य प्राप्तकालं स यथोक्तं प्रत्यगृह्णत ।
आराधयन्नुपाध्यायं देवयानीं च भारत ॥२३॥
नित्यमाराधयिष्यंस्तौ युवा यौवनगोचरे ।
गायन् नृत्यन् वादयंश्च देवयानीमतोषयत् ॥२४॥

जनमेजय ! नियत समयतकके लिये व्रतकी दीक्षा लेनेवाले कचको शुक्राचार्यने भली-भाँति अपना लिया । कच आचार्य शुक्र तथा उनकी पुत्री देवयानी दोनोंकी नित्य आराधना करने लगे । वे नवयुवक थे और जवानीमें प्रिय लगनेवाले कार्य—गायन और नृत्य करके तथा भाँति-भाँतिके बाजे बजाकर देवयानीको संतुष्ट रखते थे ॥ २३-२४ ॥

स शीलयन् देवयानीं कन्यां सम्प्राप्तयौवनाम् ।
पुष्पैः फलैः प्रेषणैश्च तोषयामास भारत ॥२५॥

भारत ! आचार्यकन्या देवयानी भी युवावस्थामें पदार्पण कर चुकी थी। कच उसके लिये फूल और फल ले आते तथा उसकी आज्ञाके अनुसार कार्य करते थे । इस प्रकार उसकी सेवामें संलग्न रहकर वे सदा उसे प्रसन्न रखते थे ॥ २५ ॥

देवयान्यपि तं विप्रं नियमव्रतधारणम् ।
गायन्ती च ललन्ती च रहः पर्यचरत् तथा ॥२६॥

देवयानी भी नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य धारण करनेवाले कचके ही समीप रहकर गाती और आमोद-प्रमोद करती हुई एकान्तमें उनकी सेवा करती थी ॥ २६ ॥

पञ्चवर्षशतान्येवं कचस्य चरतो व्रतम् ।
तत्रातीयुरथो बुद्ध्वा दानवास्तं ततः कचम् ॥२७॥
गा रक्षन्तं वने दृष्ट्वा रहस्येकममर्षिताः ।
जघ्नुर्बृहस्पतेर्द्वेषाद् विद्यारक्षार्थमेव च ॥२८॥



शुक्राचार्य और कच

इस प्रकार वहाँ रहकर ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते हुए कचके पाँच सौ वर्ष व्यतीत हो गये। तब दानवोंको यह बात मालूम हुई। तदनन्तर कचको वनके एकान्त प्रदेशमें अकेले गौएँ चराते देख बृहस्पतिके द्वेषसे और संजीविनी विद्याकी रक्षाके लिये क्रोधमें भरे हुए दानवोंने कचको मार डाला॥ २७-२८॥

हत्वा शालावृकेभ्यश्च प्रायच्छँल्लवशः कृतम्।
ततो गावो निवृत्तास्ता अगोपाः स्वं निवेशनम्॥ २९॥

उन्होंने मारनेके बाद उनके शरीरको टुकड़े-टुकड़े कर कुत्तों और सियारोंको बाँट दिया। उस दिन गौएँ बिना रक्षकके ही अपने स्थानपर लौटीं॥ २९॥

सा दृष्ट्वा रहिता गाश्च कचेनाभ्यागता वनात्।
उवाच वचनं काले देवयान्यथ भारत॥ ३०॥

जनमेजय! जब देवयानीने देखा, गौएँ तो वनसे लौट आयीं पर उनके साथ कच नहीं हैं, तब उसने उस समय अपने पितासे इस प्रकार कहा॥ ३०॥

देवयान्युवाच

आहुतं चाग्निहोत्रं ते सूर्यश्चास्तं गतः प्रभो।
अगोपाश्चागता गावः कचस्तात न दृश्यते॥ ३१॥

देवयानी बोली—प्रभो! आपने अग्निहोत्र कर लिया और सूर्यदेव भी अस्ताचलको चले गये। गौएँ भी आज बिना रक्षकके ही लौट आयी हैं। तात! तो भी कच नहीं दिखायी देते हैं॥ ३१॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति।
तं विना न च जीवेयमिति सत्यं ब्रवीमि ते॥ ३२॥

पिताजी! अवश्य ही कच या तो मारे गये हैं या मर गये हैं। मैं आपसे सच कहती हूँ, उनके बिना जीवित नहीं रह सकूँगी॥ ३२॥

शुक्र उवाच

अयमेहीति संशब्द्य मृतं संजीवयाम्यहम्।
ततः संजीविनीं विद्यां प्रयुज्य कचमाह्वयत्॥ ३३॥

शुक्राचार्यने कहा—(बेटी! चिन्ता न करो।) मैं अभी 'आओ' इस प्रकार बुलाकर मरे हुए कचको जीवित किये देता हूँ।

ऐसा कहकर उन्होंने संजीविनी विद्याका प्रयोग किया और कचको पुकारा॥ ३३॥

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि वृकाणां स विनिर्गतः।
आहूतः प्रादुरभवत् कचो हृष्टोऽथ विद्यया॥ ३४॥

फिर तो गुरुके पुकारनेपर कच विद्याके प्रभावसे हृष्ट-पुष्ट हो कुत्तोंके शरीर फाड़-फाड़कर निकल आये और वहाँ प्रकट हो गये॥ ३४॥

कस्माच्चिरायितोऽसीति पृष्टस्तामाह भार्गवीम्।
समिधश्च कुशादीनि काष्ठभारं च भामिनि॥ ३५॥

गृहीत्वा श्रमभारार्तो वटवृक्षं समाश्रितः।
गावश्च सहिताः सर्वा वृक्षच्छायामुपाश्रिताः॥ ३६॥

उन्हें देखते ही देवयानीने पूछा—'आज आपने लौटनेमें विलम्ब क्यों किया?' इस प्रकार पूछनेपर कचने शुक्राचार्यकी कन्यासे कहा—'भामिनि! मैं समिधा, कुश आदि और काष्ठका भार लेकर आ रहा था। रास्तेमें थकावट और भारसे पीड़ित हो एक वटवृक्षके नीचे ठहर गया। साथ ही सारी गौएँ भी उसी वृक्षकी छायामें आकर विश्राम करने लगीं॥ ३५-३६॥

असुरास्तत्र मां दृष्ट्वा कस्त्वमित्यभ्यचोदयन्।
बृहस्पतिसुतश्चाहं कच इत्यभिविश्रुतः॥ ३७॥

'वहाँ मुझे देखकर असुरोंने पूछा—'तुम कौन हो?' मैंने कहा—मेरा नाम कच है, मैं बृहस्पतिका पुत्र हूँ॥ ३७॥

इत्युक्तमात्रे मां हत्वा पेषीकृत्वा तु दानवाः।
दत्त्वा शालावृकेभ्यस्तु सुखं जग्मुः स्वमालयम्॥ ३८॥

'मेरे इतना कहते ही दानवोंने मुझे मार डाला और मेरे शरीरको चूर्ण करके कुत्ते-सियारोंको बाँट दिया। फिर वे सुखपूर्वक अपने घर चले गये॥ ३८॥

आहूतो विद्यया भद्रे भार्गवेण महात्मना।
त्वत्समीपमिहायातः कथंचित् समजीवितः॥ ३९॥

'भद्रे! फिर महात्मा भार्गवने जब विद्याका प्रयोग करके मुझे बुलाया है, तब किसी प्रकारसे पूर्ण जीवन लाभ करके यहाँ तुम्हारे पास आ सका हूँ'॥ ३९॥

हतोऽहमिति चाचख्यौ पृष्टो ब्राह्मणकन्यया।
स पुनर्देवयान्योक्तः पुष्पाहारो यदृच्छया॥ ४०॥

इस प्रकार ब्राह्मणकन्याके पूछनेपर कचने उससे अपने मारे जानेकी बात बतायी। तदनन्तर पुनः देवयानीने एक दिन अकस्मात् कचको फूल लानेके लिये कहा॥ ४०॥

वनं ययौ कचो विप्रो ददृशुर्दानवाश्च तम्।
पुनस्तं पेषयित्वा तु समुद्राम्भस्यमिश्रयन्॥ ४१॥

विप्रवर कच इसके लिये वनमें गये। वहाँ दानवोंने उन्हें देख लिया और फिर उन्हें पीसकर समुद्रके जलमें घोल दिया॥ ४१॥

चिरं गतं पुनः कन्या पित्रे तं संन्यवेदयत्।
विप्रेण पुनराहूतो विद्यया गुरुदेहजः।
पुनरावृत्य तद् वृत्तं न्यवेदयत तद् यथा॥ ४२॥

जब उसके लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब आचार्यकन्याने पितासे पुनः यह बात बतायी। विप्रवर शुक्राचार्यने कचका पुनः संजीविनी विद्याद्वारा आवाहन किया। इससे बृहस्पतिपुत्र कच पुनः वहाँ आ पहुँचे और उनके साथ असुरोंने जो बर्ताव किया था, वह बताया॥ ४२॥

ततस्तृतीयं हत्वा तं दग्ध्वा कृत्वा च चूर्णशः ।
प्रायच्छन् ब्राह्मणायैव सुरायामसुरास्तदा ॥४३॥

तत्पश्चात् असुरोंने तीसरी बार कचको मारकर आगमें जलाया और उनकी जली हुई लाशका चूर्ण बनाकर मदिरामें मिला दिया तथा उसे ब्राह्मण शुक्राचार्यको ही पिला दिया ॥ ४३ ॥

देवयान्यथ भूयोऽपि पितरं वाक्यमब्रवीत् ।
पुष्पाहारः प्रेषणकृत् कचस्तात न दृश्यते ॥४४॥

अब देवयानी पुनः अपने पितासे यह बात बोली—'पिताजी ! कच मेरे कहनेपर प्रत्येक कार्य पूर्ण कर दिया करते हैं। आज मैंने उन्हें फूल लानेके लिये भेजा था, परंतु अभीतक वे दिखायी नहीं दिये ॥ ४४ ॥

व्यक्तं हतो मृतो वापि कचस्तात भविष्यति ।
तं विना न च जीवेयं कचं सत्यं ब्रवीमि ते ॥४५॥

'तात ! जान पड़ता है वे मार दिये गये या मर गये। मैं आपसे सच कहती हूँ, मैं उनके बिना जीवित नहीं रह सकती हूँ' ॥ ४५ ॥

शुक्र उवाच

बृहस्पतेः सुतः पुत्रि कचः प्रेतगतिं गतः ।
विद्यया जीवितोऽप्येवं हन्यते करवाणि किम् ॥४६॥
मैवं शुचो मा रुद देवयानि
न त्वादृशी मर्त्यमनुप्रशोचते ।
यस्यास्तव ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च
सेन्द्रा देवा वसवोऽथाश्विनौ च ॥४७॥
सुरद्विषश्चैव जगच्च सर्व-
मुपस्थाने संनमन्ति प्रभावात् ।
अशक्योऽसौ जीवयितुं द्विजातिः
संजीवितो बध्यते चैव भूयः ॥४८॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी ! बृहस्पतिके पुत्र कच मर गये। मैंने विद्यासे उन्हें कई बार जिलाया, तो भी वे इस प्रकार मार दिये जाते हैं, अब मैं क्या करूँ। देवयानी ! तुम इस प्रकार शोक न करो, रोओ मत । तुम-जैसी शक्तिशालिनी स्त्री किसी मरनेवालेके लिये शोक नहीं करती । तुम्हें तो वेद, ब्राह्मण, इन्द्रसहित सब देवता, वसुगण, अश्विनीकुमार, दैत्य तथा सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणी मेरे प्रभावसे तीनों संध्याओंके समय मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हैं । अब उस ब्राह्मणको जिलाना असम्भव है । यदि जीवित हो जाय, तो फिर दैत्योंद्वारा मार डाला जायगा (अतः उसे जिलानेसे कोई लाभ नहीं है) ॥ ४६—४८ ॥

देवयान्युवाच

यस्याङ्गिरा वृद्धतमः पितामहो
बृहस्पतिश्चापि पिता तपोनिधिः ।
ऋषेः पुत्रं तमथो वापि पौत्रं
कथं न शोचेयमहं न रुद्याम् ॥४९॥

देवयानी बोली—पिताजी ! अत्यन्त वृद्ध महर्षि अंगिरा जिनके पितामह हैं, तपस्याके भण्डार बृहस्पति जिनके पिता हैं, जो ऋषिके पुत्र और ऋषिके ही पौत्र हैं; उन ब्रह्मचारी कचके लिये मैं कैसे शोक न करूँ और कैसे न रोऊँ ? ॥ ४९ ॥

स ब्रह्मचारी च तपोधनश्च
सदोत्थितः कर्मसु चैव दक्षः ।
कचस्य मार्गं प्रतिपत्स्ये न भोक्ष्ये
प्रियो हि मे तात कचोऽभिरूपः ॥५०॥

तात ! वे ब्रह्मचर्यपालनमें रत थे, तपस्या ही उनका धन था। वे सदा ही सजग रहनेवाले और कार्य करनेमें कुशल थे । इसलिये कच मुझे बहुत प्रिय थे। वे सदा मेरे मनके अनुरूप चलते थे । अब मैं भोजनका त्याग कर दूँगी और कच जिस मार्गपर गये हैं, वहीं मैं भी चली जाऊँगी ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

स पीडितो देवयान्या महर्षिः
समाह्वयत् संरम्भाच्चैव काव्यः ।
असंशयं मामसुरा द्विषन्ति
ये मे शिष्यानागतान् सूदयन्ति ॥५१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीके कहनेसे उसके दुःखसे दुखी हुए महर्षि शुक्राचार्यने कचको पुकारा और दैत्योंके प्रति कुपित होकर बोले—'इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि असुरलोग मुझसे द्वेष करते हैं। तभी तो यहाँ आये हुए मेरे शिष्योंको ये लोग मार डालते हैं ॥ ५१ ॥

अब्राह्मणं कर्तुमिच्छन्ति रौद्रा-
स्ते मां यथा व्यभिचरन्ति नित्यम् ।
अप्यस्य पापस्य भवेदिहान्तः
कं ब्रह्महत्या न दहेदपीन्द्रम् ॥५२॥

'ये भयंकर स्वभाववाले दैत्य मुझे ब्राह्मणत्वसे गिराना चाहते हैं। इसीलिये प्रतिदिन मेरे विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इस पापका परिणाम यहाँ अवश्य प्रकट होगा। ब्रह्महत्या किसे नहीं जला देगी, चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो ?॥

गुरोर्हि भीतो विद्यया चोपहूतः
शनैर्वाक्यं जठरे व्याजहार ।

जब गुरुने विद्याका प्रयोग करके बुलाया, तब उनके पेटमें बैठे हुए कच भयभीत हो धीरेसे बोले ।

(कच उवाच

प्रसीद भगवन् मह्यं कचोऽहमभिवादये ।
यथा बहुमतः पुत्रस्तथा मन्यतु मां भवान् ॥)

कचने कहा—भगवन्! आप मुझपर प्रसन्न हों, मैं कच हूँ और आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। जैसे पुत्रपर पिताका बहुत प्यार होता है, उसी प्रकार आप मुझे भी अपना स्नेहभाजन समझें ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् केन पथोपनीत-
स्त्वं चोदरे तिष्ठसि ब्रूहि विप्र ॥५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी आवाज सुनकर शुक्राचार्यने पूछा—'विप्र! किस मार्गसे जाकर तुम मेरे उदरमें स्थित हो गये? ठीक-ठीक बताओ' ॥ ५३ ॥

कच उवाच

तव प्रसादान्न जहाति मां स्मृतिः
स्मरामि सर्वं यच्च यथा च वृत्तम्।
न त्वेवं स्यात् तपसः संक्षयो मे
ततः क्लेशं घोरमिमं सहामि ॥ ५४ ॥

कचने कहा—गुरुदेव! आपके प्रसादसे मेरी स्मरण-शक्तिने साथ नहीं छोड़ा है। जो बात जैसे हुई है, वह सब मुझे याद है। इस प्रकार पेट फाड़कर निकल आनेसे मेरी तपस्याका नाश होगा। वह न हो, इसीलिये मैं यहाँ घोर क्लेश सहन करता हूँ ॥ ५४ ॥

असुरैः सुरायां भवतोऽस्मि दत्तो
हत्वा दग्ध्वा चूर्णयित्वा च काव्य।
ब्राह्मीं मायां चासुरीं विप्र मायां
त्वयि स्थिते कथमेवातिवर्तेत् ॥ ५५ ॥

आचार्यपाद! असुरोंने मुझे मारकर मेरे शरीरको जलाया और चूर्ण बना दिया। फिर उसे मदिरामें मिलाकर आपको पिला दिया। विप्रवर! आप ब्राह्मी, आसुरी और दैवी तीनों प्रकारकी मायाओंको जानते हैं। आपके होते हुए कोई इन मायाओंका उल्लङ्घन कैसे कर सकता है? ॥ ५५ ॥

शुक्र उवाच

किं ते प्रियं करवाण्यद्य वत्से
वधेन मे जीवितं स्यात् कचस्य।
नान्यत्र कुक्षेर्मम भेदनेन
दृश्येत् कचो मद्गतो देवयानि ॥ ५६ ॥

शुक्राचार्य बोले—बेटी देवयानी! अब तुम्हारे लिये कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? मेरे वधसे ही कचका जीवित होना सम्भव है। मेरे उदरको विदीर्ण करनेके सिवा और कोई ऐसा उपाय नहीं है, जिससे मेरे शरीरमें बैठा हुआ कच बाहर दिखायी दे ॥ ५६ ॥

देवयान्युवाच

द्वौ मां शोकावग्निकल्पौ दहेतां
कचस्य नाशस्तव चैवोपघातः।
कचस्य नाशे मम नास्ति शर्म
तवोपघाते जीवितुं नास्मि शक्ता ॥ ५७ ॥

देवयानीने कहा—पिताजी! कचका नाश और आपका वध—ये दोनों ही शोक अग्निके समान मुझे जला देंगे। कचके नष्ट होनेपर मुझे शान्ति नहीं मिलेगी और आपका वध हो जानेपर मैं जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ ५७ ॥

शुक्र उवाच

संसिद्धरूपोऽसि बृहस्पतेः सुत
यत् त्वां भक्तं भजते देवयानी।
विद्यामिमां प्राप्नुहि जीविनीं त्वं
न चेदिन्द्रः कचरूपी त्वमद्य ॥ ५८ ॥

शुक्राचार्य बोले—बृहस्पतिके पुत्र कच! अब तुम सिद्ध हो गये, क्योंकि तुम देवयानीके भक्त हो और वह तुम्हें चाहती है। यदि कचके रूपमें तुम इन्द्र नहीं हो, तो मुझसे मृतसंजीविनी विद्या ग्रहण करो ॥ ५८ ॥

न निवर्तेत् पुनर्जीवन् कश्चिदन्यो ममोदरात्।
ब्राह्मणं वर्जयित्वैकं तस्माद् विद्यामवाप्नुहि ॥ ५९ ॥

केवल एक ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो मेरे पेटसे पुनः जीवित निकल सके। इसलिये तुम विद्या ग्रहण करो ॥ ५९ ॥

पुत्रो भूत्वा भावय भावितो मा-
मस्मदेहादुपनिष्क्रम्य तात।
समीक्षेथा धर्मवतीमवेक्षां
गुरोः सकाशात् प्राप्य विद्यां सविद्यः ॥ ६० ॥

तात! मेरे इस शरीरसे जीवित निकलकर मेरे लिये पुत्रके तुल्य हो मुझे पुनः जिला देना। मुझ गुरुसे विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जानेपर भी मेरे प्रति धर्मयुक्त दृष्टिसे ही देखना॥

वैशम्पायन उवाच

गुरोः सकाशात् समवाप्य विद्यां
भित्त्वा कुक्षिं निर्विचक्राम विप्रः।
कचोऽभिरूपस्तत्क्षणाद् ब्राह्मणस्य
शुक्लात्यये पौर्णमास्यामिवेन्दुः ॥ ६१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गुरुसे संजीविनी विद्या प्राप्त करके सुन्दर रूपवाले विप्रवर कच तत्काल ही महर्षि शुक्राचार्यका पेट फाड़कर ठीक उसी तरह बाहर निकल आये,

जैसे दिन बीतनेपर पूर्णिमाकी संध्याको चन्द्रमा प्रकट हो जाते हैं ॥ ६१ ॥

दृष्ट्वा च तं पतितं ब्रह्मराशि-
मुत्थापयामास मृतं कचोऽपि ।
विद्यां सिद्धां तामवाप्याभिवाद्य
ततः कचस्तं गुरुमित्युवाच ॥ ६२ ॥

मूर्तिमान् वेदराशिके तुल्य शुक्राचार्यको भूमिपर पड़ा देख कचने भी अपने मरे हुए गुरुको विद्याके बलसे जिलाकर उठा दिया और उस सिद्ध विद्याको प्राप्त कर लेनेपर गुरुको प्रणाम करके वे इस प्रकार बोले—॥ ६२ ॥

यः श्रोत्रयोरमृतं संनिषिञ्चेद्
विद्यामविद्यस्य यथा ममायम् ।
तं मन्येऽहं पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ ६३ ॥

'मैं विद्यासे शून्य था, उस दशामें मेरे इन पूजनीय आचार्यने जैसे मेरे दोनों कानोंमें मृतसंजीविनी विद्यारूप अमृतकी धारा डाली है, इसी प्रकार जो कोई दूसरे ज्ञानी महात्मा मेरे कानोंमें ज्ञानरूप अमृतका अभिषेक करेंगे, उन्हें भी मैं अपना माता-पिता मानूँगा (जैसे गुरुदेव शुक्राचार्यको मानता हूँ)। गुरुदेवके द्वारा किये हुए उपकारको स्मरण रखते हुए शिष्यको उचित है कि वह उनसे कभी द्रोह न करे ॥ ६३ ॥

ऋतस्य दातारमनुत्तमस्य
निधिं निधीनामपि लब्धविद्याः ।
ये नाद्रियन्ते गुरुमर्चनीयं
पापाँल्लोकांस्ते व्रजन्त्यप्रतिष्ठाः ॥ ६४ ॥

'जो लोग सम्पूर्ण वेदके सर्वोत्तम ज्ञानको देनेवाले तथा समस्त विद्याओंके आश्रयभूत पूजनीय गुरुदेवका उनसे विद्या प्राप्त करके भी आदर नहीं करते, वे प्रतिष्ठारहित होकर पापपूर्ण लोकों—नरकोंमें जाते हैं' ॥ ६४ ॥

वैशम्पायन उवाच

सुरापानाद् वञ्चनां प्राप्य विद्वान्
संज्ञानाशं चैव महातिघोरम् ।
दृष्ट्वा कचं चापि तथाभिरूपं
पीतं तदा सुरया मोहितेन ॥ ६५ ॥
समन्युरुत्थाय महानुभाव-
स्तदोशना विप्रहितं चिकीर्षुः ।
सुरापानं प्रति संजातमन्युः
काव्यः स्वयं वाक्यमिदं जगाद ॥ ६६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् शुक्राचार्य मदिरापानसे ठगे गये थे और उस अत्यन्त भयानक परिस्थितिको पहुँच गये थे, जिसमें तनिक भी चेत नहीं रह जाता। मदिरासे मोहित होनेके कारण ही वे उस समय अपने मनके अनुकूल चलनेवाले प्रिय शिष्य ब्राह्मणकुमार कचको भी पी गये थे। यह सब देख और सोचकर वे महानुभाव कविपुत्र शुक्र कुपित हो उठे। मदिरापानके प्रति उनके मनमें क्रोध और घृणाका भाव जाग उठा और उन्होंने ब्राह्मणोंका हित करनेकी इच्छासे स्वयं इस प्रकार घोषणा की—

यो ब्राह्मणोऽद्यप्रभृतीह कश्चि-
न्मोहात् सुरां पास्यति मन्दबुद्धिः ।
अपेतधर्मा ब्रह्महा चैव स स्या-
दस्मिँल्लोके गर्हितः स्यात् परे च ॥ ६७ ॥

'आजसे इस जगत्‌का जो कोई भी मन्दबुद्धि ब्राह्मण अज्ञानसे भी मदिरापान करेगा, वह धर्मसे भ्रष्ट हो ब्रह्महत्याके पापका भागी होगा तथा इसलोक और परलोक दोनोंमें वह निन्दित होगा ॥ ६७ ॥

मया चैतां विप्रधर्मोक्तिसीमां
मर्यादां वै स्थापितां सर्वलोके ।
सन्तो विप्राः शुश्रुवांसो गुरूणां
देवा लोकाश्चोपशृण्वन्तु सर्वे ॥ ६८ ॥

'धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मण-धर्मकी जो सीमा निर्धारित की गयी है, उसीमें मेरेद्वारा स्थापित की हुई यह मर्यादा भी रहे और यह सम्पूर्ण लोकमें मान्य हो। साधु पुरुष, ब्राह्मण, गुरुओंके समीप अध्ययन करनेवाले शिष्य, देवता और समस्त जगत्के मनुष्य, मेरी बाँधी हुई इस मर्यादाको अच्छी तरह सुन लें' ॥

इतीदमुक्त्वा स महानुभाव-
स्तपोनिधीनां निधिरप्रमेयः ।
तान् दानवान् दैवविमूढबुद्धी-
निदं समाहूय वचोऽभ्युवाच ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर तपस्याकी निधियोंकी निधि, अप्रमेय शक्तिशाली महानुभाव शुक्राचार्यने दैवने जिनकी बुद्धिको मोहित कर दिया था उन दानवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा—

आचक्षे वो दानवा बालिशाः स्थ
सिद्धः कचो वत्स्यति मत्सकाशे ।
संजीविनीं प्राप्य विद्यां महात्मा
तुल्यप्रभावो ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः ॥ ७० ॥

'दानवो ! तुम सब मूर्ख हो ! मैं तुम्हें बताये देता हूँ, महात्मा कच मुझसे संजीविनी विद्या पाकर सिद्ध हो गये हैं। इनका प्रभाव मेरे ही समान है। ये ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हैं ॥ ७० ॥

(योऽकार्षीद् दुष्करं कर्म देवानां कारणात् कचः ।
न तत्कीर्तिर्जरां गच्छेद् यज्ञियश्च भविष्यति ॥)
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स भार्गवः ।

दानवा विस्मयाविष्टाः प्रययुः स्वं निवेशनम् ॥ ७१ ॥

'जिन महात्मा कचने देवताओंके लिये वह दुष्कर कार्य किया है, उनकी कीर्ति कभी नष्ट नहीं हो सकती और वे यज्ञभागके अधिकारी होंगे।'

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी चुप हो गये और दानव आश्चर्यचकित होकर अपने-अपने घर चले गये ॥ ७१ ॥

गुरोरुष्य सकाशे तु दशवर्षशतानि सः ।
अनुज्ञातः कचो गन्तुमियेष त्रिदशालयम् ॥ ७२ ॥

कचने एक हजार वर्षोंतक गुरुके समीप रहकर अपना व्रत पूरा कर लिया। तब घर जानेकी अनुमति मिल जानेपर कचने देवलोकमें जानेका विचार किया ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥७६॥

(इस अध्यायमें ७२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ७४ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानीका कचसे पाणिग्रहणके लिये अनुरोध, कचकी अस्वीकृति तथा दोनोंका एक दूसरेको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

समावृतव्रतं तं तु विसृष्टं गुरुणा तदा ।
प्रस्थितं त्रिदशावासं देवयान्यब्रवीदिदम् ॥ १ ॥
ऋषेरङ्गिरसः पौत्र वृत्तेनाभिजनेन च ।
भ्राजसे विद्यया चैव तपसा च दमेन च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब कचका व्रत समाप्त हो गया और गुरुने उन्हें जानेकी आज्ञा दे दी, तब वे देवलोकको प्रस्थित हुए। उस समय देवयानीने उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षि अङ्गिराके पौत्र! आप सदाचार, उत्तम कुल, विद्या, तपस्या तथा इन्द्रियसंयम आदिसे बड़ी शोभा पा रहे हैं ॥ १-२ ॥

ऋषिर्यथाङ्गिरा मान्यः पितुर्मम महायशाः ।
तथा मान्यश्च पूज्यश्च मम भूयो बृहस्पतिः ॥ ३ ॥

'महायशस्वी महर्षि अङ्गिरा जिस प्रकार मेरे पिताजीके लिये माननीय हैं, उसी प्रकार आपके पिता बृहस्पतिजी मेरे लिये आदरणीय तथा पूज्य हैं ॥ ३ ॥

एवं ज्ञात्वा विजानीहि यद् ब्रवीमि तपोधन ।
व्रतस्थे नियमोपेते यथा वर्ताम्यहं त्वयि ॥ ४ ॥

'तपोधन! ऐसा जानकर मैं जो कहती हूँ, उसपर विचार करें। आप जब व्रत और नियमोंके पालनमें लगे थे, उन दिनों मैंने आपके साथ जो बर्ताव किया है, उसे आप भूले नहीं होंगे ॥

स समावृतविद्यो मां भक्तां भजितुमर्हसि ।
गृहाण पाणिं विधिवन्मम मन्त्रपुरस्कृतम् ॥ ५ ॥

'अब आप व्रत समाप्त करके अपनी अभीष्ट विद्या प्राप्त कर चुके हैं। मैं आपसे प्रेम करती हूँ, आप मुझे स्वीकार करें; वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक विधिवत् मेरा पाणिग्रहण कीजिये' ॥५॥

कच उवाच

पूज्यो मान्यश्च भगवान् यथा तव पिता मम ।
तथा त्वमनवद्याङ्गि पूजनीयतरा मम ॥ ६ ॥

कचने कहा—निर्दोष अङ्गोंवाली देवयानी! जैसे तुम्हारे पिता भगवान् शुक्राचार्य मेरे लिये पूजनीय और माननीय हैं, वैसे ही तुम हो; बल्कि उनसे भी बढ़कर मेरी पूजनीया हो ॥६॥

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्गवस्य महात्मनः ।
त्वं भद्रे धर्मतः पूज्या गुरुपुत्री सदा मम ॥ ७ ॥

भद्रे! महात्मा भार्गवको तुम प्राणोंसे भी अधिक प्यारी हो, गुरुपुत्री होनेके कारण धर्मकी दृष्टिसे सदा मेरी पूजनीया हो ॥

यथा मम गुरुर्नित्यं मान्यः शुक्रः पिता तव ।
देवयानि तथैव त्वं नैवं मां वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

देवयानी! जैसे मेरे गुरुदेव तुम्हारे पिता शुक्राचार्य सदा मेरे माननीय हैं, उसी प्रकार तुम हो; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

गुरुपुत्रस्य पुत्रो वै न त्वं पुत्रश्च मे पितुः ।
तस्मात् पूज्यश्च मान्यश्च ममापि त्वं द्विजोत्तम ॥ ९ ॥
असुरैर्हन्यमाने च कच त्वयि पुनः पुनः ।
तदा प्रभृति या प्रीतिस्तां त्वमद्य स्मरस्व मे ॥ १० ॥

देवयानी बोली—द्विजोत्तम! आप मेरे पिताके गुरुपुत्रके पुत्र हैं, मेरे पिताके नहीं; अतः मेरे लिये भी आप पूजनीय और माननीय हैं। कच! जब असुर आपको बार-बार मार डालते थे, तबसे लेकर आजतक आपके प्रति मेरा जो प्रेम रहा है, उसे आज याद कीजिये ॥ ९-१० ॥

सौहार्दे चानुरागे च वेत्थ मे भक्तिमुत्तमाम् ।
न मामर्हसि धर्मज्ञ त्यक्तुं भक्तामनागसम् ॥ ११ ॥

सौहार्द और अनुरागके अवसरपर मेरी उत्तम भक्तिका परिचय आपको मिल चुका है। आप धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपके प्रति भक्ति रखनेवाली निरपराध अबला हूँ। आपको मेरा त्याग करना उचित नहीं है ॥ ११ ॥

कच उवाच

अनियोज्ये नियोगे मां नियुनङ्क्षि शुभव्रते ।
प्रसीद सुभ्रु त्वं मह्यं गुरोर्गुरुतरा शुभे ॥ १२ ॥
यत्रोषितं विशालाक्षि त्वया चन्द्रनिभानने ।
तत्राहमुषितो भद्रे कुक्षौ काव्यस्य भामिनि ॥ १३ ॥
भगिनी धर्मतो मे त्वं मैवं वोचः सुमध्यमे ।
सुखमस्म्युषितो भद्रे न मन्युर्विद्यते मम ॥ १४ ॥

कचने कहा—उत्तम व्रतका आचरण करनेवाली सुन्दरी! तुम मुझे ऐसे कार्यमें लगा रही हो, जिसमें लगाना कदापि उचित नहीं है । शुभे ! तुम मेरे ऊपर प्रसन्न होओ । तुम मेरे लिये गुरुसे भी बढ़कर गुरुतर हो । विशाल नेत्र तथा चन्द्रमाके समान मुखवाली भामिनि ! शुक्राचार्यके जिस उदरमें तुम रह चुकी हो, उसीमें मैं भी रहा हूँ । इसलिये भद्रे ! धर्मकी दृष्टिसे तुम मेरी बहिन हो । अतः सुमध्यमे ! मुझसे ऐसी बात न कहो । कल्याणी ! मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुखसे रहा हूँ । तुम्हारे प्रति मेरे मनमें तनिक भी रोष नहीं है ॥ १२--१४ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि शिवमाशंस मे पथि ।
अविरोधेन धर्मस्य स्मर्तव्योऽस्मि कथान्तरे ।
अप्रमत्तोत्थिता नित्यमाराधय गुरुं मम ॥ १५ ॥

अब मैं जाऊँगा, इसलिये तुमसे पूछता हूँ,—तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ, आशीर्वाद दो कि मार्गमें मेरा मङ्गल हो । धर्मकी अनुकूलता रखते हुए बातचीतके प्रसङ्गमें कभी मेरा भी स्मरण कर लेना और सदा सावधान एवं सजग रहकर मेरे गुरुदेवकी सेवामें लगे रहना ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

यदि मां धर्मकामार्थे प्रत्याख्यास्यसि याचितः ।
ततः कच न ते विद्या सिद्धिमेषा गमिष्यति ॥ १६ ॥

देवयानी बोली--कच ! मैंने धर्मानुकूल कामके लिये आपसे प्रार्थना की है । यदि आप मुझे ठुकरा देंगे, तो आपकी यह संजीवनी विद्या सिद्ध नहीं हो सकेगी ॥ १६ ॥

कच उवाच

गुरुपुत्रीति कृत्वाहं प्रत्याचक्षे न दोषतः ।
गुरुणा चाननुज्ञातः काममेवं शपस्व माम् ॥ १७ ॥

कचने कहा—देवयानी ! गुरुपुत्री समझकर ही मैंने तुम्हारे अनुरोधको टाल दिया है; तुममें कोई दोष देखकर नहीं । गुरुजीने भी इसके विषयमें मुझे कोई आज्ञा नहीं दी है । तुम्हारी जैसी इच्छा हो, मुझे शाप दे दो ॥ १७ ॥

आर्षं धर्मं ब्रुवाणोऽहं देवयानि यथा त्वया ।
शप्तो नार्होऽस्मि शापस्य कामतोऽद्य न धर्मतः ॥१८॥
तस्माद् भवत्या यः कामो न तथा स भविष्यति ।
ऋषिपुत्रो न ते कश्चिज्जातु पाणिं ग्रहीष्यति ॥१९॥

बहिन ! मैं आर्ष धर्मकी बात बता रहा था । इस दशामें तुम्हारे द्वारा शाप पानेके योग्य नहीं था । तुमने मुझे धर्मके अनुसार नहीं, कामके वशीभूत होकर आज शाप दिया है, इसलिये तुम्हारे मनमें जो कामना है, वह पूरी नहीं होगी । कोई भी ऋषिपुत्र (ब्राह्मणकुमार) कभी तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा ॥ १८-१९ ॥

फलिष्यति न ते विद्या यत् त्वं मामात्थ तत् तथा ।
अध्यापयिष्यामि तु यं तस्य विद्या फलिष्यति ॥२०॥

तुमने जो मुझे यह कहा कि तुम्हारी विद्या सफल नहीं होगी, सो ठीक है; किंतु मैं जिसे यह विद्या पढ़ा दूँगा, उसकी विद्या तो सफल होगी ही ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजश्रेष्ठो देवयानीं कचस्तदा ।
त्रिदशेशालयं शीघ्रं जगाम द्विजसत्तमः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! द्विजश्रेष्ठ कच देवयानीसे ऐसा कहकर तत्काल बड़ी उतावलीके साथ इन्द्र-लोकको चले गये ॥ २१ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य देवा इन्द्रपुरोगमाः ।
बृहस्पतिं सभाज्येदं कचं वचनमब्रुवन् ॥ २२ ॥

उन्हें आया देख इन्द्रादि देवता बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हो कचसे यह वचन बोले ॥ २२ ॥

देवा ऊचुः

यत् त्वयास्मद्धितं कर्म कृतं वै परमाद्भुतम् ।
न ते यशः प्रणशिता भागभाक् च भविष्यसि ॥ २३ ॥

देवता बोले—ब्रह्मन् ! तुमने हमारे हितके लिये यह बड़ा अद्भुत कार्य किया है, अतः तुम्हारे यशका कभी लोप नहीं होगा और तुम यज्ञमें भाग पानेके अधिकारी होओगे ॥२३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका कलह, शर्मिष्ठाद्वारा कुएँमें गिरायी गयी देवयानीको ययातिका निकालना और देवयानीका शुक्राचार्यजीके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

कृतविद्ये कचे प्राप्ते हृष्टरूपा दिवौकसः ।
कचादधीत्य तां विद्यां कृतार्था भरतर्षभ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कच मृतसंजीवनी विद्या सीखकर आ गये, तब देवताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे कचसे उस विद्याको पढ़कर कृतार्थ हो गये ॥ १ ॥

सर्व एव समागम्य शतक्रतुमथाब्रुवन् ।
कालस्ते विक्रमस्याद्य जहि शत्रून् पुरन्दर ॥ २ ॥

फिर सबने मिलकर इन्द्रसे कहा—'पुरन्दर ! अब आपके लिये पराक्रम करनेका समय आ गया है, अपने शत्रुओंका संहार कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तस्तु सहितैस्त्रिदशैर्मघवांस्तदा ।
तथेत्युक्त्वा प्रचक्राम सोऽपश्यत वने स्त्रियः ॥ ३ ॥

संगठित होकर आये हुए देवताओंद्वारा इस प्रकार कहे जानेपर इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर भूलोकमें आये । वहाँ एक वनमें उन्होंने बहुत-सी स्त्रियोंको देखा ॥ ३ ॥

क्रीडन्तीनां तु कन्यानां वने चैत्ररथोपमे ।
वायुभूतः स वस्त्राणि सर्वाण्येव व्यमिश्रयत् ॥ ४ ॥

वह वन चैत्ररथ नामक देवोद्यानके समान मनोहर था । उसमें वे कन्याएँ जलक्रीड़ा कर रही थीं । इन्द्रने वायुका रूप धारण करके उनके सारे कपड़े परस्पर मिला दिये ॥ ४ ॥

ततो जलात् समुत्तीर्य कन्यास्ताः सहितास्तदा ।
वस्त्राणि जगृहुस्तानि यथासन्नान्यनेकशः ॥ ५ ॥
तत्र वासो देवयान्याः शर्मिष्ठा जगृहे तदा ।
व्यतिमिश्रमजानन्ती दुहिता वृषपर्वणः ॥ ६ ॥

तब वे सभी कन्याएँ एक साथ जलसे निकलकर अपने-अपने अनेक प्रकारके वस्त्र, जो निकट ही रक्खे हुए थे, लेने लगीं । उस सम्मिश्रणमें शर्मिष्ठाने देवयानीका वस्त्र ले लिया । शर्मिष्ठा वृषपर्वाकी पुत्री थी; दोनोंके वस्त्र मिल गये हैं, इस बातका उसे पता नहीं था ॥ ५-६ ॥

ततस्तयोर्मिथस्तत्र विरोधः समजायत ।
देवयान्याश्च राजेन्द्र शर्मिष्ठायाश्च तत्कृते ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! उस समय वस्त्रोंकी अदला-बदलीको लेकर देवयानी और शर्मिष्ठा दोनोंमें वहाँ परस्पर बड़ा भारी विरोध खड़ा हो गया ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

कस्माद् गृह्णासि मे वस्त्रं शिष्या भूत्वा ममासुरि ।
समुदाचारहीनाया न ते साधु भविष्यति ॥ ८ ॥

देवयानी बोली—अरी दानवकी बेटी ! मेरी शिष्या होकर तू मेरा वस्त्र कैसे ले रही है ? तू सज्जनोंके उत्तम आचारसे शून्य है, अतः तेरा भला न होगा ॥ ८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

आसीनं च शयानं च पिता ते पितरं मम ।
स्तौति वन्दीव चाभीक्ष्णं नीचैः स्थित्वा विनीतवत् ॥ ९ ॥

शर्मिष्ठाने कहा—अरी ! मेरे पिता बैठे हों या सो रहे हों, उस समय तेरा पिता विनयशील सेवकके समान नीचे खड़ा होकर बार-बार वन्दीजनोंकी भाँति उनकी स्तुति करता है ॥ ९ ॥

याचतस्त्वं हि दुहिता स्तुवतः प्रतिगृह्णतः ।
सुताहं स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥ १० ॥
आदुन्वस्व विदुन्वस्व द्रुह्य कुप्यस्व याचकि ।
अनायुधा सायुधाया रिक्ता क्षुभ्यसि भिक्षुकि ।
लप्स्यसे प्रतियोद्धारं न हि त्वां गणयाम्यहम् ॥ ११ ॥

तू भिखमंगेकी बेटी है, तेरा बाप स्तुति करता और दान लेता है । मैं उनकी बेटी हूँ, जिनकी स्तुति की जाती है, जो दूसरोंको दान देते हैं और स्वयं किसीसे कुछ भी नहीं लेते हैं । अरी भिक्षुकि ! तू छाती पीट-पीटकर रो अथवा धूलमें लोट-लोटकर कष्ट भोग । मुझसे द्रोह रख या क्रोध कर (इसकी परवा नहीं है) । भिखमंगिन ! तू खाली हाथ है, तेरे पास कोई अस्त्र-शस्त्र भी नहीं है और देख ले, मेरे पास हथियार है । इसलिये तू मेरे ऊपर व्यर्थ ही क्रोध कर रही है । यदि लड़ना ही चाहती है, तो इधरसे भी डटकर सामना करनेवाला मुझ-जैसा योद्धा तुझे मिल जायगा । मैं तुझे कुछ भी नहीं गिनती ॥ १०-११ ॥

(प्रतिकूलं वदसि चेदितः प्रभृति याचकि ।
आकृष्य मम दासीभिः प्रस्थाप्यसि बहिर्बहिः ॥)

भिक्षुकी ! अबसे यदि मेरे विरुद्ध कोई बात कहेगी, तो अपनी दासियोंसे घसीटवाकर तुझे यहाँसे बाहर निकलवा दूँगी ॥

वैशम्पायन उवाच

समुच्छ्रयं देवयानीं गतां सक्तां च वाससि ॥ १२ ॥
शर्मिष्ठा प्राक्षिपत् कूपे ततः स्वपुरमागमत् ।
हतेयमिति विज्ञाय शर्मिष्ठा पापनिश्चया ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीने सच्ची बातें कहकर अपनी उच्चता और महत्ता सिद्ध कर दी और शर्मिष्ठाके शरीरसे अपने वस्त्रको खींचने लगी । यह देख शर्मिष्ठाने उसे कुएँमें ढकेल दिया और अब वह मर

गयी होगी, ऐसा समझकर पापमय विचारवाली शर्मिष्ठा नगरको लौट आयी ॥ १२-१३ ॥

अनवेक्ष्य ययौ वेश्म क्रोधवेगपरायणा ।
अथ तं देशमभ्यागाद् ययातिर्नहुषात्मजः ॥१४॥

वह क्रोधके आवेशमें थी, अतः देवयानीकी ओर देखे बिना ही घर लौट गयी । तदनन्तर नहुषपुत्र ययाति उस स्थानपर आये ॥ १४ ॥

श्रान्तयुग्यः श्रान्तहयो मृगलिप्सुः पिपासितः ।
स नाहुषः प्रेक्षमाण उदपानं गतोदकम् ॥१५॥

उनके रथके वाहन तथा अन्य घोड़े भी थक गये थे । वे एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसके पीछे-पीछे आये थे और प्याससे कष्ट पा रहे थे । ययाति उस जलशून्य कूपको देखने लगे ॥ १५ ॥

ददर्श राजा तां तत्र कन्यामग्निशिखामिव ।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्याममरवर्णिनीम् ॥१६॥

वहाँ उन्हें अग्नि-शिखाके समान तेजस्विनी एक कन्या दिखायी दी, जो देवाङ्गनाके समान सुन्दरी थी । उसपर दृष्टि पड़ते ही राजाने उससे पूछा ॥ १६ ॥

सान्त्वयित्वा नृपश्रेष्ठः साम्ना परमवल्गुना ।
का त्वं ताम्रनखी श्यामा सुमृष्टमणिकुण्डला ॥१७॥

नृपश्रेष्ठ ययातिने पहले परम मधुर वचनोंद्वारा शान्तभावसे उसे आश्वासन दिया और कहा—'तुम कौन हो ? तुम्हारे नख लाल-लाल हैं । तुम षोडशी जान पड़ती हो । तुम्हारे कानोंके मणिमय कुण्डल अत्यन्त सुन्दर और चमकीले हैं ॥ १७ ॥

दीर्घं ध्यायसि चात्यर्थं कस्माच्छोचसि चातुरा ।
कथं च पतितास्यस्मिन् कूपे वीरुत्तृणावृते ॥१८॥
दुहिता चैव कस्य त्वं वद सत्यं सुमध्यमे ।

'तुम किसी अत्यन्त घोर चिन्तामें पड़ी हो । आतुर होकर शोक क्यों कर रही हो ; तृण और लताओंसे ढके हुए इस कुएँमें कैसे गिर पड़ी ? तुम किसकी पुत्री हो ? सुमध्यमे ! ठीक-ठीक बताओ' ॥ १८½ ॥

देवयान्युवाच

योऽसौ देवैर्हतान् दैत्यानुत्थापयति विद्यया ॥१९॥
तस्य शुक्रस्य कन्याहं स मां नूनं न बुध्यते ।

देवयानी बोली—जो देवताओंद्वारा मारे गये दैत्योंको अपनी विद्याके बलसे जिलाया करते हैं, उन्हीं शुक्राचार्यकी मैं पुत्री हूँ । निश्चय ही उन्हें इस बातका पता नहीं होगा कि मैं इस दुरवस्थामें पड़ी हूँ ॥ १९½ ॥

(पृच्छसे मां कस्त्वमसि रूपवीर्यबलान्वितः ।
ब्रूह्यत्रागमनं किं वा श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥

रूप, वीर्य और बलसे सम्पन्न तुम कौन हो, जो मेरा परिचय पूछते हो । यहाँ तुम्हारे आगमनका क्या कारण है, बताओ । मैं यह सब ठीक-ठीक सुनना चाहती हूँ ॥

ययातिरुवाच

ययातिर्नाहुषोऽहं तु श्रान्तोऽद्य मृगलिप्सया ।
कूपे तृणावृते भद्रे दृष्टवानस्मि त्वामिह ॥)

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं राजा नहुषका पुत्र ययाति हूँ । एक हिंसक पशुको मारनेकी इच्छासे इधर आ निकला । थका-माँदा प्यास बुझानेके लिये यहाँ आया और तिनकोंसे ढके हुए इस कूपमें गिरी हुई तुमपर मेरी दृष्टि पड़ गयी ॥

एष मे दक्षिणो राजन् पाणिस्ताम्रनखाङ्गुलिः ॥२०॥
समुद्धर गृहीत्वा मां कुलीनस्त्वं हि मे मतः ।
जानामि त्वां हि संशान्तं वीर्यवन्तं यशस्विनम् ॥२१॥
तस्मान्मां पतितामस्मात् कूपादुद्धर्तुमर्हसि ।

(देवयानी बोली–) महाराज ! लाल नख और अङ्गुलियोंसे युक्त यह मेरा दाहिना हाथ है । इसे पकड़कर आप इस कुएँसे मेरा उद्धार कीजिये । मैं जानती हूँ, आप उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए नरेश हैं । मुझे यह भी मालूम है कि आप परम शान्त स्वभाववाले, पराक्रमी तथा यशस्वी वीर हैं । इसलिये इस कुएँमें गिरी हुई मुझ अबलाका आप यहाँसे उद्धार कीजिये ॥ २०-२१½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामथो ब्राह्मणीं राजा विज्ञाय नहुषात्मजः ॥२२॥
गृहीत्वा दक्षिणे पाणावुज्जहार ततोऽवटात् ।
उद्धृत्य चैनां तरसा तस्मात् कूपान्नराधिपः ॥२३॥
(गच्छ भद्रे यथाकामं न भयं विद्यते तव ।
इत्युच्यमाना नृपतिं देवयानी तमुत्तरम् ॥
उवाच मां त्वमादाय गच्छ शीघ्रं प्रियो हि मे ।
गृहीताहं त्वया पाणौ तस्माद् भर्त्ता भविष्यसि ॥
इत्येवमुक्तो नृपतिराह क्षत्रकुलोद्भवः ।
त्वं भद्रे ब्राह्मणी तस्मान्मया नार्हसि सङ्गमम् ॥
सर्वलोकगुरुः काव्यस्त्वं तस्य दुहितासि वै ।
तस्मादपि भयं मेऽद्य तस्मात् कल्याणि नार्हसि ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर नहुषपुत्र राजा ययातिने देवयानीको ब्राह्मणकन्या जानकर उसका दाहिना हाथ अपने हाथमें ले उसे उस कुएँसे बाहर निकाला । वेगपूर्वक कुएँसे बाहर करके राजा ययाति उससे बोले—'भद्रे ! अब जहाँ इच्छा हो जाओ । तुम्हें कोई भय नहीं है ।' राजा ययातिके ऐसा कहनेपर देवयानीने उन्हें उत्तर देते हुए कहा–'तुम मुझे शीघ्र अपने साथ ले चलो; क्योंकि तुम मेरे प्रियतम हो । तुमने मेरा हाथ पकड़ा है, अतः

तुम्हीं मेरे पति होओगे ।' देवयानीके ऐसा कहनेपर राजा बोले-'भद्रे ! मैं क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ हूँ और तुम ब्राह्मणकन्या हो । अतः मेरे साथ तुम्हारा समागम नहीं होना चाहिये । कल्याणी ! भगवान् शुक्राचार्य सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं और तुम उनकी पुत्री हो, अतः मुझे उनसे भी डर लगता है । तुम मुझ-जैसे तुच्छ पुरुषके योग्य कदापि नहीं हो' ॥

देवयान्युवाच

यदि मद्वचनादद्य मां नेच्छसि नराधिप ।
त्वामेव वरये पित्रा पश्चाज्ज्ञास्यसि गच्छसि ॥)

देवयानी बोली—नरेश्वर ! यदि तुम मेरे कहनेसे आज मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते, तो पिताजीके द्वारा भी तुम्हारा ही वरण करूँगी । फिर तुम मुझे अपने योग्य मानोगे और साथ ले चलोगे ॥

आमन्त्रयित्वा सुश्रोणीं ययातिः स्वपुरं ययौ ।
गते तु नाहुषे तस्मिन् देवयान्यप्यनिन्दिता ॥२४॥
(क्वचिदार्ता च रुदती वृक्षमाश्रित्य तिष्ठति ।
ततश्चिरायमाणायां दुहितर्याह भार्गवः ॥
धात्रि त्वमानय क्षिप्रं देवयानीं शुचिस्मिताम् ।
इत्युक्तमात्रे सा धात्री त्वरिताऽऽह्वयितुं गता ॥
यत्र यत्र सखीभिः सा गता पदमथार्गत ।
सा ददर्श तथा दीनां श्रमार्तां रुदतीं स्थिताम् ॥

(वैशम्पायनजी कहते हैं—) तदनन्तर सुन्दरी देवयानीकी अनुमति लेकर राजा ययाति अपने नगरको चले गये । नहुषनन्दन ययातिके चले जानेपर सती-साध्वी देवयानी आर्त-भावसे रोती हुई कहीं किसी वृक्षका सहारा लेकर खड़ी रही । जब पुत्रीके घर लौटनेमें विलम्ब हुआ, तब शुक्राचार्यने धायसे कहा—'धाय ! तू पवित्र हास्यवाली मेरी बेटी देवयानीको शीघ्र यहाँ बुला ला ।' उनके इतना कहते ही धाय तुरंत उसे बुलाने चली गयी । जहाँ-जहाँ देवयानी सखियोंके साथ गयी थी, वहाँ-वहाँ उसका पदचिह्न खोजती हुई धाय गयी और उसने पूर्वोक्त रूपसे श्रमपीड़ित एवं दीन होकर रोती हुई देवयानीको देखा ॥

धात्र्युवाच

वृत्तं ते किमिदं भद्रे शीघ्रं वद पिताऽऽह्वयत् ।
धात्रीमाह समाहूय शर्मिष्ठावृजिनं कृतम् ॥)
उवाच शोकसंतप्ता घूर्णिकामागतां पुरः ।

तब धायने पूछा—भद्रे ! यह तुम्हारा क्या हाल है ? शीघ्र बताओ । तुम्हारे पिताजीने तुम्हें बुलाया है ।

इसपर देवयानीने धायको अपने निकट बुलाकर शर्मिष्ठा-द्वारा किये हुए अपराधको बताया । वह शोकसे संतप्त हो अपने सामने आयी हुई धाय घूर्णिकासे बोली ।

देवयान्युवाच

त्वरितं घूर्णिके गच्छ शीघ्रमाचक्ष्व मे पितुः ॥२५॥
नेदानीं सम्प्रवेक्ष्यामि नगरं वृषपर्वणः ।

देवयानीने कहा—घूर्णिके ! तुम वेगपूर्वक जाओ और शीघ्र मेरे पिताजीसे कह दो 'अब मैं वृषपर्वाके नगरमें पैर नहीं रक्खूँगी' ॥ २२–२५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तत्र त्वरितं गत्वा घूर्णिकासुरमन्दिरम् ॥२६॥
दृष्ट्वा काव्यमुवाचेदं सम्भ्रमाविष्टचेतना ।
आचचक्षे महाप्राज्ञं देवयानीं वने हताम् ॥२७॥
शर्मिष्ठया महाभाग दुहित्रा वृषपर्वणः ।
श्रुत्वा दुहितरं काव्यस्तत्र शर्मिष्ठया हताम् ॥२८॥
त्वरया निर्ययौ दुःखान्मार्गमाणः सुतां वने ।
दृष्ट्वा दुहितरं काव्यो देवयानीं ततो वने ॥२९॥
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य दुःखितो वाक्यमब्रवीत् ।
आत्मदोषैर्नियच्छन्ति सर्वे दुःखसुखे जनाः ॥३०॥
मन्ये दुश्चरितं तेऽस्ति यस्येयं निष्कृतिः कृता ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर घूर्णिका तुरंत असुरराजके महलमें गयी और वहाँ शुक्राचार्यको देखकर सम्भ्रमपूर्ण चित्तसे वह बात बतला दी । महाभाग ! उसने महाप्राज्ञ शुक्राचार्यको यह बताया कि 'वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाके द्वारा देवयानी वनमें मृततुल्य कर दी गयी है ।' अपनी पुत्रीको शर्मिष्ठाद्वारा मृततुल्य की गयी सुनकर शुक्राचार्य बड़ी उतावलीके साथ निकले और दुखी होकर उसे वनमें ढूँढ़ने लगे । तदनन्तर वनमें अपनी बेटी देवयानीको देखकर शुक्राचार्यने दोनों भुजाओंसे उठाकर उसे हृदयसे लगा लिया और दुखी होकर कहा—'बेटी ! सब लोग अपने ही दोष और गुणोंसे–अशुभ या शुभ कर्मोंसे दुःख एवं सुखमें पड़ते हैं । मालूम होता है, तुमसे कोई बुरा कर्म बन गया था, जिसका बदला तुम्हें इस रूपमें मिला है' ॥ २६–३०½ ॥

देवयान्युवाच

निष्कृतिर्मेऽस्तु वा मास्तु शृणुष्वावहितो मम ॥३१॥

देवयानी बोली—पिताजी ! मुझे अपने कर्मोंका फल मिले या न मिले, आप मेरी बात ध्यान देकर सुनिये ॥३१॥

शर्मिष्ठया यदुक्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ।
सत्यं किलैतत् सा प्राह दैत्यानामसि गायनः ॥३२॥

वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने आज मुझसे जो कुछ कहा है, क्या यह सच है ? वह कहती है–'आप भाटोंकी तरह दैत्योंके गुण गाया करते हैं' ॥ ३२ ॥

एवं हि मे कथयति शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
वचनं तीक्ष्णपरुषं क्रोधरक्तेक्षणा भृशम् ॥३३॥

वृषपर्वाकी लाड़िली शर्मिष्ठा क्रोधसे लाल आँखें करके आज मुझसे इस प्रकार अत्यन्त तीखे और कठोर वचन कह रही थी—॥ ३३ ॥

स्तुवतो दुहिता नित्यं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अहं तु स्तूयमानस्य ददतोऽप्रतिगृह्णतः ॥३४॥

'देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, नित्य भीख माँगनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी है और मैं तो उन महाराजकी पुत्री हूँ, जिनकी तुम्हारे पिता स्तुति करते हैं, जो स्वयं दान देते हैं और लेते एक धेला भी नहीं हैं' ॥ ३४ ॥

इदं मामाह शर्मिष्ठा दुहिता वृषपर्वणः ।
क्रोधसंरक्तनयना दर्पपूर्णा पुनः पुनः ॥३५॥

वृषपर्वाकी बेटी शर्मिष्ठाने आज मुझसे ऐसी बात कही है। कहते समय उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं। वह भारी घमंडसे भरी हुई थी और उसने एक बार ही नहीं अपितु बार-बार उपर्युक्त बातें दुहरायी हैं ॥ ३५ ॥

यद्यहं स्तुवतस्तात दुहिता प्रतिगृह्णतः ।
प्रसादयिष्ये शर्मिष्ठामित्युक्ता तु सखी मया ॥३६॥

तात ! यदि सचमुच मैं स्तुति करनेवाले और दान लेनेवालेकी बेटी हूँ, तो मैं शर्मिष्ठाको अपनी सेवाओंद्वारा प्रसन्न करूँगी। यह बात मैंने अपनी सखीसे कह दी थी ॥ ३६ ॥

(उक्ताप्येवं भृशं क्रुद्धा मां गृह्य विजने वने ।
कूपे प्रक्षेपयामास प्रक्षिप्यैव गृहं ययौ ॥)

मेरे ऐसा कहनेपर भी अत्यन्त क्रोधमें भरी हुई शर्मिष्ठाने उस निर्जन वनमें मुझे पकड़कर कुएँमें ढकेल दिया, उसके बाद वह अपने घर चली गयी ॥

शुक्र उवाच

स्तुवतो दुहिता न त्वं याचतः प्रतिगृह्णतः ।
अस्तोतुः स्तूयमानस्य दुहिता देवयान्यसि ॥३७॥

शुक्राचार्यने कहा—देवयानी ! तू स्तुति करनेवाले, भीख माँगनेवाले या दान लेनेवालेकी बेटी नहीं है। तू उस पवित्र ब्राह्मणकी पुत्री है, जो किसीकी स्तुति नहीं करता और जिसकी सब लोग स्तुति करते हैं ॥ ३७ ॥

वृषपर्वैव तद् वेद शक्रो राजा च नाहुषः ।
अचिन्त्यं ब्रह्म निर्द्वन्द्वमैश्वरं हि बलं मम ॥३८॥

इस बातको वृषपर्वा, देवराज इन्द्र तथा राजा ययाति जानते हैं। निर्द्वन्द्व अचिन्त्य ब्रह्म ही मेरा ऐश्वर्ययुक्त बल है॥

यच्च किंचित् सर्वगतं भूमौ वा यदि वा दिवि ।
तस्याहमीश्वरो नित्यं तुष्टेनोक्तः स्वयम्भुवा ॥३९॥

ब्रह्माजीने संतुष्ट होकर मुझे वरदान दिया है; उसके अनुसार इस भूतलपर, देवलोकमें अथवा सब प्राणियोंमें जो कुछ भी है, उन सबका मैं सदा-सर्वदा स्वामी हूँ ॥ ३९ ॥

अहं जलं विमुञ्चामि प्रजानां हितकाम्यया ।
पुष्णाम्योषधयः सर्वा इति सत्यं ब्रवीमि ते ॥४०॥

मैं ही प्रजाओंके हितके लिये पानी बरसाता हूँ, और मैं ही सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता हूँ, यह तुमसे सच्ची बात कर रहा हूँ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विषादमापन्नां मन्युना सम्प्रपीडिताम् ।
वचनैर्मधुरैः श्लक्ष्णैः सान्त्वयामास तां पिता ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानी इस प्रकार विषादमें डूबकर क्रोध और ग्लानिसे अत्यन्त कष्ट पा रही थी, उस समय पिताने सुन्दर मधुर वचनोंद्वारा उसे समझाया ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

(इस अध्यायमें ४१ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३ श्लोक और कुल ५४ श्लोक हैं)

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यद्वारा देवयानीको समझाना और देवयानीका असंतोष

शुक्र उवाच

(मम विद्या हि निर्द्वन्द्वा ऐश्वर्यं हि फलं मम ।
दैन्यं शाठ्यं च जैह्म्यं च नास्ति मे यदधर्मतः ॥)
यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ १ ॥
यः समुत्पतितं क्रोधं निगृह्णाति हयं यथा ।
स यन्तेत्युच्यते सद्भिर्न यो रश्मिषु लम्बते ॥ २ ॥

शुक्राचार्यने कहा—बेटी ! मेरी विद्या द्वन्द्वरहित है। मेरा ऐश्वर्य ही उसका फल है। मुझमें दीनता, शठता, कुटिलता और अधर्मपूर्ण बर्ताव नहीं है। देवयानी ! जो मनुष्य सदा दूसरोंके कठोर वचन (दूसरोंद्वारा की हुई अपनी निन्दा) को सह लेता है, उसने इस सम्पूर्ण जगत्पर विजय प्राप्त कर ली, ऐसा समझो। जो उभरे हुए क्रोधको घोड़ेके समान वशमें कर लेता है, वही सत्पुरुषोंद्वारा सच्चा सारथि कहा गया है। किंतु जो केवल बागडोर या लगाम पकड़कर लटकता रहता है, वह नहीं ॥ १-२ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधमक्रोधेन निरस्यति ।
देवयानि विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥ ३ ॥

देवयानी ! जो उत्पन्न हुए क्रोधको अक्रोध (क्षमाभाव) के द्वारा मनसे निकाल देता है, समझ लो, उसने सम्पूर्ण जगत्को जीत लिया ॥ ३ ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयेह निरस्यति ।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥

जैसे साँप पुरानी केंचुल छोड़ता है, उसी प्रकार जो मनुष्य उभड़नेवाले क्रोधको यहाँ क्षमाद्वारा त्याग देता है, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा गया है ॥ ४ ॥

यः संधारयते मन्युं योऽतिवादांस्तितिक्षते ।
यश्च तप्तो न तपति दृढं सोऽर्थस्य भाजनम् ॥ ५ ॥

जो क्रोधको रोक लेता है, निन्दा सह लेता है और दूसरेके सतानेपर भी दुखी नहीं होता, वही सब पुरुषार्थोंका सुदृढ़ पात्र है ॥ ५ ॥

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः ।
न क्रुद्ध्येद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य सौ वर्षोंतक प्रत्येक मासमें बिना किसी थकावटके निरन्तर यज्ञ करता रहता है और दूसरा जो किसीपर भी क्रोध नहीं करता, उन दोनोंमें क्रोध न करनेवाला ही श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥

(क्रुद्धस्य निष्फलान्येव दानयज्ञतपांसि च ।
तस्मादक्रोधने यज्ञस्तपो दानं महाफलम् ॥
न पूतो न तपस्वी च न यज्वा न च कर्मवित् ।
क्रोधस्य यो वशं गच्छेत् तस्य लोकद्वयं न च ॥
पुत्रभृत्यसुहृन्मित्रभार्या धर्मश्च सत्यता ।
तस्यैतान्यपयास्यन्ति क्रोधशीलस्य निश्चितम् ॥)
यत् कुमाराः कुमार्यश्च वैरं कुर्युरचेतसः ।
न तत् प्राज्ञोऽनुकुर्वीत न विदुस्ते बलाबलम् ॥ ७ ॥

क्रोधीके यज्ञ, दान और तप—सभी निष्फल होते हैं। अतः जो क्रोध नहीं करता, उसी पुरुषके यज्ञ, तप और दान महान् फल देनेवाले होते हैं। जो क्रोधके वशीभूत हो जाता है, वह कभी पवित्र नहीं होता तथा तपस्या भी नहीं कर सकता। उसके द्वारा यज्ञका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है और वह कर्मके रहस्यको भी नहीं जानता। इतना ही नहीं, उसके लोक और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जो स्वभावसे ही क्रोधी है, उसके पुत्र, भृत्य, सुहृद्, मित्र, पत्नी, धर्म और सत्य—ये सभी निश्चय ही उसे छोड़कर दूर चले जायँगे। अबोध बालक और बालिकाएँ अज्ञानवश आपसमें जो वैर-विरोध करते हैं, उसका अनुकरण समझदार मनुष्योंको नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे नादान बालक दूसरोंके बलाबलको नहीं जानते ॥ ७ ॥

देवयान्युवाच

वेदाहं तात बालापि धर्माणां यदिहान्तरम् ।
अक्रोधे चातिवादे च वेद चापि बलाबलम् ॥ ८ ॥

देवयानीने कहा—पिताजी ! यद्यपि मैं अभी बालिका हूँ फिर भी धर्म-अधर्मका अन्तर समझती हूँ। क्षमा और निन्दाकी सबलता और निर्बलताका भी मुझे ज्ञान है ॥ ८ ॥

शिष्यस्याशिष्यवृत्तेस्तु न क्षन्तव्यं बुभूषता ।
तस्मात् संकीर्णवृत्तेषु वासो मम न रोचते ॥ ९ ॥

परंतु जो शिष्य होकर भी शिष्योचित बर्ताव नहीं करता, अपना हित चाहनेवाले गुरुको उसकी धृष्टता क्षमा नहीं करनी चाहिये। इसलिये इन संकीर्ण आचार-विचारवाले दानवोंके बीच निवास करना अब मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ ९ ॥

पुमांसो ये हि निन्दन्ति वृत्तेनाभिजनेन च ।
न तेषु निवसेत् प्राज्ञः श्रेयोऽर्थी पापबुद्धिषु ॥१०॥

जो पुरुष दूसरोंके सदाचार और कुलकी निन्दा करते हैं, उन पापपूर्ण विचारवाले मनुष्योंमें कल्याणकी इच्छावाले विद्वान् पुरुषको नहीं रहना चाहिये ॥ १० ॥

ये त्वेनमभिजानन्ति वृत्तेनाभिजनेन वा ।
तेषु साधुषु वस्तव्यं स वासः श्रेष्ठ उच्यते ॥११॥

जो लोग आचार, व्यवहार अथवा कुलीनताकी प्रशंसा करते हों, उन साधु पुरुषोंमें ही निवास करना चाहिये और वही निवास श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ ११ ॥

(सुयन्त्रिता वरा नित्यं विहीनाश्च धनैर्नराः ।
दुर्वृत्ताः पापकर्माणश्चाण्डाला धनिनोऽपि वा ॥
अकारणाद् ये द्विषन्ति परिवादं वदन्ति च ।
न तत्रास्य निवासोऽस्ति पाप्मभिः पापतां व्रजेत् ॥
सुकृते दुष्कृते वापि यत्र सज्जति यो नरः ।
ध्रुवं रतिर्भवेत् तत्र तस्माद् दोषं न रोचयेत् ॥)
वाग् दुरुक्तं महाघोरं दुहितुर्वृषपर्वणः ।
मम मथ्नाति हृदयमग्निकाम इवारणिम् ॥१२॥

धनहीन मनुष्य भी यदि सदा अपने मनपर संयम रक्खें तो वे श्रेष्ठ हैं और धनवान् भी यदि दुराचारी तथा पापकर्मी हों, तो वे चाण्डालके समान हैं। जो अकारण किसीके साथ द्वेष करते हैं और दूसरोंकी निन्दा करते रहते हैं, उनके बीचमें सत्पुरुषका निवास नहीं होना चाहिये; क्योंकि पापियोंके सङ्गसे मनुष्य पापात्मा हो जाता है। मनुष्य पाप अथवा पुण्य जिसमें भी आसक्त होता है, उसीमें उसकी दृढ़ प्रीति हो जाती है, इसलिये पापकर्ममें प्रीति नहीं करनी चाहिये।

तात ! वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने जो अत्यन्त भयङ्कर दुर्वचन कहा है, वह मेरे हृदयको मथ रहा है। ठीक उसी तरह, जैसे अग्नि प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है ॥ १२ ॥

न ह्यतो दुष्करतरं मन्ये लोकेष्वपि त्रिषु ।
(निःसंशयो विशेषेण परुषं मर्मकृन्तनम् ।
सुहृन्मित्रजनास्तेषु सौहृदं न च कुर्वते ॥)
यः सपत्नश्रियं दीप्तां हीनश्रीः पर्युपासते ।
मरणं शोभनं तस्य इति विद्वज्जना विदुः ॥१३॥

इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात मैं अपने लिये तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं मानती हूँ । इसमें संदेह नहीं कि कटुवचन मर्मस्थलोंको विदीर्ण करनेवाला होता है । कटुवादी मनुष्योंसे उनके सगे-सम्बन्धी और मित्र भी प्रेम नहीं करते हैं । जो श्रीहीन होकर शत्रुओंकी चमकती हुई लक्ष्मीकी उपासना करता है, उस मनुष्यका तो मर जाना ही अच्छा है; ऐसा विद्वान् पुरुष अनुभव करते हैं ॥ १३ ॥

(अवमानमवाप्नोति शनैर्नीचेषु सङ्गतः ।
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
शनैर्दुःखं शस्त्रविषाग्निजातं
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥
संरोहति शरैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥)

नीच पुरुषोंके सङ्गसे मनुष्य धीरे-धीरे अपमानित हो जाता है । मुखसे जो कटुवचनरूपी बाण छूटते हैं, उनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है । शस्त्र, विष और अग्निसे प्राप्त होनेवाला दुःख शनैः-शनैः अनुभवमें आता है (परंतु कटुवचन तत्काल ही अत्यन्त कष्ट देने लगता है) । अतः विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह दूसरोंपर वाग्बाण न छोड़े । बाणसे बिंधा हुआ वृक्ष और फरसेसे काटा हुआ जंगल फिर पनप जाता है, परंतु वाणीद्वारा जो भयानक कटुवचन निकलता है, उससे घायल हुए हृदयका घाव फिर नहीं भरता ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(इस अध्यायमें १३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक और कुल २३½ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

शुक्राचार्यका वृषपर्वाको फटकारना तथा उसे छोड़कर जानेके लिये उद्यत होना और वृषपर्वाके आदेशसे शर्मिष्ठाका देवयानीकी दासी बनकर शुक्राचार्य तथा देवयानीको संतुष्ट करना

वैशम्पायन उवाच

ततः काव्यो भृगुश्रेष्ठः समन्युरुपगम्य ह ।
वृषपर्वाणमासीनमित्युवाचाविचारयन् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवयानीकी बात सुनकर भृगुश्रेष्ठ शुक्राचार्य बड़े क्रोधमें भरकर वृषपर्वाके समीप गये । वह राज्यसिंहासनपर बैठा हुआ था । शुक्राचार्यजीने बिना कुछ सोचे-विचारे उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्यमानो हि कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ २ ॥

'राजन् ! जो अधर्म किया जाता है, उसका फल तुरंत नहीं मिलता । जैसे गायकी सेवा करनेपर धीरे-धीरे कुछ कालके बाद वह ब्याती और दूध देती है अथवा धरतीको जोत-बोकर बीज डालनेसे कुछ कालके बाद पौधा उगता और यथासमय फल देता है, उसी प्रकार किया जानेवाला अधर्म धीरे-धीरे कर्ताकी जड़ काट देता है ॥ २ ॥

पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति ।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरु भुक्तमिवोदरे ॥ ३ ॥

'यदि वह (पापसे उपार्जित द्रव्यका) दुष्परिणाम अपने ऊपर नहीं दिखायी देता तो उस अन्यायोपार्जित द्रव्यका उपभोग करनेके कारण पुत्रों अथवा नाती-पोतोंपर अवश्य प्रकट होता है । जैसे खाया हुआ गरिष्ठ अन्न तुरंत नहीं तो कुछ देर बाद अवश्य ही पेटमें उपद्रव करता है, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी निश्चय ही अपना फल देता है ॥ ३ ॥

(अधीयानं हितं राजन् क्षमावन्तं जितेन्द्रियम् ।)
यदघातयथा विप्रं कचमाङ्गिरसं तदा ।
अपापशीलं धर्मज्ञं शुश्रूषुं मद्गृहे रतम् ॥ ४ ॥

'राजन् ! अङ्गिराके पौत्र कच विशुद्ध ब्राह्मण हैं । वे स्वाध्याय-परायण, हितैषी, क्षमावान् और जितेन्द्रिय हैं, स्वभावसे ही निष्पाप और धर्मज्ञ हैं तथा उन दिनों मेरे घरमें रहकर निरन्तर मेरी सेवामें संलग्न थे, परंतु तुमने उनका बार-बार वध करवाया था ॥ ४ ॥

वधादनर्हतस्तस्य वधाच्च दुहितुर्मम ।
वृषपर्वन् निबोधेदं त्यक्ष्यामि त्वां सबान्धवम् ।
स्थातुं त्वद्विषये राजन् न शक्ष्यामि त्वया सह ॥ ५ ॥

'वृषपर्वन् ! ध्यान देकर मेरी यह बात सुन लो, तुम्हारे द्वारा पहले वधके अयोग्य ब्राह्मणका वध किया गया है और अब मेरी पुत्री देवयानीका भी वध करनेके लिये उसे कुएँमें ढकेला गया है। इन दोनों हत्याओंके कारण मैं तुमको और तुम्हारे भाई-बन्धुओंको त्याग दूँगा। राजन् ! तुम्हारे राज्यमें और तुम्हारे साथ मैं एक क्षण भी नहीं ठहर सकूँगा ॥ ५ ॥

अहो मामभिजानासि दैत्य मिथ्याप्रलापिनम् ।
यथेममात्मनो दोषं न नियच्छस्युपेक्षसे ॥ ६ ॥

'दैत्यराज ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि तुमने मुझे मिथ्यावादी समझ लिया। तभी तो तुम अपने इस दोषको दूर नहीं करते और लापरवाही दिखाते हो' ॥ ६ ॥

वृषपर्वोवाच

(यदि ब्रह्मन् घातयामि यदि वाऽऽक्रोशयाम्यहम् ।
शर्मिष्ठया देवयानीं तेन गच्छाम्यसद्गतिम् ॥)

वृषपर्वा बोले—ब्रह्मन् ! यदि मैं शर्मिष्ठासे देवयानीको पिटवाता या तिरस्कृत करवाता होऊँ तो इस पापसे मुझे सद्गति न मिले ॥

नाधर्मं न मृषावादं त्वयि जानामि भार्गव ।
त्वयि धर्मश्च सत्यं च तद् प्रसीदतु नो भवान् ॥ ७ ॥
यद्यस्मानपहाय त्वमितो गच्छसि भार्गव ।
समुद्रं सम्प्रवेक्ष्यामो नान्यदस्ति परायणम् ॥ ८ ॥

भृगुनन्दन ! आपपर अधर्म अथवा मिथ्याभाषणका दोष मैंने कभी लगाया हो, यह मैं नहीं जानता। आपमें तो सदा धर्म और सत्य प्रतिष्ठित हैं। अतः आप हमलोगोंपर कृपा करके प्रसन्न होइये। भार्गव ! यदि आप हमें छोड़कर चले जाते हैं तो हम सब लोग समुद्रमें समा जायँगे; हमारे लिये दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ७-८ ॥

(यद्येव देवान् गच्छेस्त्वं मां च त्यक्त्वा ग्रहाधिप ।
सर्वत्यागं ततः कृत्वा प्रविशामि हुताशनम् ॥)

ग्रहेश्वर ! यदि आप मुझे छोड़कर देवताओंके पक्षमें चले जायँगे तो मैं भी सर्वस्व त्याग कर जलती आगमें कूद पड़ूँगा ॥

शुक्र उवाच

समुद्रं प्रविशध्वं वा दिशो वा द्रवतासुराः ।
दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे ॥ ९ ॥

शुक्राचार्यने कहा—असुरो ! तुमलोग समुद्रमें घुस जाओ अथवा चारों दिशाओंमें भाग जाओ; मैं अपनी पुत्रीके प्रति किया गया अप्रिय बर्ताव नहीं सह सकता; क्योंकि वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ ९ ॥

प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ।
योगक्षेमकरस्तेऽहमिन्द्रस्येव बृहस्पतिः ॥ १० ॥

तुम देवयानीको प्रसन्न करो, क्योंकि उसीमें मेरे प्राण बसते हैं। उसके प्रसन्न हो जानेपर इन्द्रके पुरोहित बृहस्पतिकी भाँति मैं तुम्हारे योगक्षेमका वहन करता रहूँगा ॥ १० ॥

वृषपर्वोवाच

यत् किंचिदसुरेन्द्राणां विद्यते वसु भार्गव ।
भुवि हस्तिगवाश्वं च तस्य त्वं मम चेश्वरः ॥ ११ ॥

वृषपर्वा बोले—भृगुनन्दन ! असुरेश्वरोंके पास इस भूतलपर जो कुछ भी सम्पत्ति तथा हाथी-घोड़े और गाय आदि पशुधन है, उसके और मेरे भी आप ही स्वामी हैं ॥ ११ ॥

शुक्र उवाच

यत् किंचिदस्ति द्रविणं दैत्येन्द्राणां महासुर ।
तस्येश्वरोऽस्मि यद्येषा देवयानी प्रसाद्यताम् ॥ १२ ॥

शुक्राचार्यने कहा—महान् असुर ! दैत्यराजोंका जो कुछ भी धन-वैभव है, यदि उसका स्वामी मैं ही हूँ तो उसके द्वारा इस देवयानीको प्रसन्न करो ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्याह वृषपर्वा महाकविः ।
देवयान्यन्तिकं गत्वा तमर्थं प्राह भार्गवः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर वृषपर्वाने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा मान ली। तदनन्तर दोनों देवयानीके पास गये और महाकवि शुक्राचार्यने वृषपर्वाकी कही हुई सारी बात कह सुनायी ॥ १३ ॥

देवयान्युवाच

यदि त्वमीश्वरस्तात राज्ञो वित्तस्य भार्गव ।
नाभिजानामि तत् तेऽहं राजा तु वदतु स्वयम् ॥ १४ ॥

तब देवयानीने कहा—तात ! यदि आप राजाके धनके स्वामी हैं तो आपके कहनेसे मैं इस बातको नहीं मानूँगी। राजा स्वयं कहें, तो मुझे विश्वास होगा ॥ १४ ॥

वृषपर्वोवाच

यं काममभिकामासि देवयानि शुचिस्मिते ।
तत् तेऽहं सम्प्रदास्यामि यदि वापि हि दुर्लभम् ॥ १५ ॥

वृषपर्वा बोले—पवित्र मुसकानवाली देवयानी ! तुम जिस वस्तुको पाना चाहती हो, वह यदि दुर्लभ हो तो भी तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ १५ ॥

देवयान्युवाच

दासीं कन्यासहस्रेण शर्मिष्ठामभिकामये ।
अनु मां तत्र गच्छेत् सा यत्र दद्याच्च मे पिता ॥ १६ ॥

देवयानीने कहा—मैं चाहती हूँ, शर्मिष्ठा एक हजार कन्याओंके साथ मेरी दासी होकर रहे और पिताजी जहाँ मेरा विवाह करें, वहाँ भी वह मेरे साथ जाय ॥ १६ ॥

वृषपर्वोवाच

उत्तिष्ठ त्वं गच्छ धात्रि शर्मिष्ठां शीघ्रमानय ।
यं च कामयते कामं देवयानी करोतु तम् ॥ १७ ॥

यह सुनकर वृषपर्वाने धायसे कहा—धात्री! तुम उठो, जाओ और शर्मिष्ठाको शीघ्र बुला लाओ एवं देवयानीकी जो कामना हो, उसे वह पूर्ण करे ॥ १७ ॥

(त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥)

कुलके हितके लिये एक मनुष्यको त्याग दे। गाँवके भलेके लिये एक कुलको छोड़ दे। जनपदके लिये एक गाँवकी उपेक्षा कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारी पृथ्वीको त्याग दे॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धात्री तत्र गत्वा शर्मिष्ठां वाक्यमब्रवीत् ।
उत्तिष्ठ भद्रे शर्मिष्ठे ज्ञातीनां सुखमावह ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धायने शर्मिष्ठाके पास जाकर कहा—'भद्रे शर्मिष्ठे! उठो और अपने जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाओ ॥ १८ ॥

त्यजति ब्राह्मणः शिष्यान् देवयान्या प्रचोदितः ।
सा यं कामयते कामं स कार्योऽद्य त्वयानघे ॥ १९ ॥

'पापरहित राजकुमारी! आज बाबा शुक्राचार्य देवयानीके कहनेसे अपने शिष्यों—यजमानोंको त्याग रहे हैं। अतः देवयानीकी जो कामना हो, वह तुम्हें पूर्ण करनी चाहिये' ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यं सा कामयते कामं करवाण्यहमद्य तम् ।
यद्येवमाह्वयेच्छुक्रो देवयानीकृते हि माम् ।
मद्दोषान्मागमच्छुक्रो देवयानी च मत्कृते ॥ २० ॥

शर्मिष्ठा बोली—यदि इस प्रकार देवयानीके लिये ही शुक्राचार्यजी मुझे बुला रहे हैं तो देवयानी जो कुछ चाहती है, वह सब आजसे मैं करूँगी। मेरे अपराधसे शुक्राचार्यजी न जायँ और देवयानी भी मेरे कारण अन्यत्र जानेका विचार न करे ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कन्यासहस्रेण वृता शिबिकया तदा ।
पितुर्नियोगात् त्वरिता निश्चक्राम पुरोत्तमात् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पिताकी आज्ञासे राजकुमारी शर्मिष्ठा शिबिकापर आरूढ़ हो तुरंत राजधानीसे बाहर निकली। उस समय वह एक सहस्र कन्याओंसे घिरी हुई थी ॥ २१ ॥

शर्मिष्ठोवाच

अहं दासीसहस्रेण दासी ते परिचारिका ।
अनु त्वां तत्र यास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २२ ॥

शर्मिष्ठा बोली—देवयानी! मैं एक सहस्र दासियोंके साथ तुम्हारी दासी बनकर सेवा करूँगी और तुम्हारे पिता जहाँ भी तुम्हारा व्याह करेंगे, वहाँ तुम्हारे साथ चलूँगी॥

देवयान्युवाच

स्तुवतो दुहिताहं ते याचतः प्रतिगृह्णतः ।
स्तूयमानस्य दुहिता कथं दासी भविष्यसि ॥ २३ ॥

देवयानीने कहा—अरी! मैं तो स्तुति करनेवाले और दान लेनेवाले भिक्षुककी पुत्री हूँ और तुम उस बड़े बापकी बेटी हो, जिसकी मेरे पिता स्तुति करते हैं; फिर मेरी दासी बनकर कैसे रहोगी ॥ २३ ॥

शर्मिष्ठोवाच

येन केनचिदार्तानां ज्ञातीनां सुखमावहेत् ।
अतस्त्वामनुयास्यामि यत्र दास्यति ते पिता ॥ २४ ॥

शर्मिष्ठा बोली—जिस किसी उपायसे भी सम्भव हो, अपने विपद्ग्रस्त जाति-भाइयोंको सुख पहुँचाना चाहिये। अतः तुम्हारे पिता जहाँ तुम्हें देंगे, वहाँ भी मैं तुम्हारे साथ चलूँगी ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिश्रुते दासभावे दुहित्रा वृषपर्वणः ।
देवयानी नृपश्रेष्ठ पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ! जब वृषपर्वाकी पुत्रीने दासी होनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब देवयानीने अपने पितासे कहा ॥ २५ ॥

देवयान्युवाच

प्रविशामि पुरं तात तुष्टास्मि द्विजसत्तम ।
अमोघं तव विज्ञानमस्ति विद्याबलं च ते ॥ २६ ॥

देवयानी बोली—पिताजी! अब मैं नगरमें प्रवेश करूँगी। द्विजश्रेष्ठ! अब मुझे विश्वास हो गया कि आपका विज्ञान और आपकी विद्याका बल अमोघ है ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो दुहित्रा स द्विजश्रेष्ठो महायशाः ।
प्रविवेश पुरं हृष्टः पूजितः सर्वदानवैः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी पुत्री देवयानीके ऐसा कहनेपर महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ शुक्राचार्यने समस्त दानवोंसे पूजित एवं प्रसन्न होकर नगरमें प्रवेश किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्यानेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक और कुल ३२½ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

सखियोंसहित देवयानी और शर्मिष्ठाका वन-विहार, राजा ययातिका आगमन, देवयानीकी उनके साथ बातचीत तथा विवाह

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य देवयानी नृपोत्तम।
वनं तदेव निर्याता क्रीडार्थं वरवर्णिनी ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् उत्तम वर्णवाली देवयानी फिर उसी वनमें विहारके लिये गयी ॥ १ ॥

तेन दासीसहस्रेण सार्धं शर्मिष्ठया तदा।
तमेव देशं सम्प्राप्ता यथाकामं चचार सा ॥ २ ॥
ताभिः सखीभिः सहिता सर्वाभिर्मुदिता भृशम्।
क्रीडन्त्योऽभिरताः सर्वाः पिबन्त्यो मधुमाधवीम् ॥ ३ ॥
खादन्त्यो विविधान् भक्ष्यान् विदशन्त्यः फलानि च।
पुनश्च नाहुषो राजा मृगलिप्सुर्यदृच्छया ॥ ४ ॥
तमेव देशं सम्प्राप्तो जलार्थी श्रमकर्शितः।
ददृशे देवयानीं स शर्मिष्ठां ताश्च योषितः ॥ ५ ॥

उस समय उसके साथ एक हजार दासियोंसहित शर्मिष्ठा भी सेवामें उपस्थित थी। वनके उसी प्रदेशमें जाकर वह उन समस्त सखियोंके साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक इच्छानुसार विचरने लगी। वे सभी किशोरियाँ वहाँ भाँति-भाँतिके खेल खेलती हुई आनन्दमें मग्न हो गयीं। वे कभी वासन्तिक पुष्पोंके मकरन्दका पान करतीं, कभी नाना प्रकारके भोज्य पदार्थोंका स्वाद लेतीं और कभी फल खाती थीं। इसी समय नहुषपुत्र राजा ययाति पुनः शिकार खेलनेके लिये दैवेच्छासे उसी स्थानपर आ गये। वे परिश्रम करनेके कारण अधिक थक गये थे और जल पीना चाहते थे। उन्होंने देवयानी, शर्मिष्ठा तथा अन्य युवतियोंको भी देखा ॥ २-५ ॥

पिबन्तीर्ललमानाश्च दिव्याभरणभूषिताः।
(आसने प्रवरे दिव्ये सर्वाभरणभूषिते।)
उपविष्टां च ददृशे देवयानीं शुचिस्मिताम् ॥ ६ ॥

वे सभी दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हो पीनेयोग्य रसका पान और भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ कर रही थीं। राजाने पवित्र मुसकानवाली देवयानीको वहाँ समस्त आभूषणोंसे विभूषित परम सुन्दर दिव्य आसनपर बैठी हुई देखा ॥ ६ ॥

रूपेणाप्रतिमां तासां स्त्रीणां मध्ये वराङ्गनाम्।
शर्मिष्ठया सेव्यमानां पादसंवाहनादिभिः ॥ ७ ॥

उसके रूपकी कहीं तुलना नहीं थी। वह सुन्दरी उन स्त्रियोंके मध्यमें बैठी हुई थी और शर्मिष्ठाद्वारा उसकी चरणसेवा की जा रही थी ॥ ७ ॥

ययातिरुवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां द्वे कन्ये परिवारिते।
गोत्रे च नामनी चैव द्वयोः पृच्छाम्यहं शुभे ॥ ८ ॥

ययातिने पूछा—दो हजार[1] कुमारी सखियोंसे घिरी हुई कन्याओ ! मैं आप दोनोंके गोत्र और नाम पूछ रहा हूँ। शुभे ! आप दोनों अपना परिचय दें ॥ ८ ॥

देवयान्युवाच

आख्यास्याम्यहमादत्स्व वचनं मे नराधिप।
शुक्रो नामासुरगुरुः सुतां जानीहि तस्य माम् ॥ ९ ॥

देवयानी बोली—महाराज ! मैं स्वयं परिचय देती हूँ, आप मेरी बात सुनें। असुरोंके जो सुप्रसिद्ध गुरु शुक्राचार्य हैं, मुझे उन्हींकी पुत्री जानिये ॥ ९ ॥

इयं च मे सखी दासी यत्राहं तत्र गामिनी।
दुहिता दानवेन्द्रस्य शर्मिष्ठा वृषपर्वणः ॥ १० ॥

यह दानवराज वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मेरी सखी और दासी है। मैं विवाह होनेपर जहाँ जाऊँगी, वहाँ यह भी जायगी ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

कथं तु ते सखी दासी कन्येयं वरवर्णिनी।
असुरेन्द्रसुता सुभ्रूः परं कौतूहलं हि मे ॥ ११ ॥

ययाति बोले—सुन्दरी ! यह असुरराजकी रूपवती कन्या सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठा आपकी सखी और दासी किस प्रकार हुई ? यह बताइये। इसे सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ११ ॥

देवयान्युवाच

सर्व एव नरश्रेष्ठ विधानमनुवर्तते।
विधानविहितं मत्वा मा विचित्राः कथाः कृथाः ॥ १२ ॥

१. किन्हीं श्लोकोंमें दो हजार और किन्हींमें एक हजार सखियोंका वर्णन आता है। यथावसर दोनों ठीक हैं।

देवयानी बोली—नरश्रेष्ठ ! सब लोग दैवके विधानका ही अनुसरण करते हैं । इसे भी भाग्यका विधान मानकर संतोष कीजिये । इस विषयकी विचित्र घटनाओंको न पूछिये ॥

राजवद् रूपवेषौ ते ब्राह्मीं वाचं बिभर्षि च ।
को नाम त्वं कुतश्चासि कस्य पुत्रश्च शंस मे ॥१३॥

आपके रूप और वेष राजाके समान हैं और आप ब्राह्मी वाणी (विशुद्ध संस्कृत भाषा) बोल रहे हैं। मुझे बताइये; आपका क्या नाम है, कहाँसे आये हैं और किसके पुत्र हैं ? ॥१३॥

ययातिरुवाच

ब्रह्मचर्येण वेदो मे कृत्स्नः श्रुतिपथं गतः ।
राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः ॥१४॥

ययातिने कहा—मैंने ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक सम्पूर्ण वेदका अध्ययन किया है । मैं राजा नहुषका पुत्र हूँ और इस समय स्वयं राजा हूँ । मेरा नाम ययाति है ॥ १४ ॥

देवयान्युवाच

केनास्यर्थेन नृपते इमं देशमुपागतः ।
जिघृक्षुर्वारिजं किंचिदथवा मृगलिप्सया ॥१५॥

देवयानीने पूछा—महाराज ! आप किस कार्यसे वनके इस प्रदेशमें आये हैं ? आप जल अथवा कमल लेना चाहते हैं या शिकारकी इच्छासे ही आये हैं ? ॥ १५ ॥

ययातिरुवाच

मृगलिप्सुरहं भद्रे पानीयार्थमुपागतः ।
बहुधाप्यनुयुक्तोऽस्मि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥१६॥

ययातिने कहा—भद्रे ! मैं एक हिंसक पशुको मारनेके लिये उसका पीछा कर रहा था, इससे बहुत थक गया हूँ और पानी पीनेके लिये यहाँ आया हूँ । अतः अब मुझे आज्ञा दीजिये ॥

देवयान्युवाच

द्वाभ्यां कन्यासहस्राभ्यां दास्या शर्मिष्ठया सह ।
त्वदधीनास्मि भद्रं ते सखा भर्ता च मे भव ॥१७॥

देवयानीने कहा—राजन् ! आपका कल्याण हो । मैं दो हजार कन्याओं तथा अपनी सेविका शर्मिष्ठाके साथ आपके अधीन होती हूँ । आप मेरे सखा और पति हो जायँ ॥१७॥

ययातिरुवाच

विद्ध्यौशनसि भद्रं ते न त्वामर्होऽस्मि भाविनि ।
अविवाह्या हि राजानो देवयानि पितुस्तव ॥१८॥

ययाति बोले—शुक्रनन्दिनी देवयानी ! आपका भला हो । भाविनि ! मैं आपके योग्य नहीं हूँ । क्षत्रियलोग आपके पितासे कन्यादान लेनेके अधिकारी नहीं हैं ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

संसृष्टं ब्रह्मणा क्षत्रं क्षत्रेण ब्रह्म संहितम् ।
ऋषिश्चाप्यृषिपुत्रश्च नाहुषाङ्ग वहस्व माम् ॥१९॥

देवयानीने कहा—नहुषनन्दन ! ब्राह्मणसे क्षत्रिय जाति और क्षत्रियसे ब्राह्मण जाति मिली हुई है। आप राजर्षिके पुत्र हैं और स्वयं भी राजर्षि हैं । अतः मुझसे विवाह कीजिये ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

एकदेहोद्भवा वर्णाश्चत्वारोऽपि वराङ्गने ।
पृथग्धर्माः पृथक्छौचास्तेषां तु ब्राह्मणो वरः ॥२०॥

ययाति बोले—वराङ्गने ! एक ही परमेश्वरके शरीरसे चारों वर्णोंकी उत्पत्ति हुई है; परंतु सबके धर्म और शौचाचार अलग-अलग हैं । ब्राह्मण उन सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ २० ॥

देवयान्युवाच

पाणिधर्मो नाहुषायं न पुम्भिः सेवितः पुरा ।
तं मे त्वमग्रहीरग्रे वृणोमि त्वामहं ततः ॥२१॥

देवयानीने कहा—नहुषकुमार ! नारीके लिये पाणिग्रहण एक धर्म है । पहले किसी भी पुरुषने मेरा हाथ नहीं पकड़ा था । सबसे पहले आपहीने मेरा हाथ पकड़ा था । इसलिये आपहीका मैं पतिरूपमें वरण करती हूँ ॥२१॥

कथं नु मे मनस्विन्याः पाणिमन्यः पुमान् स्पृशेत् ।
गृहीतमृषिपुत्रेण स्वयं वाप्यृषिणा त्वया ॥२२॥

मैं मनको वशमें रखनेवाली स्त्री हूँ । आप-जैसे राजर्षिकुमार अथवा राजर्षिद्वारा पकड़े गये मेरे हाथका स्पर्श अब दूसरा पुरुष कैसे कर सकता है ॥ २२ ॥

ययातिरुवाच

क्रुद्धादाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेयः पुंसा विजानता ॥२३॥

ययाति बोले—देवि ! विज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह ब्राह्मणको क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्प तथा सब ओरसे प्रज्वलित अग्निसे भी अधिक दुर्धर्ष एवं भयंकर समझे ॥ २३ ॥

देवयान्युवाच

कथमाशीविषात् सर्पाज्ज्वलनात् सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्र इत्यात्थ पुरुषर्षभ ॥२४॥

देवयानीने कहा—पुरुषप्रवर ! ब्राह्मण विषधर सर्प और सब ओरसे प्रज्वलित होनेवाली अग्निसे भी दुर्धर्ष एवं भयंकर है, यह बात आपने कैसे कही ? ॥ २४ ॥

ययातिरुवाच

एकमाशीविषो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
हन्ति विप्रः सराष्ट्राणि पुराण्यपि हि कोपितः ॥२५॥
दुराधर्षतरो विप्रस्तस्माद् भीरु मतो मम ।
अतोऽदत्तां च पित्रा त्वां भद्रे न विवहाम्यहम् ॥२६॥

ययाति बोले—भद्रे ! सर्प एकको ही मारता है, शस्त्रसे भी एक ही व्यक्तिका वध होता है; परंतु क्रोधमें

भरा हुआ ब्राह्मण समस्त राष्ट्र और नगरका भी नाश कर देता है। भीरु ! इसीलिये मैं ब्राह्मणको अधिक दुर्धर्ष मानता हूँ। अतः जबतक आपके पिता आपको मेरे हवाले न कर दें, तबतक मैं आपसे विवाह नहीं करूँगा ॥ २५-२६ ॥

देवयान्युवाच

दत्तां वहस्व तन्मा त्वं पित्रा राजन् वृतो मया।
अयाचतो भयं नास्ति दत्तां च प्रतिगृह्णतः ॥२७॥
(तिष्ठ राजन् मुहूर्तं तु प्रेषयिष्याम्यहं पितुः।

देवयानीने कहा—राजन् ! मैंने आपका वरण कर लिया है, अब आप मेरे पिताके देनेपर ही मुझसे विवाह करें। आप स्वयं तो उनसे याचना करते नहीं हैं; उनके देनेपर ही मुझे स्वीकार करेंगे। अतः आपको उनके कोपका भय नहीं है। राजन् ! दो घड़ी ठहर जाइये। मैं अभी पिताके पास संदेश भेजती हूँ ॥२७॥

गच्छ त्वं धात्रिके शीघ्रं ब्रह्मकल्पमिहानय ॥
स्वयंवरे वृतं शीघ्रं निवेदय च नाहुषम् ॥)

धाय ! शीघ्र जाओ और मेरे ब्रह्मतुल्य पिताको यहाँ बुला ले आओ। उनसे यह भी कह देना कि देवयानीने स्वयंवरकी विधिसे नहुषनन्दन राजा ययातिका पतिरूपमें वरण किया है॥

वैशम्पायन उवाच

त्वरितं देवयान्याथ संदिष्टं पितुरात्मनः।
सर्वं निवेदयामास धात्री तस्मै यथातथम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार देवयानीने तुरंत धायको भेजकर अपने पिताको संदेश दिया। धायने जाकर शुक्राचार्यसे सब बातें ठीक-ठीक बता दीं ॥ २८ ॥

श्रुत्वैव च स राजानं दर्शयामास भार्गवः।
दृष्ट्वैव चागतं शुक्रं ययातिः पृथिवीपतिः।
ववन्दे ब्राह्मणं काव्यं प्राञ्जलिः प्रणतः स्थितः ॥२९॥

सब समाचार सुनते ही शुक्राचार्यने वहाँ आकर राजाको दर्शन दिया। विप्रवर शुक्राचार्यको आया देख राजा ययातिने उन्हें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर विनम्रभावसे खड़े हो गये ॥२९॥

देवयान्युवाच

राजायं नाहुषस्तात दुर्गमे पाणिमग्रहीत्।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे ॥३०॥

देवयानी बोली—तात ! ये नहुषपुत्र राजा ययाति हैं। इन्होंने संकटके समय मेरा हाथ पकड़ा था। आपको नमस्कार है। आप मुझे इन्हींकी सेवामें समर्पित कर दें। मैं इस जगत्में इनके सिवा दूसरे किसी पतिका वरण नहीं करूँगी ॥३०॥

शुक्र उवाच

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज ॥३१॥

शुक्राचार्यने कहा—वीर नहुषनन्दन ! मेरी इस लाड़ली पुत्रीने तुम्हें पतिरूपमें वरण किया है; अतः मेरी दी हुई इस कन्याको तुम अपनी पटरानीके रूपमें ग्रहण करो ॥

ययातिरुवाच

अधर्मो न स्पृशेदेष महान् मामिह भार्गव।
वर्णसंकरजो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ॥३२॥

ययाति बोले—भार्गव ब्रह्मन् ! मैं आपसे यह वर माँगता हूँ कि इस विवाहमें यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला वर्णसंकर-जनित महान् अधर्म मेरा स्पर्श न करे ॥ ३२ ॥

शुक्र उवाच

अधर्मात् त्वां विमुञ्चामि वृणु त्वं वरमीप्सितम्।
अस्मिन् विवाहे मा म्लासीरहं पापं नुदामि ते ॥३३॥

शुक्राचार्यने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें अधर्मसे मुक्त करता हूँ; तुम्हारी जो इच्छा हो वर माँग लो। इस विवाहको लेकर तुम्हारे मनमें ग्लानि नहीं होनी चाहिये। मैं तुम्हारे सारे पापको दूर करता हूँ ॥ ३३ ॥

वहस्व भार्यां धर्मेण देवयानीं सुमध्यमाम्।
अनया सह सम्प्रीतिमतुलां समवाप्नुहि ॥३४॥

तुम सुन्दरी देवयानीको धर्मपूर्वक अपनी पत्नी बनाओ और इसके साथ रहकर अतुल सुख एवं प्रसन्नता प्राप्त करो ॥

इयं चापि कुमारी ते शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी।
सम्पूज्या सततं राजन् मा चैनां शयने ह्वयेः ॥३५॥

महाराज ! वृषपर्वाकी पुत्री यह कुमारी शर्मिष्ठा भी तुम्हें समर्पित है। इसका सदा आदर करना, किंतु इसे अपनी सेजपर कभी न बुलाना ॥ ३५ ॥

(रहस्येनां समाहूय न वदेर्न च संस्पृशेः।
वहस्व भार्यां भद्रं ते यथाकाममवाप्स्यसि ॥)

तुम्हारा कल्याण हो। इस शर्मिष्ठाको एकान्तमें बुलाकर न तो इससे बात करना और न इसके शरीरका स्पर्श ही करना। अब तुम विवाह करके इसे अपनी पत्नी बनाओ। इससे तुम्हें इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो ययातिस्तु शुक्रं कृत्वा प्रदक्षिणम्।
शास्त्रोक्तविधिना राजा विवाहमकरोच्छुभम् ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शुक्राचार्यके ऐसा कहनेपर राजा ययातिने उनकी परिक्रमा की और शास्त्रोक्त विधिसे मङ्गलमय विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ ३६ ॥

लब्ध्वा शुक्रान्महद् वित्तं देवयानीं तदोत्तमाम्।
द्विसहस्रेण कन्यानां तथा शर्मिष्ठया सह ॥३७॥

सम्पूजितश्च शुक्रेण दैत्यैश्च नृपसत्तमः ।
जगाम स्वपुरं हृष्टोऽनुज्ञातोऽथ महात्मना ॥ ३८ ॥

शुक्राचार्यसे देवयानी-जैसी उत्तम कन्या, शर्मिष्ठा और दो हजार अन्य कन्याओं तथा महान् वैभवको पाकर दैत्यों एवं शुक्राचार्यसे पूजित हो, उन महात्माकी आज्ञा ले नृपश्रेष्ठ ययाति बड़े हर्षके साथ अपनी राजधानीको गये ॥ ३७-३८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत ययात्युपाख्यान-विषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

(इस अध्यायमें ३८ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक और कुल ४१ श्लोक हैं)

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

ययातिसे देवयानीको पुत्र-प्राप्ति; ययाति और शर्मिष्ठाका एकान्त मिलन और उनसे एक पुत्रका जन्म

वैशम्पायन उवाच

ययातिः स्वपुरं प्राप्य महेन्द्रपुरसंनिभम् ।
प्रविश्यान्तःपुरं तत्र देवयानीं न्यवेशयत् ॥ १ ॥
देवयान्याश्चानुमते सुतां तां वृषपर्वणः ।
अशोकवनिकाभ्याशे गृहं कृत्वा न्यवेशयत् ॥ २ ॥
वृतां दासीसहस्रेण शर्मिष्ठां वार्षपर्वणीम् ।
वासोभिरन्नपानैश्च संविभज्य सुसत्कृताम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ययातिकी राजधानी महेन्द्रपुरी (अमरावती) के समान थी। उन्होंने वहाँ आकर देवयानीको तो अन्तःपुरमें स्थान दिया और उसीकी अनुमतिसे अशोकवाटिकाके समीप एक महल बनवाकर उसमें वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाको उसकी एक हजार दासियोंके साथ ठहराया और उन सबके लिये अन्न, वस्त्र तथा पेय आदिकी अलग-अलग व्यवस्था करके शर्मिष्ठाका समुचित सत्कार किया ॥

(अशोकवनिकामध्ये देवयानी समागता ।
शर्मिष्ठया सा क्रीडित्वा रमणीये मनोरमे ॥
तत्रैव तां तु निर्दिश्य राज्ञा सह ययौ गृहम् ।
एवमेव सह प्रीत्या मुमुदे बहुकालतः ॥)

देवयानी ययातिके साथ परम रमणीय एवं मनोरम अशोक-वाटिकामें आती और शर्मिष्ठाके साथ वन-विहार करके उसे वहीं छोड़कर स्वयं राजाके साथ महलमें चली जाती थी । इस तरह वह बहुत समयतक प्रसन्नतापूर्वक आनन्द भोगती रही ॥

देवयान्या तु सहितः स नृपो नहुषात्मजः ।
विजहार बहूनब्दान् देववन्मुदितः सुखी ॥ ४ ॥

नहुषकुमार राजा ययातिने देवयानीके साथ बहुत वर्षोंतक देवताओंकी भाँति विहार किया । वे उसके साथ बहुत प्रसन्न और सुखी थे ॥ ४ ॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते देवयानी वराङ्गना ।
लेभे गर्भं प्रथमतः कुमारं च व्यजायत ॥ ५ ॥

ऋतुकाल आनेपर सुन्दरी देवयानीने गर्भ धारण किया और समयानुसार प्रथम पुत्रको जन्म दिया ॥ ५ ॥

गते वर्षसहस्रे तु शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
ददर्श यौवनं प्राप्ता ऋतुं सा चान्वचिन्तयत् ॥ ६ ॥

इस प्रकार एक हजार वर्ष व्यतीत हो जानेपर युवावस्थाको प्राप्त हुई वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने अपनेको रजस्वलावस्थामें देखा और चिन्तामग्न हो गयी ॥ ६ ॥

(शुद्धा स्नाता तु शर्मिष्ठा सर्वालंकारभूषिता ।
अशोकशाखामालम्ब्य सुफुल्लैः स्तबकैर्वृताम् ॥
आदर्शे मुखमुद्वीक्ष्य भर्तृदर्शनलालसा ।
शोकमोहसमाविष्टा वचनं चेदमब्रवीत् ॥
अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसाम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियसंदर्शनाद्धि माम् ॥
एवमुक्तवती सा तु शर्मिष्ठा पुनरब्रवीत् ॥)

स्नान करके शुद्ध हो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई शर्मिष्ठा सुन्दर पुष्पोंके गुच्छोंसे भरी अशोक-शाखाका आश्रय लिये खड़ी थी । दर्पणमें अपना मुँह देखकर उसके मनमें पतिके दर्शनकी लालसा जाग उठी और वह शोक एवं मोहसे युक्त हो इस प्रकार बोली—'हे अशोक वृक्ष ! जिनका हृदय शोकमें डूबा हुआ है, उन सबके शोकको तुम दूर करनेवाले हो । इस समय मुझे प्रियतमका दर्शन कराकर अपने ही जैसे नामवाली बना दो' ऐसा कहकर शर्मिष्ठा फिर बोली—॥

ऋतुकालश्च सम्प्राप्तो न च मेऽस्ति पतिर्वृतः ।
किं प्राप्तं किं नु कर्तव्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥ ७ ॥

'मुझे ऋतुकाल प्राप्त हो गया; किंतु अभीतक मैंने पतिका वरण नहीं किया है । यह कैसी परिस्थिति आ गयी । अब क्या करना चाहिये अथवा क्या करनेसे सुकृत (पुण्य) होगा ॥ ७ ॥

देवयानी प्रजातासौ वृथाहं प्राप्तयौवना ।
यथा तया वृतो भर्ता तथैवाहं वृणोमि तम् ॥ ८ ॥

'देवयानी तो पुत्रवती हो गयी, किंतु मुझे जो जवानी मिली है, वह व्यर्थ जा रही है । जिस प्रकार उसने पतिका वरण किया है, उसी तरह मैं भी उन्हीं महाराजका क्यों न पतिके रूपमें वरण कर लूँ ॥ ८ ॥

राज्ञा पुत्रफलं देयमिति मे निश्चिता मतिः ।
अपीदानीं स धर्मात्मा इयान्मे दर्शनं रहः ॥ ९ ॥

'मेरे याचना करनेपर राजा मुझे पुत्ररूप फल दे सकते हैं, इस बातका मुझे पूरा विश्वास है; परंतु क्या वे धर्मात्मा नरेश इस समय मुझे एकान्तमें दर्शन देंगे ?' ॥ ९ ॥

अथ निष्क्रम्य राजासौ तस्मिन् काले यदृच्छया ।
अशोकवनिकाभ्याशे शर्मिष्ठां प्रेक्ष्य विष्ठितः ॥१०॥

शर्मिष्ठा इस प्रकार विचार कर ही रही थी कि राजा ययाति उसी समय दैववश महलसे बाहर निकले और अशोकवाटिका-के निकट शर्मिष्ठाको देखकर ठहर गये ॥ १० ॥

तमेकं रहिते दृष्ट्वा शर्मिष्ठा चारुहासिनी ।
प्रत्युद्गम्याञ्जलिं कृत्वा राजानं वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

मनोहर हासवाली शर्मिष्ठाने उन्हें एकान्तमें अकेला देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की तथा हाथ जोड़कर राजासे यह बात कही ॥ ११ ॥

शर्मिष्ठोवाच

सोमस्येन्द्रस्य विष्णोर्वा यमस्य वरुणस्य च ।
तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं द्रष्टुमर्हति ॥१२॥
रूपाभिजनशीलैर्हि त्वं राजन् वेत्थ मां सदा ।
सा त्वां याचे प्रसाद्याहमृतुं देहि नराधिप ॥१३॥

शर्मिष्ठाने कहा—नहुषनन्दन ! चन्द्रमा, इन्द्र, विष्णु, यम, वरुण अथवा आपके महलमें कौन किसी स्त्रीकी ओर दृष्टि डाल सकता है ? (अतएव यहाँ मैं सर्वथा सुरक्षित हूँ) महाराज ! मेरे रूप, कुल और शील कैसे हैं, यह तो आप सदासे ही जानते हैं । मैं आज आपको प्रसन्न करके यह प्रार्थना करती हूँ कि मुझे ऋतुदान दीजिये—मेरे ऋतुकालको सफल बनाइये ॥

ययातिरुवाच

वेद्मि त्वां शीलसम्पन्नां दैत्यकन्यामनिन्दिताम् ।
रूपं च ते न पश्यामि सूच्यग्रमपि निन्दितम् ॥१४॥

ययातिने कहा—शर्मिष्ठे ! तुम दैत्यराजकी सुशील और निर्दोष कन्या हो । मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ । तुम्हारे शरीर अथवा रूपमें सूईकी नोक बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है, जो निन्दाके योग्य हो ॥ १४ ॥

अब्रवीदुशना काव्यो देवयानीं यदावहम् ।
नेयमाह्वयितव्या ते शयने वार्षपर्वणी ॥१५॥

परंतु क्या करूँ; जब मैंने देवयानीके साथ विवाह किया था, उस समय कविपुत्र शुक्राचार्यने मुझसे स्पष्ट कहा था कि 'वृषपर्वाकी पुत्री इस शर्मिष्ठाको अपनी सेजपर न बुलाना' ॥१५॥

शर्मिष्ठोवाच

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति
न स्त्रीषु राजन् न विवाहकाले ।
प्राणात्यये सर्वधनापहारे
पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ॥१६॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! परिहासयुक्त वचन असत्य हो तो भी वह हानिकारक नहीं होता । अपनी स्त्रियोंके प्रति, विवाहके समय, प्राणसंकटके समय तथा सर्वस्वका अपहरण होते समय यदि कभी विवश होकर असत्य भाषण करना पड़े तो वह दोषकारक नहीं होता । ये पाँच प्रकारके असत्य पापशून्य बताये गये हैं ॥ १६ ॥

पृष्टं तु साक्ष्ये प्रवदन्तमन्यथा
वदन्ति मिथ्या पतितं नरेन्द्र ।
एकार्थतायां तु समाहितायां
मिथ्या वदन्तं त्वनृतं हिनस्ति ॥१७॥

महाराज ! किसी निर्दोष प्राणीका प्राण बचानेके लिये गवाही देते समय किसीके पूछनेपर अन्यथा (असत्य) भाषण करनेवाले को यदि कोई पतित कहता है तो उसका कथन मिथ्या है । परंतु जहाँ अपने और दूसरे दोनोंके ही प्राण बचानेका प्रसङ्ग उपस्थित हो, वहाँ केवल अपने प्राण बचानेके लिये मिथ्या बोलनेवालेका असत्यभाषण उसका नाश कर देता है ॥१७॥

ययातिरुवाच

राजा प्रमाणं भूतानां स नश्येत मृषा वदन् ।
अर्थकृच्छ्रमपि प्राप्य न मिथ्या कर्तुमुत्सहे ॥१८॥

ययाति बोले—देवि ! सब प्राणियोंके लिये राजा ही प्रमाण है । वह यदि झूठ बोलने लगे, तो उसका नाश हो जाता है । अतः अर्थ-संकटमें पड़नेपर भी मैं झूठा काम नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

शर्मिष्ठोवाच

समावेतौ मतौ राजन् पतिः सख्याश्च यः पतिः ।
समं विवाहमित्याहुः सख्या मेऽसि वृतः पतिः ॥१९॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! अपना पति और सखीका पति दोनों बराबर माने गये हैं । सखीके साथ ही उसकी सेवामें रहनेवाली दूसरी कन्याओंका भी विवाह हो जाता है । मेरी सखीने आपको अपना पति बनाया है, अतः मैंने भी बना लिया ॥ १९ ॥

(सह दत्तास्मि काव्येन देवयान्या महर्षिणा ।
पूज्या पोषयितव्येति न मृषा कर्तुमर्हसि ॥
सुवर्णमणिरत्नानि वस्त्राण्याभरणानि च ।
याचितॄणां ददासि त्वं गोभूम्यादीनि यानि च ॥
बाहिकं दानमित्युक्तं न शरीराश्रितं नृप ।
दुष्करं पुत्रदानं च आत्मदानं च दुष्करम् ॥
शरीरदानात् तत् सर्वं दत्तं भवति नाहुष ।
यस्य यस्य यथा कामस्तस्य तस्य ददाम्यहम् ॥
इत्युक्त्वा नगरे राजंस्त्रिकालं घोषितं त्वया ॥
अमृतं तत्तु राजेन्द्र वृथा घोषितमेव च ।
तत् सत्यं कुरु राजेन्द्र यथा वैश्रवणस्तथा ॥)

राजन् ! महर्षि शुक्राचार्यने देवयानीके साथ मुझे भी यह कहकर आपको समर्पित किया है कि तुम इसका भी पालन-पोषण और आदर करना। आप उनके वचनको मिथ्या न करें। महाराज ! आप प्रतिदिन याचकोंको जो सुवर्ण, मणि, रत्न, वस्त्र, आभूषण, गौ और भूमि आदि दान करते हैं, वह बाह्य दान कहा गया है। वह शरीरके आश्रित नहीं है। पुत्रदान और शरीरदान अत्यन्त कठिन है। नहुषनन्दन ! शरीरदानसे उपर्युक्त सब दान सम्पन्न हो जाता है। राजन् ! 'जिसकी जैसी इच्छा होगी उस-उस मनुष्यको मैं मुँहमाँगी वस्तु दूँगा' ऐसा कहकर आपने नगरमें जो तीनों समय दानकी घोषणा करायी है, वह मेरी प्रार्थना ठुकरा देनेपर झूठी सिद्ध होगी। वह सारी घोषणा ही व्यर्थ समझी जायगी। राजेन्द्र ! आप कुबेरकी भाँति अपनी उस घोषणाको सत्य कीजिये ॥

ययातिरुवाच

दातव्यं याचमानेभ्य इति मे व्रतमाहितम्।
त्वं च याचसि मां कामं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२०॥

ययाति बोले—याचकोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ दी जायँ, ऐसा मेरा व्रत है। तुम भी मुझसे अपने मनोरथकी याचना करती हो; अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ २० ॥

शर्मिष्ठोवाच

अधर्मात् पाहि मां राजन् धर्मं च प्रतिपादय।
त्वत्तोऽपत्यवती लोके चरेयं धर्ममुत्तमम् ॥२१॥

शर्मिष्ठाने कहा—राजन् ! मुझे अधर्मसे बचाइये और धर्मका पालन कराइये। मैं चाहती हूँ, आपसे संतानवती होकर इस लोकमें उत्तम धर्मका आचरण करूँ ॥ २१ ॥

त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः।
यत् ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद् धनम् ॥२२॥

महाराज ! तीन व्यक्ति धनके अधिकारी नहीं हैं—पत्नी, दास और पुत्र। ये जो धन प्राप्त करते हैं वह उसीका होता है जिसके अधिकारमें ये हैं। अर्थात् पत्नीके धनपर पतिका, सेवकके धनपर स्वामीका और पुत्रके धनपर पिताका अधिकार होता है ॥ २२ ॥

देवयान्या भुजिष्यास्मि वश्या च तव भार्गवी।
सा चाहं च त्वया राजन् भजनीये भजस्व माम् ॥२३॥

मैं देवयानीकी सेविका हूँ और वह आपके अधीन है; अतः राजन् ! वह और मैं दोनों ही आपके सेवन करने योग्य हैं। अतः मेरा सेवन कीजिये ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राजा स तथ्यमित्यभिजज्ञिवान्।
पूजयामास शर्मिष्ठां धर्मं च प्रत्यपादयत् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाके ऐसा कहनेपर राजाने उसकी बातोंको ठीक समझा। उन्होंने शर्मिष्ठाका सत्कार किया और धर्मानुसार उसे अपनी भार्या बनाया ॥२४॥

स समागम्य शर्मिष्ठां यथाकाममवाप्य च।
अन्योन्यं चाभिसम्पूज्य जग्मतुस्तौ यथागतम् ॥२५॥

फिर शर्मिष्ठाके साथ समागम किया और इच्छानुसार कामोपभोग करके एक दूसरेका आदर-सत्कार करनेके पश्चात् दोनों जैसे आये थे वैसे ही अपने-अपने स्थानपर चले गये ॥२५॥

तस्मिन् समागमे सुभ्रूः शर्मिष्ठा चारुहासिनी।
लेभे गर्भं प्रथमतस्तस्मान्नृपतिसत्तमात् ॥२६॥

सुन्दर भौंह तथा मनोहर मुसकानवाली शर्मिष्ठाने उस समागममें नृपश्रेष्ठ ययातिसे पहले-पहल गर्भ धारण किया ॥२६॥

प्रजज्ञे च ततः काले राजन् राजीवलोचना।
कुमारं देवगर्भाभं राजीवनिभलोचनम् ॥२७॥

जनमेजय ! तदनन्तर समय आनेपर कमलके समान नेत्रोंवाली शर्मिष्ठाने देवबालक-जैसे सुन्दर एक कमलनयन कुमारको उत्पन्न किया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

(इस अध्यायमें २७ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११ श्लोक और कुल ३८ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

देवयानी और शर्मिष्ठाका संवाद, ययातिसे शर्मिष्ठाके पुत्र होनेकी बात जानकर देवयानीका रूठकर पिताके पास जाना, शुक्राचार्यका ययातिको बूढ़े होनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा कुमारं जातं तु देवयानी शुचिस्मिता।
चिन्तयामास दुःखार्ता शर्मिष्ठां प्रति भारत ॥ १ ॥
अभिगम्य च शर्मिष्ठां देवयान्यब्रवीदिदम्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पवित्र मुसकानवाली देवयानीने जब सुना कि शर्मिष्ठाके पुत्र हुआ है, तब वह दुःखसे पीड़ित हो शर्मिष्ठाके व्यवहारको लेकर बड़ी चिन्ता करने लगी। वह शर्मिष्ठाके पास गयी और इस प्रकार बोली ॥ १½ ॥

देवयान्युवाच

किमिदं वृजिनं सुभ्रु कृतं वै कामलुब्धया ॥ २ ॥

देवयानीने कहा—सुन्दर भौंहोंवाली शर्मिष्ठे ! तुमने कामलोलुप होकर यह कैसा पाप कर डाला ? ॥ २ ॥

शर्मिष्ठोवाच

ऋषिरभ्यागतः कश्चिद् धर्मात्मा वेदपारगः ।
स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम् ॥ ३ ॥

शर्मिष्ठा बोली—सखी ! कोई धर्मात्मा ऋषि आये थे, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे । मैंने उन वरदायक ऋषिसे धर्मानुसार कामकी याचना की ॥ ३ ॥

नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते ।
तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते ॥ ४ ॥

शुचिस्मिते ! मैं न्यायविरुद्ध कामका आचरण नहीं करती । उन ऋषिसे ही मुझे संतान पैदा हुई है, यह तुमसे सत्य कहती हूँ ॥ ४ ॥

देवयान्युवाच

शोभनं भीरु यद्येवमथ स ज्ञायते द्विजः ।
गोत्रनामाभिजनतो वेत्तुमिच्छामि तं द्विजम् ॥ ५ ॥

देवयानीने कहा—भीरु ! यदि ऐसी बात है, तो बहुत अच्छा हुआ । क्या उन द्विजके गोत्र, नाम और कुलका कुछ परिचय मिला है ? मैं उनको जानना चाहती हूँ ॥ ५ ॥

शर्मिष्ठोवाच

तपसा तेजसा चैव दीप्यमानं यथा रविम् ।
तं दृष्ट्वा मम सम्प्रष्टुं शक्तिर्नासीच्छुचिस्मिते ॥ ६ ॥

शर्मिष्ठा बोली—शुचिस्मिते ! वे अपने तप और तेजसे सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे । उन्हें देखकर मुझे कुछ पूछनेका साहस ही नहीं हुआ ॥ ६ ॥

देवयान्युवाच

यद्येतदेवं शर्मिष्ठे न मन्युर्विद्यते मम ।
अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठाच्छ्रेष्ठाच्च वै द्विजात् ॥ ७ ॥

देवयानीने कहा—शर्मिष्ठे ! यदि ऐसी बात है; यदि तुमने ज्येष्ठ और श्रेष्ठ द्विजसे संतान प्राप्त की है तो तुम्हारे ऊपर मेरा क्रोध नहीं रहा ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

अन्योन्यमेवमुक्त्वा तु सम्प्रहस्य च ते मिथः ।
जगाम भार्गवी वेश्म तथ्यमित्यवजग्मुषी ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों आपसमें इस प्रकार बातें करके हँस पड़ीं । देवयानीको प्रतीत हुआ कि शर्मिष्ठा ठीक कहती है; अतः वह चुपचाप महलमें चली गयी ॥ ८ ॥

ययातिर्देवयान्यां तु पुत्रावजनयन्नृपः ।
यदुं च तुर्वसुं चैव शक्रविष्णू इवापरौ ॥ ९ ॥

राजा ययातिने देवयानीके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न किये, जिनके नाम थे यदु और तुर्वसु । वे दोनों दूसरे इन्द्र और विष्णुकी भाँति प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

तस्मादेव तु राजर्षेः शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च त्रीन् कुमारानजीजनत् ॥ १० ॥

उन्हीं राजर्षिसे वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने तीन पुत्रोंको जन्म दिया, जिनके नाम थे द्रुह्यु, अनु और पूरु ॥ १० ॥

ततः काले तु कस्मिंश्चिद् देवयानी शुचिस्मिता ।
ययातिसहिता राजन्जगाम रहितं वनम् ॥ ११ ॥

राजन् ! तदनन्तर किसी समय पवित्र मुसकानवाली देवयानी ययातिके साथ एकान्त वनमें गयी ॥ ११ ॥

ददर्श च तदा तत्र कुमारान् देवरूपिणः ।
क्रीडमानान् सुविश्रब्धान् विस्मिता चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

वहाँ उसने देवताओंके समान सुन्दर रूपवाले कुछ बालकोंको निर्भय होकर क्रीड़ा करते देखा । उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो वह इस प्रकार बोली ॥ १२ ॥

देवयान्युवाच

कस्यैते दारका राजन् देवपुत्रोपमाः शुभाः ।
वर्चसा रूपतश्चैव सदृशा मे मतास्तव ॥ १३ ॥

देवयानीने पूछा—राजन् ! ये देवबालकोंके तुल्य शुभ लक्षणसम्पन्न कुमार किसके हैं ? तेज और रूपमें तो ये मुझे आपहीके समान जान पड़ते हैं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं पृष्ट्वा तु राजानं कुमारान् पर्यपृच्छत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजासे इस प्रकार पूछकर उसने उन कुमारोंसे प्रश्न किया ॥ १३½ ॥

देवयान्युवाच

किं नामधेयं वंशो वः पुत्रकाः कश्च वः पिता ।
प्रब्रूत मे यथातथ्यं श्रोतुमिच्छामि तं ह्यहम् ॥ १४ ॥

देवयानीने पूछा—बच्चो ! तुम्हारे कुलका क्या नाम है ? तुम्हारे पिता कौन हैं ? यह मुझे ठीक-ठीक बताओ । मैं तुम्हारे पिताका नाम सुनना चाहती हूँ ॥ १४ ॥

(एवमुक्ताः कुमारास्ते देवयान्या सुमध्यया ।)
तेऽदर्शयन् प्रदेशिन्या तमेव नृपसत्तमम् ।
शर्मिष्ठां मातरं चैव तथाऽऽचख्युश्च दारकाः ॥ १५ ॥

सुन्दरी देवयानीके इस प्रकार पूछनेपर उन बालकोंने पिता-का परिचय देते हुए तर्जनी अँगुलीसे उन्हीं नृपश्रेष्ठ ययातिको दिखा दिया और शर्मिष्ठाको अपनी माता बताया ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा सहितास्ते तु राजानमुपचक्रमुः ।
नाभ्यनन्दत तान् राजा देवयान्यास्तदान्तिके ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर वे सब बालक एक साथ राजाके समीप आ गये; परंतु उस समय देवयानीके निकट राजाने उनका अभिनन्दन नहीं किया—उन्हें गोदमें नहीं उठाया ॥ १६ ॥



रुदन्तस्तेऽथ शर्मिष्ठामभ्ययुर्बालकास्ततः ।
श्रुत्वा तु तेषां बालानां सव्रीड इव पार्थिवः ॥१७॥

तब वे बालक रोते हुए शर्मिष्ठाके पास चले गये। उनकी बातें सुनकर राजा ययाति लज्जित-से हो गये ॥ १७ ॥

दृष्ट्वा तु तेषां बालानां प्रणयं पार्थिवं प्रति ।
बुद्ध्वा च तत्त्वं सा देवी शर्मिष्ठामिदमब्रवीत् ॥१८॥

उन बालकोंका राजाके प्रति विशेष प्रेम देखकर देवयानी सारा रहस्य समझ गयी और शर्मिष्ठासे इस प्रकार बोली ॥ १८ ॥

देवयान्युवाच

(अभ्यागच्छति मां कश्चिदृषिरित्येवमब्रवीः ।
ययातिमेव नूनं त्वं प्रोत्साहयसि भामिनि ॥
पूर्वमेव मया प्रोक्तं त्वया तु वृजिनं कृतम् ।)
मदधीना सती कस्मादकार्षीर्विप्रियं मम ।
तमेवासुरधर्मं त्वमास्थिता न बिभेषि मे ॥१९॥

देवयानी बोली—भामिनि ! तुम तो कहती थीं कि मेरे पास कोई ऋषि आया करते हैं। यह बहाना लेकर तुम राजा ययातिको ही अपने पास आनेके लिये प्रोत्साहन देती रहीं। मैंने पहले ही कह दिया था कि तुमने कोई पाप किया है। शर्मिष्ठे ! तुमने मेरे अधीन होकर भी मुझे अप्रिय लगनेवाला बर्ताव क्यों किया ? तुम फिर उसी असुर धर्मपर उतर आयीं। मुझसे डरती भी नहीं हो ? ॥ १९ ॥

शर्मिष्ठोवाच

यदुक्तमृषिरित्येव तत् सत्यं चारुहासिनि ।
न्यायतो धर्मतश्चैव चरन्ती न बिभेमि ते ॥२०॥

शर्मिष्ठा बोली—मनोहर मुसुकानवाली सखी ! मैंने जो ऋषि कहकर अपने स्वामीका परिचय दिया था, सो सत्य ही है। मैं न्याय और धर्मके अनुकूल आचरण करती हूँ; अतः तुमसे नहीं डरती ॥ २० ॥

यदा त्वया वृतो भर्ता वृत एव तदा मया ।
सखीभर्ता हि धर्मेण भर्ता भवति शोभने ॥२१॥
पूज्यासि मम मान्या च ज्येष्ठा च ब्राह्मणी ह्यसि ।
त्वत्तोऽपि मे पूज्यतमो राजर्षिः किं न वेत्थ तत् ॥२२॥
(त्वत्पित्रा गुरुणा मे च सह दत्ते उभे शुभे ।
तव भर्ता च पूज्यश्च पोष्यां पोषयतीह माम् ॥)

जब तुमने पतिका वरण किया था, उसी समय मैंने भी कर लिया। शोभने ! जो सखीका स्वामी होता है, वही उसके अधीन रहनेवाली अन्य अविवाहिता सखियोंका भी धर्मतः पति होता है। तुम ज्येष्ठ हो, ब्राह्मणकी पुत्री हो, अतः मेरे लिये माननीय एवं पूजनीय हो; परंतु ये राजर्षि मेरे लिये तुमसे भी अधिक पूजनीय हैं। क्या यह बात तुम नहीं जानतीं ? ॥ २१-२२ ॥ शुभे ! तुम्हारे पिता और मेरे गुरु (शुक्राचार्य) जीने हम दोनोंको एक ही साथ महाराजकी सेवामें समर्पित किया है। तुम्हारे पति और पूजनीय महाराज ययाति भी मुझे पालन करने योग्य मानकर मेरा पोषण करते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तस्यास्ततो वाक्यं देवयान्यब्रवीदिदम् ।
राजन् नाद्येह वत्स्यामि विप्रियं मे कृतं त्वया ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शर्मिष्ठाका यह वचन सुनकर देवयानीने कहा—'राजन् ! अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। आपने मेरा अत्यन्त अप्रिय किया है' ॥ २३ ॥

सहसोत्पतितां श्यामां दृष्ट्वा तां साश्रुलोचनाम् ।
तूर्णं सकाशं काव्यस्य प्रस्थितां व्यथितस्तदा ॥२४॥

ऐसा कहकर तरुणी देवयानी आँखोंमें आँसू भरकर सहसा उठी और तुरंत ही शुक्राचार्यजीके पास जानेके लिये वहाँसे चल दी। यह देख उस समय राजा ययाति व्यथित हो गये ॥ २४ ॥

अनुवव्राज सम्भ्रान्तः पृष्ठतः सान्त्वयन् नृपः ।
न्यवर्तत न चैव स्म क्रोधसंरक्तलोचना ॥२५॥

वे व्याकुल हो देवयानीको समझाते हुए उसके पीछे-पीछे गये, किंतु वह नहीं लौटी। उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं ॥ २५ ॥

अविब्रुवन्ती किंचित् सा राजानं साश्रुलोचना ।
अचिरादेव सम्प्राप्ता काव्यस्योशनसोऽन्तिकम् ॥ २६ ॥

वह राजासे कुछ न बोलकर केवल नेत्रोंसे आँसू बहाये जाती थी। कुछ ही देरमें वह कविपुत्र शुक्राचार्यके पास जा पहुँची ॥ २६ ॥

सा तु दृष्ट्वैव पितरमभिवाद्याग्रतः स्थिता ।
अनन्तरं ययातिस्तु पूजयामास भार्गवम् ॥ २७ ॥

पिताको देखते ही वह प्रणाम करके उनके सामने खड़ी हो गयी। तदनन्तर राजा ययातिने भी शुक्राचार्यकी वन्दना की ॥ २७ ॥

देवयान्युवाच

अधर्मेण जितो धर्मः प्रवृत्तमधरोत्तरम् ।
शर्मिष्ठयातिवृत्तास्मि दुहित्रा वृषपर्वणः ॥ २८ ॥

देवयानीने कहा--पिताजी ! अधर्मने धर्मको जीत लिया। नीचकी उन्नति हुई और उच्चकी अवनति ! वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा मुझे लाँघकर आगे बढ़ गयी ॥ २८ ॥

त्रयोऽस्यां जनिताः पुत्रा राज्ञानेन ययातिना ।
दुर्भगाया मम द्वौ तु पुत्रौ तात ब्रवीमि ते ॥ २९ ॥

इन महाराज ययातिसे ही उसके तीन पुत्र हुए हैं, किंतु तात ! मुझ भाग्यहीनाके दो ही पुत्र हुए हैं। यह मैं आपसे ठीक बता रही हूँ ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ इति विख्यात एष राजा भृगूद्वह ।
अतिक्रान्तश्च मर्यादां काव्यैतत् कथयामि ते ॥ ३० ॥

भृगुश्रेष्ठ! ये महाराज धर्मज्ञके रूपमें प्रसिद्ध हैं; किंतु उन्होंने ही मर्यादाका उल्लङ्घन किया है। कविनन्दन ! यह आपसे यथार्थ कह रही हूँ ॥ ३० ॥

शुक्र उवाच

धर्मज्ञः सन् महाराज योऽधर्ममकृथाः प्रियम् ।
तस्माज्जरा त्वामचिराद् धर्षयिष्यति दुर्जया ॥ ३१ ॥

शुक्राचार्यने कहा-महाराज ! तुमने धर्मज्ञ होकर भी अधर्मको प्रिय मानकर उसका आचरण किया है। इसलिये जिसको जीतना कठिन है, वह वृद्धावस्था तुम्हें शीघ्र ही धर दबायेगी ॥ ३१ ॥



ययातिरुवाच

ऋतुं वै याचमानाया भगवन् नान्यचेतसा ।
दुहितुर्दानवेन्द्रस्य धर्म्यमेतत् कृतं मया ॥ ३२ ॥
ऋतुं वै याचमानाया न ददाति पुमानृतुम् ।
भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन् स इह ब्रह्मवादिभिः ॥ ३३ ॥
अभिकामां स्त्रियं यश्च गम्यां रहसि याचितः ।
नोपैति स च धर्मेषु भ्रूणहेत्युच्यते बुधैः ॥ ३४ ॥

ययाति बोले--भगवन् ! दानवराजकी पुत्री मुझसे ऋतुदान माँग रही थी; अतः मैंने धर्म-सम्मत मानकर यह कार्य किया, किसी दूसरे विचारसे नहीं। ब्रह्मन् ! जो पुरुष न्याययुक्त ऋतुकी याचना करनेवाली स्त्रीको ऋतुदान नहीं देता, वह ब्रह्मवादी विद्वानोंद्वारा भ्रूणहत्या करनेवाला कहा जाता है। जो न्यायसम्मत कामनासे युक्त गम्या स्त्रीके द्वारा एकान्तमें प्रार्थना करनेपर उसके साथ समागम नहीं करता, वह धर्मशास्त्रमें विद्वानोंद्वारा गर्भकी हत्या करनेवाला बताया जाता है। ३२-३४।

(यद् यद् याचति मां कश्चित् तत् तद् देयमिति व्रतम् ।
त्वया च सापि दत्ता मे नान्यं नाथमिहेच्छति ॥

मत्वैतन्मे धर्म इति कृतं ब्रह्मन् क्षमस्व माम् ।)

इत्येतानि समीक्ष्याहं कारणानि भृगूद्वह ।
अधर्मभयसंविग्नः शर्मिष्ठामुपजग्मिवान् ॥ ३५॥

ब्रह्मन् ! मेरा यह व्रत है कि मुझसे कोई जो भी वस्तु माँगे, उसे वह अवश्य दे दूँगा। आपके ही द्वारा मुझे सौंपी हुई शर्मिष्ठा इस जगत्में दूसरे किसी पुरुषको अपना पति

बनाना नहीं चाहती थी। अतः उसकी इच्छा पूर्ण करना धर्म समझकर मैंने वैसा किया है। आप इसके लिये मुझे क्षमा करें। भृगुश्रेष्ठ ! इन्हीं सब कारणोंका विचार करके अधर्मके भयसे उद्विग्न हो मैं शर्मिष्ठाके पास गया था ॥ ३५ ॥

शुक्र उवाच

नन्वहं प्रत्यवेक्ष्यस्ते मदधीनोऽसि पार्थिव।
मिथ्याचारस्य धर्मेषु चौर्यं भवति नाहुष ॥ ३६ ॥

शुक्राचार्यने कहा--राजन् ! तुम्हें इस विषयमें मेरे आदेशकी भी प्रतीक्षा करनी चाहिये थी; क्योंकि तुम मेरे अधीन हो। नहुषनन्दन ! धर्ममें मिथ्या आचरण करनेवाले पुरुषको चोरीका पाप लगता है ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्रुद्धेनोशनसा शप्तो ययातिर्नाहुषस्तदा।
पूर्वं वयः परित्यज्य जरां सद्योऽन्वपद्यत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—क्रोधमें भरे हुए शुक्राचार्यके शाप देनेपर नहुषपुत्र राजा ययाति उसी समय पूर्वावस्था (यौवन) का परित्याग करके तत्काल बूढ़े हो गये ॥ ३७ ॥

ययातिरुवाच

अतृप्तो यौवनस्याहं देवयान्यां भृगूद्वह।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मञ्जरेयं न विशेच्च माम् ॥ ३८ ॥

ययाति बोले—भृगुश्रेष्ठ ! मैं देवयानीके साथ युवावस्थामें रहकर तृप्त नहीं हो सका हूँ; अतः ब्रह्मन् ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये, जिससे यह बुढ़ापा मेरे शरीरमें प्रवेश न करे ॥३८॥

शुक्र उवाच

नाहं मृषा ब्रवीम्येतज्जरां प्राप्तोऽसि भूमिप।
जरां त्वेतां त्वमन्यस्मिन् संक्रामय यदीच्छसि ॥ ३९ ॥

शुक्राचार्यजीने कहा—भूमिपाल ! मैं झूठ नहीं बोलता; बूढ़े तो तुम हो ही गये; किंतु तुम्हें इतनी सुविधा देता हूँ कि यदि चाहो तो किसी दूसरेसे जवानी लेकर इस बुढ़ापाको उसके शरीरमें डाल सकते हो ॥ ३९ ॥

ययातिरुवाच

राज्यभाक् स भवेद् ब्रह्मन् पुण्यभाक् कीर्तिभाक् तथा।
यो मे दद्याद् वयः पुत्रस्तद् भवाननुमन्यताम् ॥४०॥

ययाति बोले--ब्रह्मन् ! मेरा जो पुत्र अपनी युवावस्था मुझे दे, वही पुण्य और कीर्तिका भागी होनेके साथ ही मेरे राज्यका भी भागी हो। आप इसका अनुमोदन करें ॥ ४० ॥

शुक्र उवाच

संक्रामयिष्यसि जरां यथेष्टं नहुषात्मज।
मामनुध्याय भावेन न च पापमवाप्स्यसि ॥ ४१ ॥
वयो दास्यति ते पुत्रो यः स राजा भविष्यति।
आयुष्मान् कीर्तिमांश्चैव बह्वपत्यस्तथैव च ॥ ४२ ॥

शुक्राचार्यने कहा--नहुषनन्दन ! तुम भक्तिभावसे मेरा चिन्तन करके अपनी वृद्धावस्थाका इच्छानुसार दूसरेके शरीरमें संचार कर सकोगे। उस दशामें तुम्हें पाप भी नहीं लगेगा। जो पुत्र तुम्हें (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी युवावस्था देगा, वही राजा होगा, साथ ही दीर्घायु, यशस्वी तथा अनेक संतानोंसे युक्त होगा ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

(इस अध्यायमें ४२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक तथा कुल ४६½ श्लोक हैं)

चतुरशीतितमोऽध्यायः

ययातिका अपने पुत्र यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे अपनी युवावस्था देकर वृद्धावस्था लेनेके लिये आग्रह और उनके अस्वीकार करनेपर उन्हें शाप देना, फिर अपने पुत्र पूरुको जरावस्था देकर उनकी युवावस्था लेना तथा उन्हें वर प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

जरां प्राप्य ययातिस्तु स्वपुरं प्राप्य चैव हि।
पुत्रं ज्येष्ठं वरिष्ठं च यदुमित्यब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजा ययाति बुढ़ापा लेकर वहाँसे अपने नगरमें आये और अपने ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र यदुसे इस प्रकार बोले ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः।
काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ॥ २ ॥

ययातिने कहा—तात ! कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मुझे बुढ़ापेने घेर लिया; मेरे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और बाल सफेद हो गये; किंतु मैं अभी जवानीके भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ ॥ २ ॥

त्वं यदो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन त्वदीयेन चरेयं विषयानहम् ॥ ३ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनस्ते यौवनं त्वहम् ।
दत्त्वा स्वं प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ४ ॥

यदो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा विषयोंका उपभोग करूँ । एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी देकर बुढ़ापेके साथ अपना दोष वापस ले लूँगा ॥ ३-४ ॥

यदुरुवाच

जरायां बहवो दोषाः पानभोजनकारिताः ।
तस्माज्जरां न ते राजन् ग्रहीष्य इति मे मतिः ॥ ५ ॥

यदु बोले—राजन् ! बुढ़ापेमें खाने-पीनेसे अनेक दोष प्रकट होते हैं; अतः मैं आपकी वृद्धावस्था नहीं लूँगा, यही मेरा निश्चित विचार है ॥ ५ ॥

सितश्मश्रुर्निरानन्दो जरया शिथिलीकृतः ।
वलीसंगतगात्रस्तु दुर्दर्शो दुर्बलः कृशः ॥ ६ ॥

महाराज ! मैं उस बुढ़ापेको लेनेकी इच्छा नहीं करता, जिसके आनेपर दाढ़ी-मूँछके बाल सफेद हो जाते हैं; जीवनका आनन्द चला जाता है । वृद्धावस्था एकदम शिथिल कर देती है । सारे शरीरमें झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और मनुष्य इतना दुर्बल तथा कृशकाय हो जाता है कि उसकी ओर देखते नहीं बनता ॥ ६ ॥

अशक्तः कार्यकरणे परिभूतः स यौवतैः ।
सहोपजीविभिश्चैव तां जरां नाभिकामये ॥ ७ ॥

बुढ़ापेमें काम-काज करनेकी शक्ति नहीं रहती, युवतियाँ तथा जीविका पानेवाले सेवक भी तिरस्कार करते हैं; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ॥ ७ ॥

सन्ति ते बहवः पुत्रा मत्तः प्रियतरा नृप ।
जरां ग्रहीतुं धर्मज्ञ तस्मादन्यं वृणीष्व वै ॥ ८ ॥

धर्मज्ञ नरेश्वर ! आपके बहुत-से पुत्र हैं, जो आपको मुझसे भी अधिक प्रिय हैं; अतः बुढ़ापा लेनेके लिये किसी दूसरे पुत्रको चुन लीजिये ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मादराज्यभाक् तात प्रजा तव भविष्यति ॥ ९ ॥

ययातिने कहा—तात ! तुम मेरे हृदयसे उत्पन्न (औरस पुत्र) होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देते; इसलिये तुम्हारी संतान राज्यकी अधिकारिणी नहीं होगी ॥ ९ ॥

तुर्वसो प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
यौवनेन चरेयं वै विषयांस्तव पुत्रक ॥ १० ॥

(अब उन्होंने तुर्वसुको बुलाकर कहा—) तुर्वसो ! बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो । बेटा ! मैं तुम्हारी जवानीसे विषयोंका उपभोग करूँगा ॥ १० ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ ११ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेपर मैं तुम्हें जवानी लौटा दूँगा और बुढ़ापेसहित अपने दोषको वापस ले लूँगा ॥ ११ ॥

तुर्वसुरुवाच

न कामये जरां तात कामभोगप्रणाशिनीम् ।
बलरूपान्तकरणीं बुद्धिप्राणप्रणाशिनीम् ॥ १२ ॥

तुर्वसु बोले—तात ! काम-भोगका नाश करनेवाली वृद्धावस्था मुझे नहीं चाहिये । वह बल तथा रूपका अन्त कर देती है और बुद्धि एवं प्राणशक्तिका भी नाश करनेवाली है ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति ॥ १३ ॥

ययातिने कहा—तुर्वसो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी मुझे अपनी युवावस्था नहीं देता है, इसलिये तेरी संतति नष्ट हो जायगी ॥ १३ ॥

संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च ।
पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यसि ॥ १४ ॥

मूढ़ ! जिनके आचार और धर्म वर्णसंकरोंके समान हैं, जो प्रतिलोमसंकर जातियोंमें गिने जाते हैं तथा जो कच्चा मांस खानेवाले एवं चाण्डाल आदिकी श्रेणीमें हैं, ऐसे लोगोंका तू राजा होगा ॥

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
पशुधर्मेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि ॥ १५ ॥

जो गुरु-पत्नियोंमें आसक्त हैं, जो पशु-पक्षी आदिका-सा आचरण करनेवाले हैं तथा जिनके सारे आचार-विचार भी पशुओंके समान हैं, तू उन पापात्मा म्लेच्छोंका राजा होगा ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तुर्वसुं शप्त्वा ययातिः सुतमात्मनः ।
शर्मिष्ठायाः सुतं द्रुह्युमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययातिने इस प्रकार अपने पुत्र तुर्वसुको शाप देकर शर्मिष्ठाके पुत्र द्रुह्युसे यह बात कही ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

द्रुह्यो त्वं प्रतिपद्यस्व वर्णरूपविनाशिनीम् ।
जरां वर्षसहस्रं मे यौवनं स्वं ददस्व च ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—द्रुह्यो ! कान्ति तथा रूपका नाश करनेवाली यह वृद्धावस्था तुम ले लो और एक हजार वर्षोंके लिये अपनी जवानी मुझे दे दो ॥ १७ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चादास्यामि भूयोऽहं पाप्मानं जरया सह ॥ १८ ॥

हजार वर्ष पूर्ण हो जानेपर मैं पुनः तुम्हारी जवानी तुम्हें दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष फिर ले लूँगा ॥१८॥

द्रुह्युरुवाच

न गजं न रथं नाश्वं जीर्णो भुङ्क्ते न च स्त्रियम् ।
वाक्सङ्गश्चास्य भवति तां जरां नाभिकामये ॥ १९ ॥

द्रुह्यु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य हाथी, घोड़े और रथपर नहीं चढ़ सकता; स्त्रीका भी उपभोग नहीं कर सकता । उसकी वाणी भी लड़खड़ाने लगती है; अतः मैं वृद्धावस्था नहीं लेना चाहता ॥ १९ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
तस्माद् द्रुह्यो प्रियः कामो न ते सम्पत्स्यते क्वचित् ॥ २० ॥

ययाति बोले—द्रुह्यो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी जवानी मुझे नहीं दे रहा है; इसलिये तेरा प्रिय मनोरथ कभी सिद्ध नहीं होगा ॥ २० ॥

यत्राश्वरथमुख्यानामश्वानां स्याद् गतं न च ।
हस्तिनां पीठकानां च गर्दभानां तथैव च ॥ २१ ॥
बस्तानां च गवां चैव शिबिकायास्तथैव च ।
उडुपप्लवसंतारो यत्र नित्यं भविष्यति ।
अराजा भोजशब्दं त्वं तत्र प्राप्स्यसि सान्वयः ॥ २२ ॥

जहाँ घोड़े जुते हुए उत्तम रथों, घोड़ों, हाथियों, पीठकों (पालकियों), गदहों, बकरों, बैलों और शिबिका आदिकी भी गति नहीं है, जहाँ प्रतिदिन नावपर बैठकर ही घूमना-फिरना होगा, ऐसे प्रदेशमें तू अपनी संतानोंके साथ चला जायगा और वहाँ तेरे वंशके लोग राजा नहीं, भोज कहलायँगे ॥ २१-२२ ॥

ययातिरुवाच

अनो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
एकं वर्षसहस्रं तु चरेयं यौवनेन ते ॥ २३ ॥

तदनन्तर ययातिने अनुसे कहा—अनो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरा दोष ले लो और मैं तुम्हारी जवानीके द्वारा एक हजार वर्षतक सुख भोगूँगा ॥ २३ ॥

अनुरुवाच

जीर्णः शिशुवदादत्तेऽकालेऽन्नमशुचिर्यथा ।
न जुहोति च कालेऽग्निं तां जरां नाभिकामये ॥ २४ ॥

अनु बोले—पिताजी ! बूढ़ा मनुष्य बच्चोंकी तरह असमयमें भोजन करता है, अपवित्र रहता है तथा समयपर अग्निहोत्र नहीं करता, अतः ऐसी वृद्धावस्थाको मैं नहीं लेना चाहता ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वं न प्रयच्छसि ।
जरादोषस्त्वया प्रोक्तस्तस्मात् त्वं प्रतिपत्स्यसे ॥ २५ ॥
प्रजाश्च यौवनप्राप्ता विनशिष्यन्त्यनो तव ।
अग्निप्रस्कन्दनपरस्त्वं चाप्येवं भविष्यसि ॥ २६ ॥

ययातिने कहा--अनो ! तू मेरे हृदयसे उत्पन्न होकर भी अपनी युवावस्था मुझे नहीं दे रहा है और बुढ़ापेके दोष बतला रहा है, अतः तू वृद्धावस्थाके समस्त दोषोंको प्राप्त करेगा और तेरी संतान जवान होते ही मर जायगी तथा तू भी बूढ़े-जैसा होकर अग्निहोत्रका त्याग कर देगा ॥

ययातिरुवाच

पूरो त्वं मे प्रियः पुत्रस्त्वं वरीयान् भविष्यसि ।
जरा वली च मां तात पलितानि च पर्यगुः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् ययातिने पूरुसे कहा—पूरो ! तुम मेरे प्रिय पुत्र हो । गुणोंमें तुम श्रेष्ठ होओगे । तात ! मुझे बुढ़ापेने घेर लिया, सब अङ्गोंमें झुर्रियाँ पड़ गयीं और सिरके बाल सफेद हो गये । बुढ़ापाके ये सारे चिह्न मुझे एक ही साथ प्राप्त हुए हैं।

काव्यस्योशनसः शापान्न च तृप्तोऽस्मि यौवने ।
पूरो त्वं प्रतिपद्यस्व पाप्मानं जरया सह ।
कंचित् कालं चरेयं वै विषयान् वयसा तव ॥ २८ ॥
पूर्णे वर्षसहस्रे तु पुनर्दास्यामि यौवनम् ।
स्वं चैव प्रतिपत्स्यामि पाप्मानं जरया सह ॥ २९ ॥

कविपुत्र शुक्राचार्यके शापसे मेरी यह दशा हुई है; किंतु जवानीके भोगोंसे अभी तृप्त नहीं हुआ हूँ । पूरो ! तुम बुढ़ापेके साथ मेरे दोषको ले लो और मैं तुम्हारी युवावस्था लेकर उसके द्वारा कुछ कालतक विषयभोग करूँगा । एक हजार वर्ष पूरे होनेपर मैं तुम्हें पुनः तुम्हारी जवानी दे दूँगा और बुढ़ापेके साथ अपना दोष ले लूँगा ॥ २८-२९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच पूरुः पितरमञ्जसा ।
यथाऽऽत्थ मां महाराज तत् करिष्यामि ते वचः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ययातिके ऐसा कहनेपर पूरुने अपने पितासे विनयपूर्वक कहा—'महाराज ! आप मुझे जैसा आदेश दे रहे हैं, आपके उस वचनका मैं पालन करूँगा ।

(गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम् ।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्यमन्वशासच्छतक्रतुः ॥
गुरोरनुमतिं प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।)

'गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन मनुष्योंके लिये पुण्य, स्वर्ग तथा आयु प्रदान करनेवाला है । गुरुके ही प्रसादसे इन्द्र

तीनों लोकोंका शासन किया है। गुरुस्वरूप पिताकी अनुमति प्राप्त करके मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको पा लेता है॥

प्रतिपत्स्यामि ते राजन् पाप्मानं जरया सह।
गृहाण यौवनं मत्तश्चर कामान् यथेप्सितान्॥३१॥

राजन्! मैं बुढ़ापेके साथ आपका दोष ग्रहण कर लूँगा। आप मुझसे जवानी ले लें और इच्छानुसार विषयोंका उपभोग करें॥३१॥

जरयाहं प्रतिच्छन्नो वयोरूपधरस्तव।
यौवनं भवते दत्त्वा चरिष्यामि यथाऽऽत्थ माम्॥३२॥

'मैं वृद्धावस्थासे आच्छादित हो आपकी आयु एवं रूप धारण करके रहूँगा और आपको जवानी देकर आप मेरे लिये जो आज्ञा देंगे, उसका पालन करूँगा'॥३२॥

ययातिरुवाच

पूरो प्रीतोऽस्मि ते वत्स प्रीतश्चेदं ददामि ते।
सर्वकामसमृद्धा ते प्रजा राज्ये भविष्यति॥३३॥

ययाति बोले—वत्स! पूरो! मैं तुमपर प्रसन्न हूँ और प्रसन्न होकर तुम्हें यह वर देता हूँ, तुम्हारे राज्यमें सारी प्रजा समस्त कामनाओंसे सम्पन्न होगी'॥३३॥

एवमुक्त्वा ययातिस्तु स्मृत्वा काव्यं महातपाः।
संक्रामयामास जरां तदा पूरौ महात्मनि॥३४॥

ऐसा कहकर महातपस्वी ययातिने शुक्राचार्यका स्मरण किया और अपनी वृद्धावस्था महात्मा पूरुको देकर उनकी युवावस्था ले ली॥३४॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने चतुरशीतितमोऽध्यायः॥८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८४॥

(इस अध्यायमें ३४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक तथा कुल ३५½ श्लोक हैं।)

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका विषय-सेवन और वैराग्य तथा पूरुका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

वैशम्पायन उवाच

पौरवेणाथ वयसा ययातिर्नहुषात्मजः।
प्रीतियुक्तो नृपश्रेष्ठश्चचार विषयान् प्रियान्॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नहुषके पुत्र नृपश्रेष्ठ ययातिने पूरुकी युवावस्थासे अत्यन्त प्रसन्न होकर अभीष्ट विषयभोगोंका सेवन आरम्भ किया॥१॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालं यथासुखम्।
धर्माविरुद्धं राजेन्द्र यथार्हति स एव हि॥२॥

राजेन्द्र! उनकी जैसी कामना होती, जैसा उत्साह होता और जैसा समय होता, उसके अनुसार वे सुखपूर्वक धर्मानुकूल भोगोंका उपभोग करते थे। वास्तवमें उसके योग्य वे ही थे॥२॥

देवानतर्पयत् यज्ञैः श्राद्धैस्तद्वत् पितॄनपि।
दीनाननुग्रहैरिष्टैः कामैश्च द्विजसत्तमान्॥३॥

उन्होंने यज्ञोंद्वारा देवताओंको, श्राद्धोंसे पितरोंको, इच्छाके अनुसार अनुग्रह करके दीन-दुखियोंको और मुँहमाँगी भोग्य वस्तुएँ देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया॥३॥

अतिथीनन्नपानैश्च विशश्च परिपालनैः।
आनृशंस्येन शूद्रांश्च दस्यून् संनिग्रहेण च॥४॥
धर्मेण च प्रजाः सर्वा यथावदनुरञ्जयन्।
ययातिः पालयामास साक्षादिन्द्र इवापरः॥५॥

वे अतिथियोंको अन्न और जल देकर, वैश्योंको उनके धन-वैभवकी रक्षा करके, शूद्रोंको दयाभावसे, लुटेरोंको कैद करके तथा सम्पूर्ण प्रजाको धर्मपूर्वक संरक्षणद्वारा प्रसन्न रखते थे। इस प्रकार साक्षात् दूसरे इन्द्रके समान राजा ययातिने समस्त प्रजाका पालन किया॥४-५॥

स राजा सिंहविक्रान्तो युवा विषयगोचरः।
अविरोधेन धर्मस्य चचार सुखमुत्तमम्॥६॥

वे राजा सिंहके समान पराक्रमी और नवयुवक थे। सम्पूर्ण विषय उनके अधीन थे और वे धर्मका विरोध न करते हुए उत्तम सुखका उपभोग करते थे॥६॥

स सम्प्राप्य शुभान् कामांस्तृप्तः खिन्नश्च पार्थिवः।
कालं वर्षसहस्रान्तं सस्मार मनुजाधिपः॥७॥
परिसंख्याय कालज्ञः कलाः काष्ठाश्च वीर्यवान्।
यौवनं प्राप्य राजर्षिः सहस्रपरिवत्सरान्॥८॥
विश्वाच्या सहितो रेमे व्यभ्राजन्नन्दने वने।
अलकायां स कालं तु मेरुश्रृङ्गे तथोत्तरे॥९॥
यदा स पश्यते कालं धर्मात्मा तं महीपतिः।
पूर्णं मत्वा ततः कालं पूरुं पुत्रमुवाच ह॥१०॥

वे नरेश शुभ भोगोंको प्राप्त करके पहले तो तृप्त एवं आनन्दित होते थे; परंतु जब यह बात ध्यानमें आती कि ये हजार वर्ष भी पूरे हो जायँगे, तब उन्हें बड़ा खेद होता था। कालतत्त्वको जाननेवाले पराक्रमी राजा ययाति एक-एक कला और काष्ठा-की गिनती करके एक हजार वर्षके समयकी अवधिका स्मरण रखते थे। राजर्षि ययाति हजार वर्षोंकी जवानी पाकर नन्दनवनमें विश्वाची अप्सराके साथ रमण करते और प्रकाशित

होते थे। वे अलकापुरीमें तथा उत्तर दिशावर्ती मेरुशिखरपर भी इच्छानुसार विहार करते थे। धर्मात्मा नरेशने जब देखा कि समय अब पूरा हो गया, तब वे अपने पुत्र पूरुके पास आकर बोले—॥ ७-१० ॥

यथाकामं यथोत्साहं यथाकालमरिंदम।
सेविता विषयाः पुत्र यौवनेन मया तव ॥११॥

'शत्रुदमन पुत्र! मैंने तुम्हारी जवानीके द्वारा अपनी रुचि, उत्साह और समयके अनुसार विषयोंका सेवन किया है॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१२॥

'परंतु विषयोंकी कामना उन विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती; अपितु घीकी आहुति पड़नेसे अग्निकी भाँति वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है॥ १२॥

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत् ॥१३॥

'इस पृथ्वीपर जितने भी धान, जौ, स्वर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक मनुष्यके लिये भी पर्याप्त नहीं हैं। अतः तृष्णाका त्याग कर देना चाहिये॥ १३॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥१४॥

'खोटी बुद्धिवाले लोगोंके लिये जिसका त्याग करना अत्यन्त कठिन है, जो मनुष्यके बूढ़े होनेपर भी स्वयं बूढ़ी नहीं होती तथा जो एक प्राणान्तक रोग है, उस तृष्णाको त्याग देनेवाले पुरुषको ही सुख मिलता है॥ १४॥

पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयासक्तचेतसः।
तथाप्यनुदिनं तृष्णा ममैतेष्वभिजायते ॥१५॥

'देखो, विषयभोगमें आसक्तचित्त हुए मेरे एक हजार वर्ष बीत गये, तो भी प्रतिदिन उन विषयोंके लिये ही तृष्णा पैदा होती है॥ १५॥

तस्मादेनामहं त्यक्त्वा ब्रह्मण्याधाय मानसम्।
निर्द्वन्द्वो निर्ममो भूत्वा चरिष्यामि मृगैः सह ॥१६॥

अतः मैं इस तृष्णाको छोड़कर परब्रह्म परमात्मामें मन लगा द्वन्द्व और ममतासे रहित हो वनमें मृगोंके साथ विचरूँगा॥

पूरो प्रीतोऽस्मि भद्रं ते गृहाणेदं स्वयौवनम्।
राज्यं चेदं गृहाण त्वं त्वं हि मे प्रियकृत् सुतः ॥१७॥

'पूरो! तुम्हारा भला हो, मैं प्रसन्न हूँ। अपनी यह जवानी ले लो। साथ ही यह राज्य भी अपने अधिकारमें कर लो; क्योंकि तुम मेरा प्रिय करनेवाले पुत्र हो'॥ १७॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिपेदे जरां राजा ययातिर्नाहुषस्तदा।
यौवनं प्रतिपेदे च पूरुः स्वं पुनरात्मनः ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय नहुषनन्दन राजा ययातिने अपनी वृद्धावस्था वापस ले ली और पूरुने पुनः अपनी युवावस्था प्राप्त कर ली॥ १८॥

अभिषेक्तुकामं नृपतिं पूरुं पुत्रं कनीयसम्।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णा इदं वचनमब्रुवन् ॥१९॥

जब ब्राह्मण आदि वर्णोंने देखा कि महाराज ययाति अपने छोटे पुत्र पूरुको राजाके पदपर अभिषिक्त करना चाहते हैं, तब उनके पास आकर इस प्रकार बोले—॥ १९॥

कथं शुक्रस्य नप्तारं देवयान्याः सुतं प्रभो।
ज्येष्ठं यदुमतिक्रम्य राज्यं पूरोः प्रयच्छसि ॥२०॥

'प्रभो! शुक्राचार्यके नाती और देवयानीके ज्येष्ठ पुत्र यदुके होते हुए उन्हें लाँघकर आप पूरुको राज्य क्यों देते हैं?॥

यदुर्ज्येष्ठस्तव सुतो जातस्तमनु तुर्वसुः।
शर्मिष्ठायाः सुतो द्रुह्युस्ततोऽनुः पूरुरेव च ॥२१॥

यदु आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उसके बाद तुर्वसु उत्पन्न हुए हैं। तदनन्तर शर्मिष्ठाके पुत्र क्रमशः द्रुह्यु, अनु और पूरु हैं।

कथं ज्येष्ठानतिक्रम्य कनीयान् राज्यमर्हति।
एतत् सम्बोधयामस्त्वां धर्मं त्वं प्रतिपालय ॥२२॥

'ज्येष्ठ पुत्रोंका उल्लङ्घन करके छोटा पुत्र राज्यका अधिकारी कैसे हो सकता है? हम आपको इस बातका स्मरण दिला रहे हैं। आप धर्मका पालन कीजिये'॥ २२॥

ययातिरुवाच

ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः सर्वे शृण्वन्तु मे वचः।
ज्येष्ठं प्रति यथा राज्यं न देयं मे कथंचन ॥२३॥

ययातिने कहा—ब्राह्मण आदि सब वर्गके लोग मेरी बात सुनें, मुझे ज्येष्ठ पुत्रको किसी तरह राज्य नहीं देना है।

मम ज्येष्ठेन यदुना नियोगो नानुपालितः।
प्रतिकूलः पितुर्यश्च न स पुत्रः सतां मतः ॥२४॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र यदुने मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया है। जो पिताके प्रतिकूल हो, वह सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें पुत्र नहीं माना गया है॥ २४॥

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पथ्यश्च यः सुतः।
स पुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते पितृमातृषु ॥२५॥

जो माता और पिताकी आज्ञा मानता है, उनका हित चाहता है, उनके अनुकूल चलता है तथा माता-पिताके प्रति पुत्रोचित बर्ताव करता है, वही वास्तवमें पुत्र है॥ २५॥

(पुदिति नरकस्याख्या दुःखं हि नरकं विदुः ।
पुतस्त्राणात् ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥
आत्मनः सदृशः पुत्रः पितृदेवर्षिपूजने ।
यो बहूनां गुणकरः स पुत्रो ज्येष्ठ उच्यते ॥
ज्येष्ठांशभाक् स गुणकृदिह लोके परत्र च ।
श्रेयान् पुत्रो गुणोपेतः स पुत्रो नेतरो वृथा ॥
वदन्ति धर्मं धर्मज्ञाः पितॄणां पुत्रकारणात् ।)

'पुत्' यह नरकका नाम है । नरकको दुःखरूप ही मानते हैं । पुत् नामक नरकसे त्राण (रक्षा) करनेके कारण ही लोग इहलोक और परलोकमें पुत्रकी इच्छा करते हैं । अपने अनुरूप पुत्र देवताओं, ऋषियों और पितरोंके पूजनका अधिकारी होता है । जो बहुत-से मनुष्योंके लिये गुणकारक (लाभदायक) हो, उसीको ज्येष्ठ पुत्र कहते हैं । वह गुणकारक पुत्र ही इहलोक और परलोकमें ज्येष्ठके अंशका भागी होता है । जो उत्तम गुणोंसे सम्पन्न है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना गया है, दूसरा नहीं । गुणहीन पुत्र व्यर्थ कहा गया है । धर्मज्ञ पुरुष पुत्रके ही कारण पितरोंके धर्मका बखान करते हैं ॥

यदुनाहमवज्ञातस्तथा तुर्वसुनापि च ।
द्रुह्युना चानुना चैव मय्यवज्ञा कृता भृशम् ॥२६॥

यदुने मेरी अवहेलना की है; तुर्वसु, द्रुह्यु तथा अनुने भी मेरा बड़ा तिरस्कार किया है ॥ २६ ॥

पूरुणा तु कृतं वाक्यं मानितं च विशेषतः ।
कनीयान् मम दायादो धृता येन जरा मम ॥२७॥

पूरुने मेरी आज्ञाका पालन किया;मेरी बातको अधिक आदर दिया है, इसीने मेरा बुढ़ापा ले रक्खा था । अतः मेरा यह छोटा पुत्र ही वास्तवमें मेरे राज्य और धनको पानेका अधिकारी है ॥

मम कामः स च कृतः पूरुणा मित्ररूपिणा ।
शुक्रेण च वरो दत्तः काव्येनोशनसा स्वयम् ॥२८॥
पुत्रो यस्त्वानुवर्तेत स राजा पृथिवीपतिः ।
भवतोऽनुनयाम्येवं पूरू राज्येऽभिषिच्यताम् ॥२९॥

पूरुने मित्ररूप होकर मेरी कामनाएँ पूर्ण की हैं । स्वयं शुक्राचार्यने मुझे वर दिया है कि 'जो पुत्र तुम्हारा अनुसरण करे, वही राजा एवं समस्त भूमण्डलका पालक हो' । अतः मैं आपलोगोंसे विनयपूर्ण आग्रह करता हूँ कि पूरुको ही राज्यपर अभिषिक्त करें ॥ २८-२९ ॥

प्रकृतय ऊचुः

यः पुत्रो गुणसम्पन्नो मातापित्रोर्हितः सदा ।
सर्वमर्हति कल्याणं कनीयानपि सत्तमः ॥३०॥

प्रजावर्गके लोग बोले—जो पुत्र गुणवान् और सदा माता-पिताका हितैषी हो, वह छोटा होनेपर भी श्रेष्ठतम है । वही सम्पूर्ण कल्याणका भागी होने योग्य है ॥ ३० ॥

अर्हः पूरुरिदं राज्यं यः सुतः प्रियकृत् तव ।
वरदानेन शुक्रस्य न शक्यं वक्तुमुत्तरम् ॥३१॥

पूरु आपका प्रिय करनेवाले पुत्र हैं, अतः शुक्राचार्यके वरदानके अनुसार ये ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं । इस निश्चयके विरुद्ध कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता ॥

वैशम्पायन उवाच

पौरजानपदैस्तुष्टैरित्युक्तो नाहुषस्तदा ।
अभ्यषिञ्चत् ततः पूरुं राज्ये स्वे सुतमात्मनः ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नगर और राज्यके लोगोंने संतुष्ट होकर जब इस प्रकार कहा, तब नहुषनन्दन ययातिने अपने पुत्र पूरुको ही अपने राज्यपर अभिषिक्त किया ॥३२॥

दत्त्वा च पूरवे राज्यं वनवासाय दीक्षितः ।
पुरात् स निर्ययौ राजा ब्राह्मणैस्तापसैः सह ॥३३॥

इस प्रकार पूरुको राज्य दे वनवासकी दीक्षा लेकर राजा ययाति तपस्वी ब्राह्मणोंके साथ नगरसे बाहर निकल गये ॥

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः ।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजा अनोस्तु म्लेच्छजातयः ॥३४॥

यदुसे यादव क्षत्रिय उत्पन्न हुए, तुर्वसुकी संतान यवन कहलायी, द्रुह्युके पुत्र भोज नामसे प्रसिद्ध हुए और अनुसे म्लेच्छजातियाँ उत्पन्न हुईं ॥ ३४ ॥

पूरोस्तु पौरवो वंशो यत्र जातोऽसि पार्थिव ।
इदं वर्षसहस्राणि राज्यं कारयितुं वशी ॥३५॥

राजा जनमेजय ! पूरुसे पौरव वंश चला; जिसमें तुम उत्पन्न हुए हो । तुम्हें इन्द्रिय-संयमपूर्वक एक हजार वर्षों-तक यह राज्य करना है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ययात्युपाख्याने पूर्वयायातसमाप्तौ पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ययात्युपाख्यानके प्रसङ्गमें पूर्वयायातसमाप्तिविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥८५॥

(इस अध्यायमें ३५ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक कुल ३८ श्लोक हैं)

षडशीतितमोऽध्यायः

वनमें राजा ययातिकी तपस्या और उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति

वैशम्पायन उवाच

एवं स नाहुषो राजा ययातिः पुत्रमीप्सितम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितो वानप्रस्थोऽभवन्मुनिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार नहुषनन्दन राजा ययाति अपने प्रिय पुत्र पूरुका राज्याभिषेक करके प्रसन्नतापूर्वक वानप्रस्थ मुनि हो गये ॥ १ ॥

उषित्वा च वने वासं ब्राह्मणैः संशितव्रतः ।
फलमूलाशनो दान्तस्ततः स्वर्गमितो गतः ॥ २ ॥

वे वनमें ब्राह्मणोंके साथ रहकर कठोर व्रतका पालन करते हुए फल-मूलका आहार तथा मन और इन्द्रियोंका संयम करते थे, इससे वे स्वर्गलोकमें गये ॥ २ ॥

स गतः स्वर्निवासं तं निवसन् मुदितः सुखी ।
कालेन चातिमहता पुनः शक्रेण पातितः ॥ ३ ॥
निपतन् प्रच्युतः स्वर्गादप्राप्तो मेदिनीतलम् ।
स्थित आसीदन्तरिक्षे स तदेति श्रुतं मया ॥ ४ ॥

स्वर्गलोकमें जाकर वे बड़ी प्रसन्नताके साथ सुखपूर्वक रहने लगे और बहुत कालके बाद इन्द्रद्वारा वे पुनः स्वर्गसे नीचे गिरा दिये गये । स्वर्गसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर गिरते समय वे भूतलतक नहीं पहुँचे, आकाशमें ही स्थिर हो गये, ऐसा मैंने सुना है ॥ ३-४ ॥

तत एव पुनश्चापि गतः स्वर्गमिति श्रुतम् ।
राज्ञा वसुमता सार्धमष्टकेन च वीर्यवान् ॥ ५ ॥
प्रतर्दनेन शिबिना समेत्य किल संसदि ।

फिर यह भी सुननेमें आया है कि वे पराक्रमी राजा ययाति मुनिसमाजमें राजा वसुमान्, अष्टक, प्रतर्दन और शिबिसे मिलकर पुनः वहींसे साधु पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ५½ ॥

जनमेजय उवाच

कर्मणा केन स दिवं पुनः प्राप्तो महीपतिः ॥ ६ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! किस कर्मसे वे भूपाल पुनः स्वर्गमें पहुँचे थे ? ॥ ६ ॥

सर्वमेतदशेषेण श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
कथ्यमानं त्वया विप्र विप्रर्षिगणसंनिधौ ॥ ७ ॥

विप्रवर ! मैं ये सारी बातें पूर्णरूपसे यथावत् सुनना चाहता हूँ । इन ब्रह्मर्षियोंके समीप आप इस प्रसङ्गका वर्णन करें ॥ ७ ॥

देवराजसमो ह्यासीद् ययातिः पृथिवीपतिः ।
वर्धनः कुरुवंशस्य विभावसुसमद्युतिः ॥ ८ ॥

कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले, अग्निके समान तेजस्वी राजा ययाति देवराज इन्द्रके समान थे ॥ ८ ॥

तस्य विस्तीर्णयशसः सत्यकीर्तेर्महात्मनः ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि दिवि चेह च सर्वशः ॥ ९ ॥

उनका यश चारों ओर फैला था । मैं उन सत्यकीर्ति महात्मा ययातिका चरित्र, जो इहलोक और स्वर्गलोकमें सर्वत्र प्रसिद्ध है, सुनना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि ययातेरुत्तमां कथाम् ।
दिवि चेह च पुण्यार्थां सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! ययातिकी उत्तम कथा इहलोक और स्वर्गलोकमें भी पुण्यदायक है । वह सब पापोंका नाश करनेवाली है, मैं तुमसे उसका वर्णन करता हूँ ॥

ययातिर्नाहुषो राजा पूरुं पुत्रं कनीयसम् ।
राज्येऽभिषिच्य मुदितः प्रवव्राज वनं तदा ॥ ११ ॥
अन्त्येषु स विनिक्षिप्य पुत्रान् यदुपुरोगमान् ।
फलमूलाशनो राजा वने संन्यवसच्चिरम् ॥ १२ ॥

नहुषपुत्र महाराज ययातिने अपने छोटे पुत्र पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके यदु आदि अन्य पुत्रोंको सीमान्त (किनारेके देशों) में रख दिया । फिर बड़ी प्रसन्नताके साथ वे वनमें गये । वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए उन्होंने दीर्घकालतक वनमें निवास किया ॥ ११-१२ ॥

शंसितात्मा जितक्रोधस्तर्पयन् पितृदेवताः ।
अग्नींश्च विधिवज्जुह्वन् वानप्रस्थविधानतः ॥ १३ ॥

उन्होंने अपने मनको शुद्ध करके क्रोधपर विजय पायी और प्रतिदिन देवताओं तथा पितरोंका तर्पण करते हुए वानप्रस्थाश्रमकी विधिसे शास्त्रीय विधानके अनुसार अग्निहोत्र प्रारम्भ किया ॥

अतिथीन् पूजयामास वन्येन हविषा विभुः ।
शिलोञ्छवृत्तिमास्थाय शेषान्नकृतभोजनः ॥ १४ ॥

वे राजा शिलोञ्छवृत्तिका आश्रय ले यज्ञशेष अन्नका भोजन करते थे । भोजनसे पूर्व वनमें उपलब्ध होनेवाले फल, मूल आदि हविष्यके द्वारा अतिथियोंका आदर-सत्कार करते थे ॥ १४ ॥

पूर्णं वर्षसहस्रं च एवंवृत्तिरभून्नृपः ।
अब्भक्षः शरदस्त्रिंशदासीन्नियतवाङ्मनाः ॥ १५ ॥

राजाको इसी वृत्तिसे रहते हुए पूरे एक हजार वर्ष बीत गये । उन्होंने मन और वाणीपर संयम करके तीस वर्षोंतक केवल जलका आहार किया ॥ १५ ॥

ततश्च वायुभक्षोऽभूत् संवत्सरमतन्द्रितः ।
तथा पञ्चाग्निमध्ये च तपस्तेपे स वत्सरम् ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् वे आलस्यरहित हो एक वर्षतक केवल वायु पीकर रहे

फिर एक वर्षतक पाँच अग्नियोंके बीचमें बैठकर तपस्या की।१६।

एकपादः स्थितिश्चासीत् षण्मासाननिलाशनः ।
पुण्यकीर्तिस्ततः स्वर्गं जगामावृत्य रोदसी ॥ १७॥

इसके बाद छः महीनोंतक हवा पीकर वे एक पैरसे खड़े रहे । तदनन्तर पुण्यकीर्ति महाराज ययाति पृथ्वी और आकाशमें अपना यश फैलाकर स्वर्गलोकमें चले गये ॥१७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

इन्द्रके पूछनेपर ययातिका अपने पुत्र पूरुको दिये हुए उपदेशकी चर्चा करना

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गतः स तु राजेन्द्रो निवसन् देववेश्मनि ।
पूजितस्त्रिदशैः साध्यैर्मरुद्भिर्वसुभिस्तथा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! स्वर्गलोकमें जाकर महाराज ययाति देवभवनमें निवास करने लगे । वहाँ देवताओं, साध्यगणों, मरुद्गणों तथा वसुओंने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया ॥ १ ॥

देवलोकं ब्रह्मलोकं संचरन् पुण्यकृद् वशी ।
अवसत् पृथिवीपालो दीर्घकालमिति श्रुतिः ॥ २ ॥

सुना जाता है कि पुण्यात्मा तथा जितेन्द्रिय राजा ययाति देवलोक और ब्रह्मलोकमें भ्रमण करते हुए वहाँ दीर्घकालतक रहे ॥

स कदाचिन्नृपश्रेष्ठो ययातिः शक्रमागमत् ।
कथान्ते तत्र शक्रेण स पृष्टः पृथिवीपतिः ॥ ३ ॥

एक दिन नृपश्रेष्ठ ययाति देवराज इन्द्रके पास आये । दोनोंमें वार्तालाप हुआ और अन्तमें इन्द्रने राजा ययातिसे पूछा॥

शक्र उवाच

यदा स पूरुस्तव रूपेण राजन्
जरां गृहीत्वा प्रचचार भूमौ ।
तदा च राज्यं सम्प्रदायैव तस्मै
त्वया किमुक्तः कथयेह सत्यम् ॥ ४ ॥

इन्द्रने पूछा—राजन् ! जब पूरु तुमसे वृद्धावस्था लेकर तुम्हारे स्वरूपसे इस पृथ्वीपर विचरण करने लगा, तुम सत्य कहो, उस समय राज्य देकर तुमने उसको क्या आदेश दिया था ? ॥ ४ ॥

ययातिरुवाच

गङ्गायमुनयोर्मध्ये कृत्स्नोऽयं विषयस्तव ।
मध्ये पृथिव्यास्त्वं राजा भ्रातरोऽन्त्याधिपास्तव॥ ५ ॥

ययातिने कहा—(देवराज ! मैंने अपने पुत्र पूरुसे कहा था कि) बेटा ! गङ्गा और यमुनाके बीचका यह सारा प्रदेश तुम्हारे अधिकारमें रहेगा । यह पृथ्वीका मध्य भाग है, इसके तुम राजा होओगे और तुम्हारे भाई सीमान्त देशोंके अधिपति होंगे ॥ ५ ॥

(न च कुर्यान्नरो दैन्यं शाठ्यं क्रोधं तथैव च ।
जैह्म्यं च मत्सरं वैरं सर्वत्रैव न कारयेत् ॥
मातरं पितरं चैव विद्वांसं च तपोधनम् ।
क्षमावन्तं च देवेन्द्र नावमन्येत बुद्धिमान् ॥
शक्तस्तु क्षमते नित्यमशक्तः क्रुध्यते नरः ।
दुर्जनः सुजनं द्वेष्टि दुर्बलो बलवत्तरम् ॥
रूपवन्तमरूपी च धनवन्तं च निर्धनः ।
अकर्मी कर्मिणं द्वेष्टि धार्मिकं च न धार्मिकः ॥
निर्गुणो गुणवन्तं च शक्रैतत् कलिलक्षणम् ।)

देवेन्द्र ! (इसके बाद मैंने यह आदेश दिया कि) मनुष्य दीनता, शठता और क्रोध न करे । कुटिलता, मात्सर्य और वैर कहीं न करे । माता, पिता, विद्वान्, तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुषका बुद्धिमान् मनुष्य कभी अपमान न करे । शक्तिशाली पुरुष सदा क्षमा करता है । शक्तिहीन मनुष्य सदा क्रोध करता है । दुष्ट मानव साधु पुरुषसे और दुर्बल अधिक बलवान्से द्वेष करता है । कुरूप मनुष्य रूपवान्से, निर्धन धनवान्से, अकर्मण्य कर्मनिष्ठसे और अधार्मिक धर्मात्मासे द्वेष करता है। इसी प्रकार गुणहीन मनुष्य गुणवान्से डाह रखता है। इन्द्र! यह कलिका लक्षण है ॥

अक्रोधनः क्रोधनेभ्यो विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषेभ्यो मानुषाश्च प्रधाना
विद्वांस्तथैवाविदुषः प्रधानः ॥ ६ ॥

क्रोध करनेवालोंसे वह पुरुष श्रेष्ठ है, जो कभी क्रोध नहीं करता। इसी प्रकार असहनशीलसे सहनशील उत्तम है, मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मूर्खोंसे विद्वान् उत्तम है ॥६॥

अक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ ७॥

यदि कोई किसीकी निन्दा करता या उसे गाली देता हो तो वह भी बदलेमें निन्दा या गाली-गलौज न करे; क्योंकि जो गाली या निन्दा सह लेता है, उस पुरुषका आन्तरिक दुःख ही गाली देनेवाले या अपमान करनेवालेको जला डालता है। साथ ही उसके पुण्यको भी वह ले लेता है ॥ ७ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥

क्रोधवश किसीके मर्म-स्थानमें चोट न पहुँचाये (ऐसा बर्ताव न करे, जिससे किसीको मार्मिक पीड़ा हो) । किसीके प्रति कठोर बात भी मुँहसे न निकाले । अनुचित उपायसे शत्रुको भी वशमें न करे । जो जीको जलानेवाली हो, जिससे दूसरेको उद्वेग होता हो, ऐसी बात मुँहसे न बोले, क्योंकि पापीलोग ही ऐसी बातें बोला करते हैं ॥ ८ ॥

अरुन्तुदं परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥

जो स्वभावका कठोर हो, दूसरोंके मर्ममें चोट पहुँचाता हो, तीखी बातें बोलता हो और कठोर वचनरूपी काँटोंसे दूसरे मनुष्यको पीड़ा देता हो, उसे अत्यन्त लक्ष्मीहीन (दरिद्र या अभागा) समझे । (उसको देखना भी बुरा है, क्योंकि) वह कड़वी बोलीके रूपमें अपने मुँहमें बँधी हुई एक पिशाचिनीको ढो रहा है ॥

सद्भिः पुरस्तादभिपूजितः स्यात्
सद्भिस्तथा पृष्ठतो रक्षितः स्यात् ।
सदासतामतिवादांस्तितिक्षेत्
सतां वृत्तं चाददीतार्यवृत्तः ॥ १० ॥

(अपना बर्ताव और व्यवहार ऐसा रक्खे, जिससे) साधु पुरुष सामने तो सत्कार करें ही, पीठ-पीछे भी उनके द्वारा अपनी रक्षा हो । दुष्ट लोगोंकी कही हुई अनुचित बातें सदा सह लेनी चाहिये तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके सदाचारका आश्रय लेकर साधु पुरुषोंके व्यवहारको ही अपनाना चाहिये ॥ १० ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ११ ॥

दुष्ट मनुष्योंके मुखसे कटु वचनरूपी बाण सदा छूटते रहते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है । वे वाग्बाण दूसरोंके मर्मस्थानोंपर ही चोट करते हैं । अतः विद्वान् पुरुष दूसरेके प्रति ऐसी कठोर वाणीका प्रयोग न करे ॥ ११ ॥

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानं च मधुरा च वाक् ॥ १२ ॥

सभी प्राणियोंके प्रति दया और मैत्रीका बर्ताव, दान और सबके प्रति मधुर वाणीका प्रयोग—तीनों लोकोंमें इनके समान कोई वशीकरण नहीं है ॥ १२ ॥

तस्मात् सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान् सम्पूजयेद् दद्यान्न च याचेत् कदाचन ॥ १३ ॥

इसलिये कभी कठोर वचन न बोले । सदा सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोले । पूजनीय पुरुषोंका पूजन (आदर-सत्कार) करे । दूसरोंको दान दे और स्वयं कभी किसीसे कुछ न माँगे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

(इस अध्यायमें १३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक, कुल १७½ श्लोक है)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

ययातिका स्वर्गसे पतन और अष्टकका उनसे प्रश्न करना

इन्द्र उवाच

सर्वाणि कर्माणि समाप्य राजन्
गृहं परित्यज्य वनं गतोऽसि ।
तत् त्वां पृच्छामि नहुषस्य पुत्र
केनासि तुल्यस्तपसा ययाते ॥ १ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! तुम सम्पूर्ण कर्मोंको समाप्त करके घर छोड़कर वनमें चले गये थे । अतः नहुषपुत्र ययाते ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि तुम तपस्यामें किसके समान हो ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

नाहं देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु महर्षिषु ।
आत्मनस्तपसा तुल्यं कंचित् पश्यामि वासव ॥ २ ॥

ययातिने कहा—इन्द्र ! मैं देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों और महर्षियोंमेंसे किसीको भी तपस्यामें अपनी बराबरी करनेवाला नहीं देखता हूँ ॥ २ ॥



ययातिका पतन

इन्द्र उवाच

यदावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च
अल्पीयसश्चाविदितप्रभावः ।
तस्माल्लोकास्त्वन्तवन्तस्तवेमे
क्षीणे पुण्ये पतितास्यद्य राजन् ॥ ३ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! तुमने अपने समान, अपनेसे बड़े और छोटे लोगोंका प्रभाव न जानकर सबका तिरस्कार किया है, अतः तुम्हारे इन पुण्यलोकोंमें रहनेकी अवधि समाप्त हो गयी; क्योंकि (दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण) तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया, इसलिये अब तुम यहाँसे नीचे गिरोगे ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

सुरर्षिगन्धर्वनरावमानात्
क्षयं गता मे यदि शक्र लोकाः ।
इच्छाम्यहं सुरलोकाद् विहीनः
सतां मध्ये पतितुं देवराज ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—देवराज इन्द्र! देवता, ऋषि, गन्धर्व और मनुष्य आदिका अपमान करनेके कारण यदि मेरे पुण्य-लोक क्षीण हो गये हैं तो इन्द्रलोकसे भ्रष्ट होकर मैं साधु पुरुषोंके बीचमें गिरनेकी इच्छा करता हूँ ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

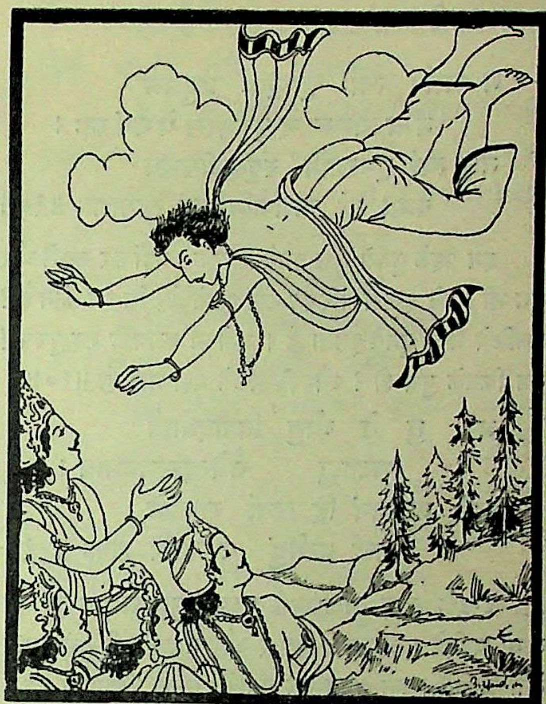
सतां सकाशे पतितासि राजं-
श्च्युतः प्रतिष्ठां यत्र लब्धासि भूयः ।
एतद् विदित्वा च पुनर्ययाते
त्वं मावमंस्थाः सदृशः श्रेयसश्च ॥ ५ ॥

इन्द्र बोले—राजा ययाति! तुम यहाँसे च्युत होकर साधु पुरुषोंके समीप गिरोगे और वहाँ अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर लोगे। यह सब जानकर तुम फिर कभी अपने बराबर तथा अपनेसे बड़े लोगोंका अपमान न करना ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रहायामरराजजुष्टान्
पुण्याँल्लोकान् पतमानं ययातिम् ।
सम्प्रेक्ष्य राजर्षिवरोऽष्टकस्त-
मुवाच सद्धर्मविधानगोप्ता ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर देवराज इन्द्रके सेवन करने योग्य पुण्यलोकोंका परित्याग करके राजा ययाति नीचे गिरने लगे। उस समय राजर्षियोंमें श्रेष्ठ अष्टकने उन्हें गिरते देखा। वे उत्तम धर्म-विधिके पालक थे। उन्होंने ययातिसे कहा ॥ ६ ॥



अष्टक उवाच

कस्त्वं युवा वासवतुल्यरूपः
स्वतेजसा दीप्यमानो यथाग्निः ।
पतस्युदीर्णाम्बुधरान्धकारात्
खात् खेचराणां प्रवरो यथार्कः ॥ ७ ॥

अष्टकने पूछा—इन्द्रके समान सुन्दर रूपवाले तरुण पुरुष तुम कौन हो। तुम अपने तेजसे अग्निकी भाँति देदीप्यमान हो रहे हो। मेघरूपी घने अन्धकारवाले आकाशसे आकाशचारी ग्रहोंमें श्रेष्ठ सूर्यके समान तुम कैसे गिर रहे हो? ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा च त्वां सूर्यपथात् पतन्तं
वैश्वानरार्कद्युतिमप्रमेयम् ।
किं नु स्विदेतत् पततीति सर्वे
वितर्कयन्तः परिमोहिताः स्मः ॥ ८ ॥

तुम्हारा तेज सूर्य और अग्निके सदृश है। तुम अप्रमेय शक्तिशाली जान पड़ते हो। तुम्हें सूर्यके मार्गसे गिरते देख हम सब लोग मोहित होकर इस तर्क-वितर्कमें पड़े हैं कि 'यह क्या गिर रहा है?' ॥ ८ ॥

दृष्ट्वा च त्वां धिष्ठितं देवमार्गे
शक्रार्कविष्णुप्रतिमप्रभावम् ।
अभ्युद्गतास्त्वां वयमद्य सर्वे
तत्त्वं प्रपाते तव जिज्ञासमानाः ॥ ९ ॥

तुम इन्द्र, सूर्य और विष्णुके समान प्रभावशाली हो। तुम्हें आकाशमें स्थित देखकर हम सब लोग अब यह जाननेके

लिये तुम्हारे निकट आये हैं कि तुम्हारे पतनका यथार्थ कारण क्या है ? ॥ ९ ॥

न चापि त्वां धृष्णुमः प्रष्टुमग्रे
न च त्वमस्मान् पृच्छसि ये वयं स्मः ।
तत् त्वां पृच्छामि स्पृहणीयरूप
कस्य त्वं वा किंनिमित्तं त्वमागाः ॥१०॥

हम पहले तुमसे कुछ पूछनेका साहस नहीं कर सकते और तुम भी हमसे हमारा परिचय नहीं पूछते हो; कि हम कौन हैं ? इसलिये मैं ही तुमसे पूछता हूँ । मनोरम रूपवाले महापुरुष ! तुम किसके पुत्र हो ? और किसलिये यहाँ आये हो ॥१०॥

भयं तु ते व्येतु विषादमोहौ
त्यजाशु चैवेन्द्रसमप्रभाव ।
त्वां वर्तमानं हि सतां सकाशे
नालं प्रसोढुं बलहापि शक्रः ॥११॥

इन्द्रके तुल्य शक्तिशाली पुरुष ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये । अब तुम्हें विषाद और मोहको भी तुरंत त्याग देना चाहिये । इस समय तुम संतोंके समीप विद्यमान हो । बल दानवका नाश करनेवाले इन्द्र भी अब तुम्हारा तेज सहन करनेमें असमर्थ हैं ॥ ११ ॥

सन्तः प्रतिष्ठा हि सुखच्युतानां
सतां सदैवामरराजकल्प ।
ते संगताः स्थावरजङ्गमेशाः
प्रतिष्ठितस्त्वं सदृशेषु सत्सु ॥१२॥

देवेश्वर इन्द्रके समान तेजस्वी महानुभाव ! सुखसे वञ्चित होनेवाले साधु पुरुषोंके लिये सदा संत ही परम आश्रय हैं । वे स्थावर और जङ्गम सब प्राणियोंपर शासन करनेवाले सत्पुरुष यहाँ एकत्र हुए हैं । तुम अपने समान पुण्यात्मा संतोंके बीचमें स्थित हो ॥ १२ ॥

प्रभुरग्निः प्रतपने भूमिरावपने प्रभुः ।
प्रभुः सूर्यः प्रकाशित्वे सतां चाभ्यागतः प्रभुः ॥१३॥

जैसे तपनेकी शक्ति अग्निमें है, बोये हुए बीजको धारण करनेकी शक्ति पृथ्वीमें है, प्रकाशित होनेकी शक्ति सूर्यमें है, इसी प्रकार संतोंपर शासन करनेकी शक्ति केवल अतिथिमें है ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका संवाद

ययातिरुवाच

अहं ययातिर्नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सर्वभूतावमानात् ।
प्रभ्रंशितः सुरसिद्धर्षिलोकात्
परिच्युतः प्रपताम्यल्पपुण्यः ॥ १ ॥

ययातिने कहा—महात्मन् ! मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता ययाति हूँ । समस्त प्राणियोंका अपमान करनेसे मेरा पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं देवताओं, सिद्धों तथा महर्षियोंके लोकसे च्युत होकर नीचे गिर रहा हूँ ॥ १ ॥

अहं हि पूर्वो वयसा भवद्भ्य-
स्तेनाभिवादं भवतां न प्रयुञ्जे ।
यो विद्यया तपसा जन्मना वा
वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ २ ॥

मैं आपलोगोंसे अवस्थामें बड़ा हूँ, अतः आपलोगोंको प्रणाम नहीं कर रहा हूँ । द्विजातियोंमें जो विद्या, तप और अवस्थामें बड़ा होता है, वह पूजनीय माना जाता है ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

अवादीस्त्वं वयसा यः प्रवृद्धः
स वै राजन् नाभ्यधिकः कथ्यते च ।
यो विद्यया तपसा सम्प्रवृद्धः
स एव पूज्यो भवति द्विजानाम् ॥ ३ ॥

अष्टक बोले—राजन् ! आपने कहा है कि जो अवस्था में बड़ा हो, वही अधिक सम्माननीय कहा जाता है । परंतु द्विजोंमें तो जो विद्या और तपस्यामें बढ़ा-चढ़ा हो, वही पूज्य होता है ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

प्रतिकूलं कर्मणां पापमाहु-
स्तद् वर्ततेऽप्रवणे पापलोक्यम् ।
सन्तोऽसतां नानुवर्तन्ति चैतद्
यथा चैषामनुकूलास्तथाऽऽसन् ॥ ४ ॥

ययातिने कहा—पापको पुण्यकर्मोंका नाशक बताया जाता है, वह नरककी प्राप्ति करानेवाला है और वह उद्दण्ड

पुरुषोंमें ही देखा जाता है। दुराचारी पुरुषोंके दुराचारका श्रेष्ठ पुरुष अनुसरण नहीं करते हैं। पहलेके साधु पुरुष भी उन श्रेष्ठ पुरुषोंके ही अनुकूल आचरण करते थे ॥ ४ ॥

अभूद् धनं मे विपुलं गतं तद्
विचेष्टमानो नाधिगन्ता तदस्मि ।
एवं प्रधार्यात्महिते निविष्टो
यो वर्तते स विजानाति धीरः ॥ ५ ॥

मेरे पास पुण्यरूपी बहुत धन था; किंतु दूसरोंकी निन्दा करनेके कारण वह सब नष्ट हो गया। अब मैं चेष्टा करके भी उसे नहीं पा सकता। मेरी इस दुरवस्थाको समझ-बूझकर जो आत्मकल्याणमें संलग्न रहता है, वही ज्ञानी और वही धीर है ॥ ५ ॥

महाधनो यो यजते सुयज्ञै-
र्यः सर्वविद्यासु विनीतबुद्धिः ।
वेदानधीत्य तपसाऽऽयोज्य देहं
दिवं समायातु पुरुषो वीतमोहः ॥ ६ ॥

जो मनुष्य बहुत धनी होकर उत्तम यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता है, सम्पूर्ण विद्याओंको पाकर जिसकी बुद्धि विनययुक्त है तथा जो वेदोंको पढ़कर अपने शरीरको तपस्यामें लगा देता है, वह पुरुष मोहरहित होकर स्वर्गमें जाता है ॥६॥

न जातु हृष्येन्महता धनेन
वेदानधीयीतानहंकृतः स्यात् ।
नानाभावा बहवो जीवलोके
दैवाधीना नष्टचेष्टाधिकाराः ।
तत् तत् प्राप्य न विहन्येत धीरो
दिष्टं बलीय इति मत्वाऽऽत्मबुद्ध्या ॥ ७ ॥

महान् धन पाकर कभी हर्षसे उल्लसित न हो, वेदोंका अध्ययन करे, किंतु अहंकारी न बने। इस जीव-जगत्‌में भिन्न-भिन्न स्वभाववाले बहुतसे प्राणी हैं, वे सभी प्रारब्धके अधीन हैं, अतः उनके धनादि पदार्थोंके लिये किये हुए उद्योग और अधिकार सभी व्यर्थ हो जाते हैं। इसलिये धीर पुरुषको चाहिये कि वह अपनी बुद्धिसे 'प्रारब्ध ही बलवान् है' यह जानकर दुःख या सुख जो भी मिले, उसमें विकारको प्राप्त न हो ॥ ७ ॥

सुखं हि जन्तुर्यदि वापि दुःखं
दैवाधीनं विन्दते नात्मशक्त्या ।
तस्माद् दिष्टं बलवन्मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥ ८ ॥

जीव जो सुख अथवा दुःख पाता है, वह प्रारब्धसे ही प्राप्त होता है, अपनी शक्तिसे नहीं। अतः प्रारब्धको ही बलवान् मानकर मनुष्य किसी प्रकार भी हर्ष अथवा शोक न करे ॥ ८ ॥

दुःखैर्न तप्येन्न सुखैः प्रहृष्येत्
समेन वर्तेत सदैव धीरः ।
दिष्टं बलीय इति मन्यमानो
न संज्वरेन्नापि हृष्येत् कथंचित् ॥ ९ ॥

दुःखोंसे संतप्त न हो और सुखोंसे हर्षित न हो। धीर पुरुष सदा समभावसे ही रहे और भाग्यको ही प्रबल मानकर किसी प्रकार चिन्ता एवं हर्षके वशीभूत न हो ॥ ९ ॥

भये न मुह्याम्यष्टकाहं कदाचित्
संतापो मे मानसो नास्ति कश्चित् ।
धाता यथा मां विदधीत लोके
ध्रुवं तथाहं भवितेति मत्वा ॥ १० ॥

अष्टक ! मैं कभी भयमें पड़कर मोहित नहीं होता, मुझे कोई मानसिक संताप भी नहीं होता; क्योंकि मैं समझता हूँ कि विधाता इस संसारमें मुझे जैसे रक्खेगा, वैसे ही रहूँगा ॥१०॥

संस्वेदजा अण्डजाश्चोद्भिदश्च
सरीसृपाः कृमयोऽथाप्सु मत्स्याः ।
तथाश्मानस्तृणकाष्ठं च सर्वे
दिष्टक्षये स्वां प्रकृतिं भजन्ति ॥ ११ ॥

स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, सरीसृप, कृमि, जलमें रहनेवाले मत्स्य आदि जीव तथा पर्वत, तृण और काष्ठ—ये सभी प्रारब्ध-भोगका सर्वथा क्षय हो जानेपर अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

अनित्यतां सुखदुःखस्य बुद्ध्वा
कस्मात् संतापमष्टकाहं भजेयम् ।
किं कुर्यां वै किं च कृत्वा न तप्ये
तस्मात् संतापं वर्जयाम्यप्रमत्तः ॥ १२ ॥

अष्टक ! मैं सुख तथा दुःख दोनोंकी अनित्यताको जानता हूँ, फिर मुझे संताप हो तो कैसे ? मैं क्या करूँ और क्या करके संतप्त न होऊँ, इन बातोंकी चिन्ता छोड़ चुका हूँ। अतः सावधान रहकर शोक-संतापको अपनेसे दूर रखता हूँ ॥१२॥

(दुःखे न खिद्येन्न सुखेन माद्येत्
समेन वर्तेत स धीरधर्मा ।
दिष्टं बलीयः समवेक्ष्य बुद्ध्या
न सज्जते चात्र भृशं मनुष्यः ॥)

जो दुःखमें खिन्न नहीं होता, सुखसे मतवाला नहीं हो उठता और सबके साथ समान भावसे बर्ताव करता है, वह धीर कहा गया है। विज्ञ मनुष्य बुद्धिसे प्रारब्धको अत्यन्त बलवान् समझकर यहाँ किसी भी विषयमें अधिक आसक्त नहीं होता ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणं नृपतिं ययाति-
मथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छत् ।

मातामहं सर्वगुणोपपन्नं
तत्र स्थितं स्वर्गलोके यथावत् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे और नातेमें अष्टकके नाना लगते थे। वे अन्तरिक्षमें वैसे ही ठहरे हुए थे, मानो स्वर्गलोकमें हों। जब उन्होंने उपर्युक्त बातें कहीं, तब अष्टकने उनसे पुनः प्रश्न किया ॥ १३ ॥

अष्टक उवाच

ये ये लोकाः पार्थिवेन्द्र प्रधाना-
स्त्वया भुक्ता यं च कालं यथावत्।
तान् मे राजन् ब्रूहि सर्वान् यथावत्
क्षेत्रज्ञवद् भाषसे त्वं हि धर्मान् ॥ १४ ॥

अष्टक बोले—महाराज ! आपने जिन-जिन प्रधान लोकोंमें रहकर जितने समयतक वहाँके सुखोंका भलीभाँति उपभोग किया है, उन सबका मुझे यथार्थ परिचय दीजिये। राजन् ! आप तो महात्माओंकी भाँति धर्मोंका उपदेश कर रहे हैं ॥

ययातिरुवाच

राजाहमासमिह सार्वभौम-
स्ततो लोकान् महतश्चाजयं वै।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—अष्टक ! मैं पहले समस्त भूमण्डलमें प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा था। तदनन्तर सत्कर्मोंद्वारा बड़े-बड़े लोकोंपर मैंने विजय प्राप्त की और उनमें एक हजार वर्षोंतक निवास किया। इसके बाद उनसे भी उच्चतम लोकमें जा पहुँचा ॥ १५ ॥

ततः पुरीं पुरुहूतस्य रम्यां
सहस्रद्वारां शतयोजनायताम्।
अध्यावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १६ ॥

वहाँ सौ योजन विस्तृत और एक हजार दरवाजोंसे युक्त इन्द्रकी रमणीय पुरी प्राप्त हुई। उसमें मैंने केवल एक हजार वर्षोंतक निवास किया और उसके बाद उससे भी ऊँचे लोकमें गया ॥ १६ ॥

ततो दिव्यमजरं प्राप्य लोकं
प्रजापतेर्लोकपतेर्दुरापम्।
तत्रावसं वर्षसहस्रमात्रं
ततो लोकं परमस्म्यभ्युपेतः ॥ १७ ॥

तदनन्तर लोकपालोंके लिये भी दुर्लभ प्रजापतिके उस दिव्य लोकमें जा पहुँचा, जहाँ जरावस्थाका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक हजार वर्षतक रहा, फिर उससे भी उत्तम लोकमें चला गया ॥ १७ ॥

स देवदेवस्य निवेशने च
विहृत्य लोकानवसं यथेष्टम्।
सम्पूज्यमानस्त्रिदशैः समस्तै-
स्तुल्यप्रभावद्युतिरीश्वराणाम् ॥ १८ ॥

वह देवाधिदेव ब्रह्माजीका धाम था। वहाँ मैं अपनी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विहार करता हुआ सम्पूर्ण देवताओंसे सम्मानित होकर रहा। उस समय मेरा प्रभाव और तेज देवेश्वरोंके समान था ॥ १८ ॥

तथावसं नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम्।
सहाप्सरोभिर्विहरन् पुण्यगन्धान्
पश्यन् नगान् पुष्पितांश्चारुरूपान् ॥ १९ ॥

इसी प्रकार मैं नन्दनवनमें इच्छानुसार रूप धारण करके अप्सराओंके साथ विहार करता हुआ दस लाख वर्षोंतक रहा। वहाँ मुझे पवित्र गन्ध और मनोहर रूपवाले वृक्ष देखनेको मिले, जो फूलोंसे लदे हुए थे ॥ १९ ॥

तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं
कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम्।
दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो
ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिः प्लुतेन स्वरेण ॥ २० ॥

वहाँ रहकर मैं देवलोकके सुखोंमें आसक्त हो गया। तदनन्तर बहुत अधिक समय बीत जानेपर एक भयंकर रूपधारी देवदूत आकर मुझसे ऊँची आवाजमें तीन बार बोला—'गिर जाओ, गिर जाओ, गिर जाओ' ॥ २० ॥

एतावन्मे विदितं राजसिंह
ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात् क्षीणपुण्यः।
वाचोऽश्रौषं चान्तरिक्षे सुराणां
सानुक्रोशाः शोचतां मां नरेन्द्र ॥ २१ ॥

राजशिरोमणे ! मुझे इतना ही ज्ञात हो सका है। तदनन्तर पुण्य क्षीण हो जानेके कारण मैं नन्दन वनसे नीचे गिर पड़ा। नरेन्द्र ! उस समय मेरे लिये शोक करनेवाले देवताओंकी अन्तरिक्षमें यह दयाभरी वाणी सुनायी पड़ी— ॥ २१ ॥

अहो कष्टं क्षीणपुण्यो ययातिः
पतत्यसौ पुण्यकृत् पुण्यकीर्तिः।
तानब्रुवं पतमानस्ततोऽहं
सतां मध्ये निपतेयं कथं नु ॥ २२ ॥

'अहो ! बड़े कष्टकी बात है कि पवित्र कीर्तिवाले वे पुण्यकर्मा महाराज ययाति पुण्य क्षीण होनेके कारण नीचे गिर रहे हैं।' तब नीचे गिरते हुए मैंने उनसे पूछा—'देवताओ ! मैं साधु पुरुषोंके बीच गिरूँ, इसका क्या उपाय है ?' ॥ २२ ॥

तैराख्याता भवतां यज्ञभूमिः
समीक्ष्य चेमां त्वरितमुपागतोऽस्मि ।
हविर्गन्धं देशिकं यज्ञभूमे-
र्धूमापाङ्गं प्रतिगृह्य प्रतीतः ॥२३॥

तब देवताओंने मुझे आपकी यज्ञभूमिका परिचय दिया। मैं इसीको देखता हुआ तुरंत यहाँ आ पहुँचा हूँ। यज्ञभूमिका परिचय देनेवाली हविष्यकी सुगन्धका अनुभव तथा धूम-प्रान्तका अवलोकन करके मुझे बड़ी प्रसन्नता और सान्त्वना मिली है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

(इस अध्यायमें २३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक और कुल २४ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अष्टक और ययातिका संवाद

अष्टक उवाच

यदावसो नन्दने कामरूपी
संवत्सराणामयुतं शतानाम् ।
किं कारणं कार्तयुगप्रधान
हित्वा च त्वं वसुधामन्वपद्यः ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—सत्ययुगके निष्पाप राजाओंमें प्रधान नरेश ! जब आप इच्छानुसार रूप धारण करके दस लाख वर्षोंतक नन्दन वनमें निवास कर चुके हैं, तब क्या कारण है कि आप उसे छोड़कर भूतलपर चले आये ? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

ज्ञातिः सुहृत् स्वजनो वा यथेह
क्षीणे वित्ते त्यज्यते मानवैर्हि ।
तथा तत्र क्षीणपुण्यं मनुष्यं
त्यजन्ति सद्यः सेश्वरा देवसङ्घाः ॥ २ ॥

ययाति बोले—जैसे इस लोकमें जाति-भाई, सुहृद् अथवा स्वजन कोई भी क्यों न हो, धन नष्ट हो जानेपर उसे सब मनुष्य त्याग देते हैं; उसी प्रकार परलोकमें जिसका पुण्य समाप्त हो गया है, उस मनुष्यको देवराज इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता तुरंत त्याग देते हैं ॥ २ ॥

अष्टक उवाच

तस्मिन् कथं क्षीणपुण्या भवन्ति
सम्मुह्यते मेऽत्र मनोऽतिमात्रम् ।
किं वा विशिष्टाः कस्य धामोपयान्ति
तद् वै ब्रूहि क्षेत्रवित् त्वं मतो मे ॥ ३ ॥

अष्टकने पूछा—देवलोकमें मनुष्योंके पुण्य कैसे क्षीण होते हैं ? इस विषयमें मेरा मन अत्यन्त मोहित हो रहा है । प्रजापतिका वह कौन-सा धाम है, जिसमें विशिष्ट (अपुनरावृत्तिकी योग्यतावाले) पुरुष जाते हैं ? यह बताइये; क्योंकि आप मुझे क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) जान पड़ते हैं ॥ ३ ॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
लालप्यमाना नरदेव सर्वे ।
ते कङ्कगोमायुबलाशनार्थे[1]
क्षीणा विवृद्धिं बहुधा व्रजन्ति ॥ ४ ॥

ययाति बोले—नरदेव ! जो अपने मुखसे अपने पुण्य-कर्मोंका बखान करते हैं, वे सभी इस भौम नरकमें आ गिरते हैं। यहाँ वे गीधों, गीदड़ों और कौओं आदिके खाने योग्य इस शरीरके लिये बड़ा भारी परिश्रम करके क्षीण होते और पुत्र-पौत्रादिरूपसे बहुधा विस्तारको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

तस्मादेतद् वर्जनीयं नरेन्द्र
दुष्टं लोके गर्हणीयं च कर्म ।
आख्यातं ते पार्थिव सर्वमेव
भूयश्चेदानीं वद किं ते वदामि ॥ ५ ॥

इसलिये नरेन्द्र ! इस लोकमें जो दुष्ट और निन्दनीय कर्म हो उसको सर्वथा त्याग देना चाहिये । भूपाल ! मैंने तुमसे सब कुछ कह दिया, बोलो, अब और तुम्हें क्या बताऊँ? ॥ ५ ॥

अष्टक उवाच

यदा तु तान् वितुदन्ते वयांसि
तथा गृध्राः शितिकण्ठाः पतङ्गाः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
न भौममन्यं नरकं शृणोमि ॥ ६ ॥

अष्टकने पूछा—जब मनुष्योंको मृत्युके पश्चात् पक्षी, गीध, नीलकण्ठ और पतङ्ग ये नोच-नोचकर खा लेते हैं, तब वे कैसे और किस रूपमें उत्पन्न होते हैं ? मैंने अबतक भौम नामक किसी दूसरे नरकका नाम नहीं सुना था ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

ऊर्ध्वं देहात् कर्मणा जृम्भमाणाद्
व्यक्तं पृथिव्यामनुसंचरन्ति ।

१. बल शब्दका अर्थ यहाँ कौआ किया गया है; जो 'स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलं ना काकसीरिणोः' अमरकोषके इस वाक्यसे समर्थित होता है ।

इमं भौमं नरकं ते पतन्ति
नावेक्षन्ते वर्षपूगाननेकान् ॥ ७ ॥

ययाति बोले—कर्म उत्पन्न होने और बढ़नेवाले शरीरको पाकर गर्भसे निकलनेके पश्चात् जीव सबके समक्ष इस पृथ्वीपर (विषयोंमें) विचरते हैं। उनका यह विचरण ही भौम नरक कहा गया है। इसीमें वे पड़ते हैं। इसमें पड़नेपर वे व्यर्थ बीतनेवाले अनेक वर्षसमूहोंकी ओर दृष्टिपात नहीं करते॥७॥

षष्टिं सहस्राणि पतन्ति व्योम्नि
तथा अशीतिं परिवत्सराणि ।
तान्वै तुदन्ति पततः प्रपातं
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ॥ ८ ॥

कितने ही प्राणी आकाश (स्वर्गादि) में साठ हजार वर्ष रहते हैं। कुछ अस्सी हजार वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं। इसके बाद वे भूमिपर गिरते हैं। यहाँ उन गिरनेवाले जीवोंको तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके भयानक राक्षस (दुष्ट प्राणी) अत्यन्त पीड़ा देते हैं ॥८॥

अष्टक उवाच

यदेनसस्ते पततस्तुदन्ति
भीमा भौमा राक्षसास्तीक्ष्णदंष्ट्राः ।
कथं भवन्ति कथमाभवन्ति
कथं भूता गर्भभूता भवन्ति ॥ ९ ॥

अष्टकने पूछा—तीखी दाढ़ोंवाले पृथ्वीके वे भयंकर राक्षस पापवश आकाशसे गिरते हुए जिन जीवोंको सताते हैं, वे गिरकर कैसे जीवित रहते हैं ? किस प्रकार इन्द्रिय आदिसे युक्त होते हैं ? और कैसे गर्भमें आते हैं ? ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

अस्रं रेतः पुष्पफलानुपृक्त-
मन्वेति तद् वै पुरुषेण सृष्टम् ।
स वै तस्या रज आपद्यते वै
स गर्भभूतः समुपैति तत्र ॥१०॥

ययाति बोले—अन्तरिक्षसे गिरा हुआ प्राणी अस्र (जल) होता है। फिर वही क्रमशः नूतन शरीरका बीजभूत वीर्य बन जाता है। वह वीर्य फूल और फलरूपी शेष कर्मोंसे संयुक्त होकर तदनुरूप योनिका अनुसरण करता है। गर्भाधान करनेवाले पुरुषके द्वारा स्त्रीसंसर्ग होनेपर वह वीर्यमें आविष्ट हुआ जीव उस स्त्रीके रजसे मिल जाता है। तदनन्तर वही गर्भरूपमें परिणत हो जाता है ॥ १० ॥

वनस्पतीनोषधीश्चाविशन्ति
अपो वायुं पृथिवीं चान्तरिक्षम् ।
चतुष्पदं द्विपदं चापि सर्व-
मेवम्भूता गर्भभूता भवन्ति ॥११॥

जीव जलरूपसे गिरकर वनस्पतियों और ओषधियोंमें प्रवेश करते हैं। जल, वायु, पृथ्वी और अन्तरिक्ष आदिमें प्रवेश करते हुए कर्मानुसार पशु अथवा मनुष्य सब कुछ होते हैं। इस प्रकार भूमिपर आकर फिर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार फिर गर्भवासको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

अन्यद् वपुर्विदधातीह गर्भ-
मुताहोस्वित् स्वेन कायेन याति ।
आपद्यमानो नरयोनिमेता-
माचक्ष्व मे संशयात् प्रब्रवीमि ॥१२॥

अष्टकने पूछा—राजन् ! इस मनुष्ययोनिमें आनेवाला जीव अपने इसी शरीरसे गर्भमें आता है या दूसरा शरीर धारण करता है। आप यह रहस्य मुझे बताइये। मैं संशय होनेके कारण पूछता हूँ ॥ १२ ॥

शरीरभेदाभिसमुच्छ्रयं च
चक्षुःश्रोत्रे लभते केन संज्ञाम् ।
एतत् तत्त्वं सर्वमाचक्ष्व पृष्टः
क्षेत्रज्ञं त्वां तात मन्याम सर्वे ॥१३॥

गर्भमें आनेपर भिन्न-भिन्न शरीररूपी आश्रयको, आँख और कान आदि इन्द्रियोंको तथा चेतनाको भी कैसे उपलब्ध करता है ? मेरे पूछनेपर ये सब बातें आप बताइये। तात ! हम सबलोग आपको क्षेत्रज्ञ (आत्मज्ञानी) मानते हैं ॥ १३ ॥

ययातिरुवाच

वायुः समुत्कर्षति गर्भयोनि-
मृतौ रेतः पुष्परसानुपृक्तम् ।
स तत्र तन्मात्रकृताधिकारः
क्रमेण संवर्धयतीह गर्भम् ॥१४॥

ययाति बोले—ऋतुकालमें पुष्परससे संयुक्त वीर्यको वायु गर्भाशयमें खींच लाता है। वहाँ गर्भाशयमें सूक्ष्मभूत उसपर अधिकार कर लेते हैं और वह क्रमशः गर्भकी वृद्धि करता रहता है ॥ १४ ॥

स जायमानो विगृहीतमात्रः
संज्ञामधिष्ठाय ततो मनुष्यः ।
स श्रोत्राभ्यां वेदयतीह शब्दं
स वै रूपं पश्यति चक्षुषा च ॥१५॥

वह गर्भ बढ़कर जब सम्पूर्ण अवयवोंसे सम्पन्न हो जाता है, तब चेतनताका आश्रय ले योनिसे बाहर निकलकर मनुष्य कहलाता है। वह कानोंसे शब्द सुनता है, आँखोंसे रूप देखता है ॥ १५ ॥

घ्राणेन गन्धं जिह्वयाथो रसं च
त्वचा स्पर्शं मनसा वेद भावम् ।

इत्यष्टकेहोपहितं हि विद्धि
महात्मनां प्राणभृतां शरीरे ॥१६॥

नासिकासे सुगन्ध लेता है। जिह्वासे रसका आस्वादन करता है। त्वचासे स्पर्श और मनसे आन्तरिक भावोंका अनुभव करता है। अष्टक ! इस प्रकार महात्मा प्राणधारियोंके शरीरमें जीवकी स्थापना होती है ॥ १६ ॥

अष्टक उवाच

यः संस्थितः पुरुषो दह्यते वा
निखन्यते वापि निकृष्यते वा ।
अभावभूतः स विनाशमेत्य
केनात्मना चेतयते परस्तात् ॥१७॥

अष्टकने पूछा—जो मनुष्य मर जाता है, वह जलाया जाता है या गाड़ दिया जाता है अथवा जलमें बहा दिया जाता है। इस प्रकार विनाश होकर स्थूल शरीरका अभाव हो जाता है। फिर वह चेतन जीवात्मा किस शरीरके आधारपर रहकर चैतन्ययुक्त व्यवहार करता है ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

हित्वा सोऽसून् सुप्तवन्निष्टनित्वा
पुरोधाय सुकृतं दुष्कृतं वा ।
अन्यां योनिं पवनाग्रानुसारी
हित्वा देहं भजते राजसिंह ॥१८॥

ययाति बोले—राजसिंह ! जैसे मनुष्य श्वास लेते हुए प्राणयुक्त स्थूल शरीरको छोड़कर स्वप्नमें विचरण करता है, वैसे ही यह चेतन जीवात्मा अस्फुट शब्दोच्चारणके साथ इस मृतक स्थूल शरीरको त्यागकर सूक्ष्म शरीरसे संयुक्त होता है और फिर अथवा पापको आगे रखकर वायुके समान वेगसे चलता हुआ अन्य योनिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

पुण्यां योनिं पुण्यकृतो व्रजन्ति
पापां योनिं पापकृतो व्रजन्ति ।
कीटाः पतङ्गाश्च भवन्ति पापा
न मे विवक्षास्ति महानुभाव ॥१९॥
चतुष्पदा द्विपदाः षट्पदाश्च
तथाभूता गर्भभूता भवन्ति ।
आख्यातमेतन्निखिलेन सर्वं
भूयस्तु किं पृच्छसि राजसिंह ॥२०॥

पुण्य करनेवाले मनुष्य पुण्य-योनियोंमें जाते हैं और पाप करनेवाले मनुष्य पाप-योनिमें जाते हैं। इस प्रकार पापी जीव कीट-पतङ्ग आदि होते हैं। महानुभाव ! इन सब विषयोंको विस्तारके साथ कहनेकी इच्छा नहीं होती। नृपश्रेष्ठ ! इसी प्रकार जीव गर्भमें आकर चार पैर, छः पैर और दो पैरवाले प्राणियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यह सब मैंने पूरा-पूरा बता दिया। अब और क्या पूछना चाहते हो ? ॥ १९-२० ॥

अष्टक उवाच

किंस्वित् कृत्वा लभते तात लोकान्
मर्त्यः श्रेष्ठांस्तपसा विद्यया वा ।
तन्मे पृष्टः शंस सर्वं यथाव-
च्छुभाँल्लोकान् येन गच्छेत् क्रमेण ॥२१॥

अष्टकने पूछा—तात ! मनुष्य कौन-सा कर्म करके उत्तम लोक प्राप्त करता है ? वे लोक तपसे प्राप्त होते हैं या विद्यासे ? मैं यही पूछता हूँ। जिस कर्मके द्वारा क्रमशः श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति हो सके, वह सब यथार्थरूपसे बताइये ॥

ययातिरुवाच

तपश्च दानं च शमो दमश्च
ह्रीरार्जवं सर्वभूतानुकम्पा ।
स्वर्गस्य लोकस्य वदन्ति सन्तो
द्वाराणि सप्तैव महान्ति पुंसाम् ।
नश्यन्ति मानेन तमोऽभिभूताः
पुंसः सदैवेति वदन्ति सन्तः ॥२२॥

ययाति बोले— राजन् ! साधु पुरुष स्वर्गलोकके सात महान् दरवाजे बतलाते हैं, जिनसे प्राणी उसमें प्रवेश करते हैं। उनके नाम ये हैं — तप, दान, शम, दम, लज्जा, सरलता और समस्त प्राणियोंके प्रति दया। वे तप आदि द्वार सदा ही पुरुषके अभिमानरूप तमसे आच्छादित होनेपर नष्ट हो जाते हैं, यह संत पुरुषोंका कथन है ॥ २२ ॥

अधीयानः पण्डितं मन्यमानो
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम् ।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका
न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥२३॥

जो वेदोंका अध्ययन करके अपनेको सबसे बड़ा पण्डित मानता और अपनी विद्याद्वारा दूसरोंके यशका नाश करता है, उसके पुण्यलोक अन्तवान् (विनाशशील) होते हैं और उसका पढ़ा हुआ वेद भी उसे फल नहीं देता ॥ २३ ॥

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि
भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥२४॥

अग्निहोत्र, मौन, अध्ययन और यज्ञ—ये चार कर्म मनुष्यको भयसे मुक्त करनेवाले हैं; परंतु वे ही ठीकसे न किये जायँ, अभिमानपूर्वक उनका अनुष्ठान किया जाय तो वे उलटे भय प्रदान करते हैं ॥ २४ ॥

न मानमान्यो मुदमाददीत
न संतापं प्राप्नुयाच्चावमानात् ।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके
नासाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते ॥२५॥

विद्वान् पुरुष सम्मानित होनेपर अधिक आनन्दित न हो और अपमानित होनेपर संतप्त न हो। इस लोकमें संत पुरुष ही सत्पुरुषोंका आदर करते हैं। दुष्ट पुरुषोंको 'यह सत्पुरुष है' ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती ॥ २५ ॥

इति दद्यामिति यज इत्यधीय इति व्रतम्।
इत्येतानि भयान्याहुस्तानि वर्ज्यानि सर्वशः ॥ २६ ॥

मैं यह दे सकता हूँ, इस प्रकार यजन करता हूँ, इस तरह स्वाध्यायमें लगा रहता हूँ और यह मेरा व्रत है; इस प्रकार जो अहंकारपूर्वक वचन हैं, उन्हें भयरूप कहा गया है। ऐसे वचनोंको सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ २६ ॥

ये चाश्रयं वेदयन्ते पुराणं
मनीषिणो मानसमार्गरुद्धम्।
तद्वः श्रेयस्तेन संयोगमेत्य
परां शान्तिं प्राप्नुयुः प्रेत्य चेह ॥ २७ ॥

जो सबका आश्रय है, पुराण (कूटस्थ) है तथा जहाँ मनकी गति भी रुक जाती है वह (परब्रह्म परमात्मा) तुम सब लोगोंके लिये कल्याणकारी हो। जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे उस परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होकर इहलोक और परलोकमें परम शान्तिको प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

ययाति और अष्टकका आश्रमधर्मसम्बन्धी संवाद

अष्टक उवाच

चरन् गृहस्थः कथमेति धर्मान्
कथं भिक्षुः कथमाचार्यकर्मा।
वानप्रस्थः सत्पथे संनिविष्टो
बहून्यस्मिन् सम्प्रति वेदयन्ति ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—महाराज! वेदज्ञ विद्वान् इस धर्मके अन्तर्गत बहुत-से कर्मोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका द्वार बताते हैं; अतः मैं पूछता हूँ, आचार्यकी सेवा करनेवाला ब्रह्मचारी, गृहस्थ, सन्मार्गमें स्थित वानप्रस्थ और संन्यासी किस प्रकार धर्माचरण करके उत्तम लोकमें जाता है? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः
पूर्वोत्थायी चरमं चोपशायी।
मृदुर्दान्तो धृतिमानप्रमत्तः
स्वाध्यायशीलः सिध्यति ब्रह्मचारी ॥ २ ॥

ययाति बोले—शिष्यको उचित है कि गुरुके बुलानेपर उसके समीप जाकर पढ़े। गुरुकी सेवामें बिना कहे लगा रहे, रातमें गुरुजीके सो जानेके बाद सोवे और सबेरे उनसे पहले ही उठ जाय। वह मृदुल (विनम्र), जितेन्द्रिय, धैर्यवान्, सावधान और स्वाध्यायशील हो। इस नियमसे रहनेवाला ब्रह्मचारी सिद्धिको पाता है ॥ २ ॥

धर्मागतं प्राप्य धनं यजेत
दद्यात् सदैवातिथीन् भोजयेच्च।
अनाददानश्च परैरदत्तं
सैषा गृहस्थोपनिषत् पुराणी ॥ ३ ॥

गृहस्थ पुरुष न्यायसे प्राप्त हुए धनको पाकर उससे यज्ञ करे, दान दे और सदा अतिथियोंको भोजन करावे। दूसरोंकी वस्तु उनके दिये बिना ग्रहण नहीं करे। यह गृहस्थ-धर्मका प्राचीन एवं रहस्यमय स्वरूप है ॥ ३ ॥

स्ववीर्यजीवी वृजिनान्निवृत्तो
दाता परेभ्यो न परोपतापी।
तादृङ्मुनिः सिद्धिमुपैति मुख्यां
वसन्नरण्ये नियताहारचेष्टः ॥ ४ ॥

वानप्रस्थ मुनि वनमें निवास करे। आहार और विहारको नियमित रक्खे। अपने ही पराक्रम एवं परिश्रमसे जीवन-निर्वाह करे, पापसे दूर रहे। दूसरोंको दान दे और किसीको कष्ट न पहुँचावे। ऐसा मुनि परम मोक्षको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अशिल्पजीवी गुणवांश्चैव नित्यं
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रयुक्तः।
अनोकशायी लघुरल्पप्रचार-
श्चरन् देशानेकचरः स भिक्षुः ॥ ५ ॥

संन्यासी शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह न करे। शम, दम आदि श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो। सदा अपनी इन्द्रियोंको काबूमें रक्खे। सबसे अलग रहे। गृहस्थके घरमें न सोये। परिग्रहका भार न लेकर अपनेको हल्का रक्खे। थोड़ा-थोड़ा चले। अकेला ही अनेक स्थानोंमें भ्रमण करता रहे। ऐसा संन्यासी ही वास्तवमें भिक्षु कहलाने योग्य है ॥ ५ ॥

रात्र्या यया वाभिजिताश्च लोका
भवन्ति कामाभिजिताः सुखाश्च।
तामेव रात्रिं प्रयतेत विद्वा-
नरण्यसंस्थो भवितुं यतात्मा ॥ ६ ॥

जिस समय रूप, रस आदि विषय तुच्छ प्रतीत होने लगें, इच्छानुसार जीत लिये जायँ तथा उनके परित्यागमें ही सुख जान पड़े, उसी समय विद्वान् पुरुष मनको वशमें करके समस्त संग्रहोंका त्याग कर वनवासी होनेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

दशैव पूर्वान् दश चापरांश्च
ज्ञातीनथात्मानमथैकविंशम् ।
अरण्यवासी सुकृते दधाति
विमुच्यारण्ये स्वशरीरधातून् ॥ ७ ॥

जो वनवासी मुनि वनमें ही अपने पञ्चभूतात्मक शरीरका परित्याग करता है, वह दस पीढ़ी पूर्वके और दस पीढ़ी बादके जाति-भाइयोंको तथा इक्कीसवें अपनेको भी पुण्यलोकोंमें पहुँचा देता है ॥ ७ ॥

अष्टक उवाच

कतिस्विदेव मुनयः कति मौनानि चाप्युत ।
भवन्तीति तदाचक्ष्व श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ ८ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! मुनि कितने हैं? और मौन कितने प्रकारके हैं? यह बताइये, हम इसे सुनना चाहते हैं॥८॥

ययातिरुवाच

अरण्ये वसतो यस्य ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं स मुनिः स्याज्जनाधिप ॥ ९ ॥

ययातिने कहा—जनेश्वर! अरण्यमें निवास करते समय जिसके लिये ग्राम पीछे होता है और ग्राममें वास करते समय जिसके लिये अरण्य पीछे होता है, वह मुनि कहलाता है ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

कथंस्विद् वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ।
ग्रामे वा वसतोऽरण्यं कथं भवति पृष्ठतः ॥ १० ॥

अष्टकने पूछा—अरण्यमें निवास करनेवालेके लिये ग्राम और ग्राममें निवास करनेवालेके लिये अरण्य पीछे कैसे है? ॥१०॥

ययातिरुवाच

न ग्राम्यमुपयुञ्जीत य आरण्यो मुनिर्भवेत् ।
तथास्य वसतोऽरण्ये ग्रामो भवति पृष्ठतः ॥ ११ ॥

ययातिने कहा—जो मुनि वनमें निवास करता है और गाँवोंमें प्राप्त होनेवाली वस्तुओंका उपयोग नहीं करता, इस प्रकार वनमें निवास करनेवाले उस (वानप्रस्थ) मुनिके लिये गाँव पीछे समझा जाता है ॥ ११ ॥

अनग्निरनिकेतश्चाप्यगोत्रचरणो मुनिः ।
कौपीनाच्छादनं यावत् तावदिच्छेच्च चीवरम् ॥ १२ ॥
यावत् प्राणाभिसंधानं तावदिच्छेच्च भोजनम् ।
तथास्य वसतो ग्रामेऽरण्यं भवति पृष्ठतः ॥ १३ ॥

जो अग्नि और गृहको त्याग चुका है, जिसका गोत्र और चरण (वेदकी शाखा एवं जाति) से भी सम्बन्ध नहीं रह गया है, जो मौन रहता और उतने ही वस्त्रकी इच्छा रखता है जितनेसे लंगोटी और ओढ़नेका काम चल जाय; इसी प्रकार जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके उतना ही भोजन चाहता है; इस नियमसे गाँवमें निवास करनेवाले उस (संन्यासी) मुनिके लिये अरण्य पीछे समझा जाता है ॥ १२-१३ ॥

यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः ।
आतिष्ठेच्च मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥ १४ ॥

जो मुनि सम्पूर्ण कामनाओंको छोड़कर कर्मोंको त्याग चुका है और इन्द्रिय-संयमपूर्वक सदा मौनमें स्थित है, ऐसा संन्यासी लोकमें परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

धौतदन्तं कृत्तनखं सदा स्नातमलंकृतम् ।
असितं सितकर्माणं कस्तमर्हति नार्चितुम् ॥ १५ ॥

जिसके दाँत शुद्ध और साफ हैं जिसके नख (और केश) कटे हुए हैं जो सदा स्नान करता है तथा यम-नियमादिसे अलंकृत है, (उन्हें धारण किये हुए है,) शीतोष्णको सहनेसे जिसका शरीर श्याम पड़ गया है, जिसके आचरण उत्तम हैं—ऐसा संन्यासी किसके लिये पूजनीय नहीं है? ॥ १५ ॥

तपसा कर्शितः क्षामः क्षीणमांसास्थिशोणितः ।
स च लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १६ ॥

तपस्यासे मांस, हड्डी तथा रक्तके क्षीण हो जानेपर जिसका शरीर कृश और दुर्बल हो गया है, वह (वानप्रस्थ) मुनि इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है॥ १६ ॥

यदा भवति निर्द्वन्द्वो मुनिर्मौनं समास्थितः ।
अथ लोकमिमं जित्वा लोकं विजयते परम् ॥ १७ ॥

जब (वानप्रस्थ) मुनि सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित एवं भलीभाँति मौनावलम्बी हो जाता है, तब वह इस लोकको जीतकर परलोकपर भी विजय पाता है ॥१७॥

आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
अथास्य लोकः सर्वोऽयं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १८ ॥

जब संन्यासी मुनि गाय-बैलोंकी तरह मुखसे ही आहार ग्रहण करता है, हाथ आदिका भी सहारा नहीं लेता, तब उसके द्वारा ये सब लोक जीत लिये गये समझे जाते हैं और वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये समर्थ समझा जाता है ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

अष्टक-ययाति-संवाद और ययातिद्वारा दूसरोंके दिये हुए पुण्यदानको अस्वीकार करना

अष्टक उवाच

कतरस्त्वनयोः पूर्वं देवानामेति सात्मताम्।
उभयोर्धावतो राजन् सूर्याचन्द्रमसोरिव ॥ १ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! सूर्य और चन्द्रमाकी तरह अपने-अपने लक्ष्यकी ओर दौड़ते हुए वानप्रस्थ और संन्यासी इन दोनोंमेंसे पहले कौन-सा देवताओंके आत्मभाव (ब्रह्म) को प्राप्त होता है? ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

अनिकेतो गृहस्थेषु कामवृत्तेषु संयतः।
ग्राम एव वसन् भिक्षुस्तयोः पूर्वतरं गतः ॥ २ ॥

ययाति बोले—कामवृत्तिवाले गृहस्थोंके बीच ग्राममें ही वास करते हुए भी जो जितेन्द्रिय और गृहरहित संन्यासी है, वही उन दोनों प्रकारके मुनियोंमें पहले ब्रह्मभावको प्राप्त होता है॥

अवाप्य दीर्घमायुस्तु यः प्राप्तो विकृतिं चरेत्।
तप्यते यदि तत् कृत्वा चरेत् सोऽन्यत् तपस्ततः॥ ३ ॥

जो वानप्रस्थ बड़ी आयु पाकर भी विषयोंके प्राप्त होनेपर उनसे विकृत हो उन्हींमें विचरने लगता है, उसे यदि विषयोपभोगके अनन्तर पश्चात्ताप होता है तो उसे मोक्षके लिये पुनः तपका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३ ॥

पापानां कर्मणां नित्यं बिभियाद् यस्तु मानवः।
सुखमप्याचरन् नित्यं सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ ४ ॥

किंतु जो वानप्रस्थ मनुष्य पापकर्मोंसे नित्य भय करता है और सदा अपने धर्मका आचरण करता है, वह अत्यन्त सुखरूप मोक्षको अनायास ही प्राप्त कर लेता है ॥ ४ ॥

तद् वै नृशंसं तदसत्यमाहु-
र्यः सेवतेऽधर्ममनर्थबुद्धिः।
अर्थोऽप्यनीशस्य तथैव राजं-
स्तदार्जवं स समाधिस्तदार्यम् ॥ ५ ॥

राजन्! जो पापबुद्धिवाला मनुष्य अधर्मका आचरण करता है, उसका वह आचरण नृशंस (पापमय) और असत्य कहा गया है एवं उस अजितेन्द्रियका धन भी वैसा ही पापमय और असत्य है। परंतु वानप्रस्थ मुनिका जो धर्मपालन है, वही सरलता है, वही समाधि है और वही श्रेष्ठ आचरण है ॥ ५ ॥

अष्टक उवाच

केनासि दूतः प्रहितोऽसि राजन्
युवा स्रग्वी दर्शनीयः सुवर्चाः।
कुत आयातः कतरस्यां दिशि त्व-
मुताहोस्वित् पार्थिवं स्थानमस्ति ॥ ६ ॥

अष्टकने पूछा—राजन्! आपको यहाँ किसने बुलाया! किसने भेजा है? आप अवस्थामें तरुण, फूलोंकी मालासे सुशोभित, दर्शनीय तथा उत्तम तेजसे उद्भासित जान पड़ते हैं। आप कहाँसे आये हैं? किस दिशामें भेजे गये हैं? अथवा क्या आपके लिये इस पृथ्वीपर कोई उत्तम स्थान है? ॥६॥

ययातिरुवाच

इमं भौमं नरकं क्षीणपुण्यः
प्रवेष्टुमुर्वीं गगनाद् विप्रहीणः।
उक्त्वाहं वः प्रपतिष्याम्यनन्तरं
त्वरन्ति मां लोकपा ब्रह्मणो ये ॥ ७ ॥

ययातिने कहा—मैं अपने पुण्यका क्षय होनेसे भौम नरकमें प्रवेश करनेके लिये आकाशसे गिर रहा हूँ। ब्रह्माजीके जो लोकपाल हैं, वे मुझे गिरनेके लिये जल्दी मचा रहे हैं; अतः आपलोगोंसे पूछकर विदा लेकर इस पृथ्वीपर गिरूँगा ॥ ७ ॥

सतां सकाशे तु वृतः प्रपात-
स्ते संगता गुणवन्तस्तु सर्वे।
शक्राच्च लब्धो हि वरो मयैष
पतिष्यता भूमितलं नरेन्द्र ॥ ८ ॥

नरेन्द्र! मैं जब इस पृथ्वीतलपर गिरनेवाला था, उस समय मैंने इन्द्रसे यह वर माँगा था कि मैं साधु पुरुषोंके समीप गिरूँ। वह वर मुझे मिला, जिसके कारण आप सब सद्गुणी संतोंका सङ्ग प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥

अष्टक उवाच

पृच्छामि त्वां मा प्रपत प्रपातं
यदि लोकाः पार्थिव सन्ति मेऽत्र।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि स्थिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ९ ॥

अष्टक बोले—महाराज! मेरा विश्वास है कि आप पारलौकिक धर्मके ज्ञाता हैं। मैं आपसे एक बात पूछता हूँ—क्या अन्तरिक्ष या स्वर्गलोकमें मुझे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोक भी हैं? यदि हों तो (उनके प्रभावसे) आप नीचे न गिरें, आपका पतन न हो ॥ ९ ॥

ययातिरुवाच

यावत् पृथिव्यां विहितं गवाश्वं
सहारण्यैः पशुभिः पार्वतैश्च।

तावल्लोका दिवि ते संस्थिता वै
तथा विजानीहि नरेन्द्रसिंह ॥ १० ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्रसिंह ! इस पृथ्वीपर जंगली और पर्वतीय पशुओंके साथ जितने गाय, घोड़े आदि पशु रहते हैं, स्वर्गमें तुम्हारे लिये उतने ही लोक विद्यमान हैं। तुम इसे निश्चय जानो ॥ १० ॥

अष्टक उवाच

तांस्ते ददामि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोका दिवि राजेन्द्र सन्ति।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ ११ ॥

अष्टक बोले—राजेन्द्र ! स्वर्गमें मेरे लिये जो लोक विद्यमान हैं, वे सब आपको देता हूँ; परंतु आपका पतन न हो। अन्तरिक्ष या द्युलोकमें मेरे लिये जो स्थान हैं, उनमें आप शीघ्र ही मोहरहित होकर चले जायँ ॥ ११ ॥

ययातिरुवाच

नास्मद्विधो ब्राह्मणो ब्रह्मविच्च
प्रतिग्रहे वर्तते राज्यमुख्य।
यथा प्रदेयं सततं द्विजेभ्य-
स्तथाददं पूर्वमहं नरेन्द्र ॥ १२ ॥

ययातिने कहा—नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ही प्रतिग्रह लेता है। मेरे-जैसा क्षत्रिय कदापि नहीं। नरेन्द्र ! जैसे दान करना चाहिये, उस विधिसे पहले मैंने भी सदा उत्तम ब्राह्मणोंको बहुत दान दिये हैं ॥ १२ ॥

नाब्राह्मणः कृपणो जातु जीवेद्
याच्ञापि स्याद् ब्राह्मणी वीरपत्नी।
सोऽहं नैवाकृतपूर्वं चरेयं
विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ १३ ॥

जो ब्राह्मण नहीं है, उसे दीन याचक बनकर कभी जीवन नहीं बिताना चाहिये। याचना तो विद्यासे दिग्विजय करनेवाले विद्वान् ब्राह्मणकी पत्नी है अर्थात् ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणको ही याचना करनेका अधिकार है ! मुझे उत्तम सत्कर्म करनेकी इच्छा है; अतः ऐसा कोई कार्य कैसे कर सकता हूँ, जो पहले कभी नहीं किया हो ॥ १३ ॥

प्रतर्दन उवाच

पृच्छामि त्वां स्पृहणीयरूप
प्रतर्दनोऽहं यदि मे सन्ति लोकाः।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १४ ॥

प्रतर्दन बोले—वाञ्छनीय रूपवाले श्रेष्ठ पुरुष ! मैं प्रतर्दन हूँ और आपसे पूछता हूँ, यदि अन्तरिक्ष अथवा स्वर्गमें मेरे भी लोक हों तो बताइये। मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सन्ति लोका बहवस्ते नरेन्द्र
अप्येकैकः सप्तसप्ताप्यहानि।
मधुच्युतो घृतपृक्ता विशोका-
स्ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ १५ ॥

ययातिने कहा—नरेन्द्र ! आपके तो बहुत लोक हैं, यदि एक-एक लोकमें सात-सात दिन रहा जाय तो भी उनका अन्त नहीं है। वे सब-के-सब अमृतके झरने बहाते हैं एवं घृत (तेज) से युक्त हैं। उनमें शोकका सर्वथा अभाव है। वे सभी लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रतर्दन उवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिता-
स्तानाक्रम क्षिप्रमपेतमोहः ॥ १६ ॥

प्रतर्दन बोले—महाराज ! वे सभी लोक मैं आपको देता हूँ, आप नीचे न गिरें। जो मेरे लोक हैं वे सब आपके हो जायँ। वे अन्तरिक्षमें हों या स्वर्गमें, आप शीघ्र मोहरहित होकर उनमें चले जाइये ॥ १६ ॥

ययातिरुवाच

न तुल्यतेजाः सुकृतं कामयेत
योगक्षेमं पार्थिव पार्थिवः सन्।
दैवादेशादापदं प्राप्य विद्वां-
श्चरेन्नृशंसं न हि जातु राजा ॥ १७ ॥

ययातिने कहा—राजन् ! कोई भी राजा समान तेजस्वी होकर दूसरेसे पुण्य तथा योग-क्षेमकी इच्छा न करे। विद्वान् राजा दैववश भारी आपत्तिमें पड़ जानेपर भी कोई पापमय कार्य न करे ॥ १७ ॥

धर्म्यं मार्गं यतमानो यशस्यं
कुर्यान्नृपो धर्ममवेक्षमाणः।
न मद्विधो धर्मबुद्धिः प्रजानन्
कुर्यादेवं कृपणं मां यथाऽऽत्थ ॥ १८ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले राजाको उचित है कि वह प्रयत्नपूर्वक धर्म और यशके मार्गपर ही चले। जिसकी बुद्धि धर्ममें लगी हो उस मेरे-जैसे मनुष्यको जान-बूझकर ऐसा दीनता-पूर्ण कार्य नहीं करना चाहिये, जिसके लिये आप मुझसे कह रहे हैं ॥ १८ ॥

कुर्यामपूर्वं न कृतं यदन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ।
(धर्माधर्मौ सुविनिश्चित्य सम्यक्
कार्याकार्येष्वप्रमत्तश्चरेद् यः ।
स वै धीमान् सत्यसन्धः कृतात्मा
राजा भवेल्लोकपालो महिम्ना ॥
यदा भवेत् संशयो धर्मकार्ये
कामार्थे वा यत्र विन्दन्ति सम्यक् ।
कार्यं तत्र प्रथमं धर्मकार्यं
न तौ कुर्यादर्थकामौ स धर्मः ॥)

ब्रुवाणमेनं नृपतिं ययातिं
नृपोत्तमो वसुमानब्रवीत् तम् ॥ १९ ॥

जो शुभ कर्म करनेकी इच्छा रखता है, वह ऐसा का नहीं कर सकता, जिसे अन्य राजाओंने नहीं किया हो। जो धर्म और अधर्मका भलीभाँति निश्चय करके कर्तव्य और अकर्तव्यके विषयमें सावधान होकर विचरता है, वही राजा बुद्धिमान्, सत्यप्रतिज्ञ और मनस्वी है। वह अपनी महिमासे लोकपाल होता है। जब धर्मकार्यमें संशय है अथवा जहाँ न्यायतः काम और अर्थ दोनों आकर प्राप्त हों वहाँ पहले धर्मकार्यका ही सम्पादन करना चाहिये, अर्थ और कामका नहीं। यही धर्म है। इस प्रकारकी बातें कहनेवा राजा ययातिसे नृपश्रेष्ठ वसुमान् बोले ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायाते द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस तरह श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायात-विषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

(इस अध्यायमें १९ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल २१ श्लोक हैं)

त्रिनवतितमोऽध्यायः

राजा ययातिका वसुमान् और शिबिके प्रतिग्रहको अस्वीकार करना तथा अष्टक आदि चारों राजाओंके साथ स्वर्गमें जाना

वसुमानुवाच

पृच्छामि त्वां वसुमानौषदश्वि-
र्यद्यस्ति लोको दिवि मे नरेन्द्र ।
यद्यन्तरिक्षे प्रथितो महात्मन्
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ १ ॥

वसुमान्‌ने कहा—नरेन्द्र ! मैं उषदश्वका पुत्र वसुमान् हूँ और आपसे पूछ रहा हूँ। यदि स्वर्ग या अन्तरिक्षमें मेरे लिये भी कोई विख्यात लोक हों तो बताइये। महात्मन् ! मैं आपको पारलौकिक धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ १ ॥

ययातिरुवाच

यदन्तरिक्षं पृथिवी दिशश्च
यत्तेजसा तपते भानुमांश्च ।
लोकास्तावन्तो दिवि संस्थिता वै
ते नान्तवन्तः प्रतिपालयन्ति ॥ २ ॥

ययातिने कहा—राजन् ! पृथ्वी, आकाश और दिशाओंके जितने प्रदेशको सूर्यदेव अपनी किरणोंसे तपाते और प्रकाशित करते हैं; उतने लोक तुम्हारे लिये स्वर्गमें स्थित हैं। वे अन्तवान् न होकर चिरस्थायी हैं और आपकी प्रतीक्षा करते हैं।

वसुमानुवाच

तांस्ते ददानि मा प्रपत प्रपातं
ये मे लोकास्तव ते वै भवन्तु ।
क्रीणीष्वैतांस्तृणकेनापि राजन्
प्रतिग्रहस्ते यदि धीमन् प्रदुष्टः ॥ ३ ॥

वसुमान् बोले—राजन् ! वे सभी लोक मैं आ लिये देता हूँ, आप नीचे न गिरें। मेरे लिये जितने पुण्यलो हैं, वे सब आपके हो जायँ। धीमन् ! यदि आपको प्रति लेनेमें दोष दिखायी देता हो तो एक मुट्ठा तिनका मूल्यके रूपमें देकर मेरे इन सभी लोकोंको खरीद लें ॥ ३

ययातिरुवाच

न मिथ्याहं विक्रयं वै स्मरामि
वृथा गृहीतं शिशुकाच्छङ्कमानः ।
कुर्यां न चैवाकृतपूर्वमन्यै-
र्विधित्समानः किमु तत्र साधु ॥ ४

ययातिने कहा—मैंने इस प्रकार कभी झूठ-मूठ खरीद-बिक्री की हो अथवा छलपूर्वक व्यर्थ कोई वस्तु हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। मैं कालचक्रसे शङ्कित रह हूँ। जिसे पूर्ववर्ती अन्य महापुरुषोंने नहीं किया वह कार्य भी नहीं कर सकता हूँ; क्योंकि मैं सत्कर्म करना चाहता हूँ

वसुमानुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
अहं न तान् वै प्रतिगन्ता नरेन्द्र
सर्वे लोकास्तव ते वै भवन्तु ॥ ५

वसुमान् बोले—राजन् ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वतः अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये । नरेन्द्र ! निश्चय जानिये, मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा । वे सब आपके ही अधिकारमें रहें ॥ ५ ॥

शिबिरुवाच

पृच्छामि त्वां शिबिरौशीनरोऽहं
ममापि लोका यदि सन्तीह तात ।
यद्यन्तरिक्षे यदि वा दिवि श्रिताः
क्षेत्रज्ञं त्वां तस्य धर्मस्य मन्ये ॥ ६ ॥

शिबिने कहा—तात ! मैं उशीनरका पुत्र शिबि आपसे पूछता हूँ । यदि अन्तरिक्ष या स्वर्गमें मेरे भी पुण्यलोक हों, तो बताइये; क्योंकि मैं आपको उक्त धर्मका ज्ञाता मानता हूँ ॥ ६ ॥

ययातिरुवाच

यत् त्वं वाचा हृदयेनापि साधून्
परीप्समानान् नावमंस्था नरेन्द्र ।
तेनानन्ता दिवि लोकाः श्रितास्ते
विद्युद्रूपाः स्वनवन्तो महान्तः ॥ ७ ॥

ययाति बोले—नरेन्द्र ! जो-जो साधु पुरुष तुमसे कुछ माँगनेके लिये आये, उनका तुमने वाणीसे कौन कहे, मनसे भी अपमान नहीं किया । इस कारण स्वर्गमें तुम्हारे लिये अनन्त लोक विद्यमान हैं, जो विद्युत्के समान तेजोमय, भाँति-भाँतिके सुमधुर शब्दोंसे युक्त तथा महान् हैं ॥ ७ ॥

शिबिरुवाच

तांस्त्वं लोकान् प्रतिपद्यस्व राजन्
मया दत्तान् यदि नेष्टः क्रयस्ते ।
न चाहं तान् प्रतिपत्स्ये ह दत्त्वा
यत्र गत्वा नानुशोचन्ति धीराः ॥ ८ ॥

शिबिने कहा—महाराज ! यदि आप खरीदना नहीं चाहते तो मेरेद्वारा स्वयं अर्पण किये हुए पुण्यलोकोंको ग्रहण कीजिये । उन सबको देकर निश्चय ही मैं उन लोकोंमें नहीं जाऊँगा । वे लोक ऐसे हैं; जहाँ जाकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करते ॥ ८ ॥

ययातिरुवाच

यथा त्वमिन्द्रप्रतिमप्रभाव-
स्ते चाप्यनन्ता नरदेव लोकाः ।
तथाद्य लोके न रमेऽन्यदत्ते
तस्माच्छिबे नाभिनन्दामि देयम् ॥ ९ ॥

ययाति बोले—नरदेव शिबि ! जिस प्रकार तुम इन्द्रके समान प्रभावशाली हो, उसी प्रकार तुम्हारे वे लोक भी अनन्त हैं; तथापि दूसरेके दिये हुए लोकमें मैं विहार नहीं कर सकता, इसीलिये तुम्हारे दिये हुएका अभिनन्दन नहीं करता ॥ ९ ॥

अष्टक उवाच

न चेदेकैकशो राजँल्लोकान् नः प्रतिनन्दसि ।
सर्वे प्रदाय भवते गन्तारो नरकं वयम् ॥ १० ॥

अष्टकने कहा—राजन् ! यदि आप हममेंसे एक-एकके दिये हुए लोकोंको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण नहीं करते तो हम सब लोग अपने पुण्यलोक आपकी सेवामें समर्पित करके नरक (भूलोक) में जानेको तैयार हैं ॥ १० ॥

ययातिरुवाच

यदर्होऽहं तद् यतध्वं सन्तः सत्याभिनन्दिनः ।
अहं तन्नाभिजानामि यत् कृतं न मया पुरा ॥ ११ ॥

ययाति बोले—मैं जिसके योग्य हूँ, उसीके लिये यत्न करो; क्योंकि साधु पुरुष सत्यका ही अभिनन्दन करते हैं । मैंने पूर्वकालमें जो कर्म नहीं किया, उसे अब भी करने योग्य नहीं समझता ॥ ११ ॥

अष्टक उवाच

कस्यैते प्रतिदृश्यन्ते रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
यानारुह्य नरो लोकानभिवाञ्छति शाश्वतान् ॥ १२ ॥

अष्टकने कहा—आकाशमें ये किसके पाँच सुवर्णमय रथ दिखायी देते हैं, जिनपर आरुढ़ होकर मनुष्य सनातन लोकोंमें जानेकी इच्छा करता है ॥ १२ ॥

ययातिरुवाच

युष्मानेते वहिष्यन्ति रथाः पञ्च हिरण्मयाः ।
उच्चैः सन्तः प्रकाशन्ते ज्वलन्तोऽग्निशिखा इव ॥ १३ ॥

ययाति बोले—ऊपर आकाशमें स्थित प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान जो पाँच सुवर्णमय रथ प्रकाशित हो रहे हैं, ये आपलोगोंको ही स्वर्गमें ले जायँगे ॥ १३ ॥

(वैशम्पायन उवाच)

(एतस्मिन्नन्तरे चैव माधवी तु तपोधना ।
मृगचर्मपरीताङ्गी परिणामे मृगव्रतम् ॥
मृगैः सह चरन्ती सा मृगाहारविचेष्टिता ।
यज्ञवाटं मृगगणैः प्रविश्य भृशविस्मिता ॥
आघ्रायन्ती धूमगन्धं मृगैरेव चचार सा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी समय तपस्विनी माधवी उधर आ निकली । उसने मृगचर्मसे अपने सब अङ्गोंको ढक रक्खा था । वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर वह मृगोंके साथ विचरती हुई मृगव्रतका पालन कर रही थी । उसकी भोजन-सामग्री और चेष्टा मृगोंके ही तुल्य थी । वह मृगोंके झुंडके साथ यज्ञमण्डपमें प्रवेश करके अत्यन्त

विस्मित हुई और यज्ञीय धूमकी सुगन्ध लेती हुई मृगोंके साथ वहाँ विचरने लगी ॥

यज्ञवाटमटन्ती सा पुत्रांस्तानपराजितान् ॥
पश्यन्ती यज्ञमाहात्म्यं मुदं लेभे च माधवी ।

यज्ञशालामें घूम-घूमकर अपने अपराजित पुत्रोंको देखती और यज्ञकी महिमाका अनुभव करती हुई माधवी बहुत प्रसन्न हुई ॥

असंस्पृशन्तं वसुधां ययातिं नाहुषं तदा ॥
दिविष्ठं प्राप्तमाज्ञाय ववन्दे पितरं तदा ।
ततो वसुमनाः पृच्छन् मातरं वै तपस्विनीम् ॥

उसने देखा, स्वर्गवासी नहुषनन्दन महाराज ययाति आये हैं, परंतु पृथ्वीका स्पर्श नहीं कर रहे हैं (आकाशमें ही स्थित हैं) । अपने पिताको पहचानकर माधवीने उन्हें प्रणाम किया । तब वसुमनाने अपनी तपस्विनी मातासे प्रश्न करते हुए कहा ॥

वसुमना उवाच

भवत्या यत् कृतमिदं वन्दनं वरवर्णिनि ।
कोऽयं देवोऽथवा राजा यदि जानासि मे वद ॥

वसुमना बोले—मा ! तुम श्रेष्ठ वर्णकी देवी हो । तुमने इन महापुरुषको प्रणाम किया है । ये कौन हैं ? कोई देवता हैं या राजा ? यदि जानती हो, तो मुझे बताओ ॥

माधव्युवाच

शृणुध्वं सहिताः पुत्रा नाहुषोऽयं पिता मम ।
ययातिर्मम पुत्राणां मातामह इति श्रुतः ॥
पूरुं मे भ्रातरं राज्ये समावेश्य दिवं गतः ।
केन वा कारणेनैव इह प्राप्तो महायशाः ॥

माधवीने कहा—पुत्रो ! तुम सब लोग एक साथ सुन लो—'ये मेरे पिता नहुषनन्दन महाराज ययाति हैं । मेरे पुत्रोंके सुविख्यात मातामह (नाना) ये ही हैं । इन्होंने मेरे भाई पूरुको राज्यपर अभिषिक्त करके स्वर्गलोककी यात्रा की थी; परंतु न जाने किस कारणसे ये महायशस्वी महाराज पुनः यहाँ आये हैं' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा स्थानभ्रष्टेति चाब्रवीत् ।
सा पुत्रस्य वचः श्रुत्वा सम्भ्रमाविष्टचेतना ॥
माधवी पितरं प्राह दौहित्रपरिवारितम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं— राजन् ! माताकी यह बात सुनकर वसुमनाने कहा—मा ! ये अपने स्थानसे भ्रष्ट हो गये हैं । पुत्रका यह वचन सुनकर माधवी भ्रान्तचित्त हो उठी और दौहित्रोंसे घिरे हुए अपने पितासे इस प्रकार बोली॥

माधव्युवाच

तपसा निर्जिताँल्लोकान् प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।
पुत्राणामिव पौत्राणां धर्मादधिगतं धनम् ॥
स्वार्थमेव वदन्तीह ऋषयो वेदपारगाः ।
तस्माद् दानेन तपसा अस्माकं दिवमाव्रज ॥

माधवीने कहा—पिताजी ! मैंने तपस्याद्वारा जि[illegible] लोकोंपर अधिकार प्राप्त किया है, उन्हें आप ग्रहण करें पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति पुत्री और दौहित्रोंका धर्माचरण[illegible] प्राप्त किया हुआ धन भी अपने ही लिये है, यह वेदके[illegible] ऋषि कहते हैं; अतः आप हमलोगोंके दान एवं तपस्याजनि[illegible] पुण्यसे स्वर्गलोकमें जाइये ॥

ययातिरुवाच

यदि धर्मफलं ह्येतच्छोभनं भविता तथा ।
दुहित्रा चैव दौहित्रैस्तारितोऽहं महात्मभिः ॥

ययाति बोले—यदि यह धर्मजनित फल है, तब [illegible] इसका शुभ परिणाम अवश्यम्भावी है । आज मुझे मेरी पु[illegible] तथा महात्मा दौहित्रोंने तारा है ॥

तस्मात् पवित्रं दौहित्रमद्यप्रभृति पैतृके ।
भविष्यति न संदेहः पितॄणां प्रीतिवर्धनम् ॥

इसलिये आजसे पितृ-कर्म (श्राद्ध) में दौहित्र पर[illegible] पवित्र समझा जायगा । इसमें संशय नहीं कि वह पितरों[illegible] हर्ष बढ़ानेवाला होगा ॥

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः ।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम् ॥
भोक्तारः परिवेष्टारः श्रावितारः पवित्रकाः ।

श्राद्धमें तीन वस्तुएँ पवित्र मानी जायँगी—दौहित्र, कुत[illegible] और तिल । साथ ही इसमें तीन गुण भी प्रशंसित होंगे—पवित्र[illegible] अक्रोध और अत्वरा (उतावलेपनका अभाव) । त[illegible] श्राद्धमें भोजन करनेवाले, परोसनेवाले और (वैदिक [illegible] पौराणिक मन्त्रोंका पाठ) सुननेवाले—ये तीन प्रकार[illegible] मनुष्य भी पवित्र माने जायँगे ॥

दिवसस्याष्टमे भागे मन्दीभवति भास्करे ॥
स कालः कुतपो नाम पितॄणां दत्तमक्षयम् ।

दिनके आठवें भागमें जब सूर्यका ताप घटने लगता है उस समयका नाम कुतप है । उसमें पितरोंके लिये दि[illegible] हुआ दान अक्षय होता है ॥

तिलाः पिशाचाद् रक्षन्ति दर्भा रक्षन्ति राक्षसात् ॥
रक्षन्ति श्रोत्रियाः पङ्क्तिं यतिभिर्भुक्तमक्षयम् ।

तिल पिशाचोंसे श्राद्धकी रक्षा करते हैं, कुश राक्ष[illegible]

१. ये वसुमान् नामसे भी प्रसिद्ध थे ।

बचाते हैं, श्रोत्रिय ब्राह्मण पङ्क्तिकी रक्षा करते हैं और यदि यतिगण श्राद्धमें भोजन कर लें, तो वह अक्षय हो जाता है ॥

लब्ध्वा पात्रं तु विद्वांसं श्रोत्रियं सुव्रतं शुचिम् ॥
स कालः कालतो दत्तं नान्यथा काल इष्यते ।

उत्तम व्रतका आचरण करनेवाला पवित्र श्रोत्रिय ब्राह्मण श्राद्धका उत्तम पात्र है । वह जब प्राप्त हो जाय, वही श्राद्धका उत्तम काल समझना चाहिये । उसको दिया हुआ दान उत्तम कालका दान है । इसके सिवा और कोई उपयुक्त काल नहीं है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययातिस्तु पुनः प्रोवाच बुद्धिमान् ।
सर्वे ह्यवभृथस्नातास्त्वरध्वं कार्यगौरवात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं--राजन् ! बुद्धिमान् ययाति उपर्युक्त बात कहकर पुनः अपने दौहित्रोंसे बोले—'तुम सब लोग अवभृथस्नान कर चुके हो । अब महत्त्वपूर्ण कार्यकी सिद्धिके लिये शीघ्र तैयार हो जाओ' ॥

अष्टक उवाच

आतिष्ठस्व रथान् राजन् विक्रमस्व विहायसम् ।
वयमप्यनुयास्यामो यदा कालो भविष्यति ॥१४॥

अष्टक बोले—राजन् ! आप इन रथोंमें बैठिये और आकाशमें ऊपरकी ओर बढ़िये । जब समय होगा, तब हम भी आपका अनुसरण करेंगे ॥ १४ ॥

ययातिरुवाच

सर्वैरिदानीं गन्तव्यं सह स्वर्गजितो वयम् ।
एष नो विरजाः पन्था दृश्यते देवसद्मनः ॥१५॥

ययाति बोले—हम सब लोगोंने साथ-साथ स्वर्गपर विजय पायी है, इसलिये इस समय सबको वहाँ चलना चाहिये । देवलोकका यह रजोहीन सात्त्विक मार्ग हमें स्पष्ट दिखायी दे रहा है ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेऽधिरुह्य रथान् सर्वे प्रयाता नृपसत्तमाः ।
आक्रमन्तो दिवं भाभिर्धर्मेणावृत्य रोदसी ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर वे सभी नृपश्रेष्ठ उन दिव्य रथोंपर आरूढ़ हो धर्मके बलसे स्वर्गमें पहुँचनेके लिये चल दिये । उस समय पृथ्वी और आकाशमें उनकी प्रभा व्याप्त हो रही थी ॥ १६ ॥

(अष्टकश्च शिबिश्चैव काशिराजः प्रतर्दनः ।
ऐक्ष्वाकवो वसुमनाश्चत्वारो भूमिपाश्च ह ॥
सर्वे ह्यवभृथस्नाताः स्वर्गताः साधवः सह ।)

अष्टक, शिबि, काशिराज प्रतर्दन तथा इक्ष्वाकुवंशी वसुमना—ये चारों साधु नरेश यज्ञान्त-स्नान करके एक साथ स्वर्गमें गये ॥

अष्टक उवाच

अहं मन्ये पूर्वमेकोऽस्मि गन्ता
सखा चेन्द्रः सर्वथा मे महात्मा ।
कस्मादेवं शिबिरौशीनरोऽय-
मेकोऽत्यगात् सर्ववेगेन वाहान् ॥१७॥

अष्टक बोले—राजन् ! महात्मा इन्द्र मेरे बड़े मित्र हैं, अतः मैं तो समझता था कि अकेला मैं ही सबसे पहले उनके पास पहुँचूँगा । परंतु ये उशीनरपुत्र शिबि अकेले सम्पूर्ण वेगसे हम सबके वाहनोंको लाँघकर आगे बढ़ गये हैं, ऐसा कैसे हुआ ? ॥ १७ ॥

ययातिरुवाच

अददद् देवयानाय यावद् वित्तमविन्दत ।
उशीनरस्य पुत्रोऽयं तस्माच्छ्रेष्ठो हि वः शिबिः ॥१८॥

ययातिने कहा—राजन् ! उशीनरके पुत्र शिबिने ब्रह्मलोकके मार्गकी प्राप्तिके लिये अपना सर्वस्व दान कर दिया था, इसलिये ये तुम सब लोगोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ १८ ॥

दानं तपः सत्यमथापि धर्मो
ह्रीः श्रीः क्षमा सौम्यमथो विधित्सा ।
राजन्नेतान्यप्रमेयाणि राज्ञः
शिबेः स्थितान्यप्रतिमस्य बुद्ध्या ॥१९॥

नरेश्वर ! दान, तपस्या, सत्य, धर्म, ह्री, श्री, क्षमा, सौम्यभाव और व्रत-पालनकी अभिलाषा—राजा शिबिमें ये सभी गुण अनुपम हैं तथा बुद्धिमें भी उनकी समता करनेवाला कोई नहीं है ॥ १९ ॥

एवंवृत्तो ह्रीनिषेवश्च यस्मात्
तस्माच्छिबिरत्यगाद् वै रथेन ।

राजा शिबि ऐसे सदाचारसम्पन्न और लज्जाशील हैं ! (इनमें अभिमानकी मात्रा छू भी नहीं गयी है ।) इसीलिये शिबि हम सबसे आगे बढ़ गये हैं ।

वैशम्पायन उवाच

अथाष्टकः पुनरेवान्वपृच्छ-
न्मातामहं कौतुकेनेन्द्रकल्पम् ॥२०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अष्टकने कौतूहलवश इन्द्रके तुल्य अपने नाना राजा ययातिसे पुनः प्रश्न किया ॥ २० ॥

पृच्छामि त्वां नृपते ब्रूहि सत्यं
कुतश्च कश्चासि सुतश्च कस्य ।
कृतं त्वया यद्धि न तस्य कर्ता
लोके त्वदन्यः क्षत्रियो ब्राह्मणो वा ॥२१॥

महाराज ! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ । आप उसे सच-सच बताइये । आप कहाँसे आये हैं, कौन हैं और किसके पुत्र हैं?

आपने जो कुछ किया है, उसे करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण इस संसारमें नहीं है ॥ २१ ॥

ययातिरुवाच

ययातिरस्मि नहुषस्य पुत्रः
पूरोः पिता सार्वभौमस्त्विहासम् ।
गुह्यं चार्थं मामकेभ्यो ब्रवीमि
मातामहोऽहं भवतां प्रकाशम् ॥२२॥

ययातिने कहा—मैं नहुषका पुत्र और पूरुका पिता राजा ययाति हूँ । इस लोकमें मैं चक्रवर्ती नरेश था । आप सब लोग मेरे अपने हैं; अतः आपसे गुप्त बात भी खोलकर बतलाये देता हूँ । मैं आपलोगोंका नाना हूँ । (यद्यपि पहले भी यह बात बता चुका हूँ, तथापि पुनः स्पष्ट कर देता हूँ) ॥ २२ ॥

सर्वामिमां पृथिवीं निर्जिगाय
प्रादामहं छादनं ब्राह्मणेभ्यः ।
मेध्यानश्वानेकशतान् सुरूपां-
स्तदा देवाः पुण्यभाजो भवन्ति ॥२३॥

मैंने इस सारी पृथ्वीको जीत लिया था । मैं ब्राह्मणोंको अन्न-वस्त्र दिया करता था । मनुष्य जब एक सौ सुन्दर पवित्र अश्वोंका दान करते हैं, तब वे पुण्यात्मा देवता होते हैं ॥ २३ ॥

अदामहं पृथिवीं ब्राह्मणेभ्यः
पूर्णामिमामखिलां वाहनेन ।
गोभिः सुवर्णेन धनैश्च मुख्यै-
स्तदाददं गाः शतमर्बुदानि ॥२४॥

मैंने तो सवारी, गौ, सुवर्ण तथा उत्तम धनसे परिपूर्ण यह सारी पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान कर दी थी एवं सौ अर्बुद (दस अरब) गौओंका दान भी किया था ॥ २४ ॥

सत्येन वै द्यौश्च वसुन्धरा च
तथैवाग्निर्ज्वलते मानुषेषु ।
न मे वृथा व्याहृतमेव वाक्यं
सत्यं हि सन्तः प्रतिपूजयन्ति ॥२५॥

सत्यसे ही पृथ्वी और आकाश टिके हुए हैं । इसी प्रकार सत्यसे ही मनुष्य-लोकमें अग्नि प्रज्वलित होती है । मैंने कभी व्यर्थ बात मुँहसे नहीं निकाली है; क्योंकि साधु पुरुष सदा सत्यका ही आदर करते हैं ॥ २५ ॥

यदष्टक प्रब्रवीमीह सत्यं
प्रतर्दनं चौपदश्विं तथैव ।
सर्वे च लोका मुनयश्च देवाः
सत्येन पूज्या इति मे मनोगतम् ॥२६॥

अष्टक ! मैं तुमसे, प्रतर्दनसे और उपदश्वके पुत्र वसुमान्‌से भी यहाँ जो कुछ कहता हूँ; वह सब सत्य ही है । मेरे मनका यह विश्वास है कि समस्त लोक, मुनि और देवता सत्यसे ही पूजनीय होते हैं ॥ २६ ॥

यो नः स्वर्गजितः सर्वान् यथा वृत्तं निवेदयेत् ।
अनुसूयुर्द्विजाग्र्येभ्यः स लभेन्नः सलोकताम् ॥२७॥

जो मनुष्य हृदयमें ईर्ष्या न रखकर स्वर्गपर अधिकार करनेवाले हम सब लोगोंके इस वृत्तान्तको यथार्थरूपसे श्रेष्ठ द्विजोंके सामने सुनायेगा, वह हमारे ही समान पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेगा ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं राजा स महात्मा ह्यतीव
स्वैर्दौहित्रैस्तारितोऽमित्रसाहः ।
त्यक्त्वा महीं परमोदारकर्मा
स्वर्गं गतः कर्मभिर्व्याप्य पृथ्वीम् ॥२८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा ययाति बड़े महात्मा थे । शत्रुओंके लिये अजेय और उनके कर्म अत्यन्त उदार थे । उनके दौहित्रोंने उनका उद्धार किया और वे अपने सत्कर्मोंद्वारा सम्पूर्ण भूमण्डलको व्याप्त करके पृथ्वी छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि उत्तरयायातसमाप्तौ त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें उत्तरयायातसमाप्तिविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(इस अध्यायमें २८ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २०½ श्लोक तथा कुल ४८½ श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

पूरुवंशका वर्णन

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोर्वंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—भगवन् ! अब मैं पूरुके वंशका विस्तार करनेवाले राजाओंका परिचय सुनना चाहता हूँ । उनका बल और पराक्रम कैसा था ? वे कैसे और कितने थे ? ॥ १ ॥

न ह्यस्मिन् शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कथंचन ॥ २ ॥

मेरा विश्वास है कि इस वंशमें पहले कभी किसी प्रकार भी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ है, जो शीलरहित, बल-पराक्रमसे शून्य अथवा संतानहीन रहा हो ॥ २ ॥

तेषां प्रथितवृत्तानां राज्ञां विज्ञानशालिनाम् ।
चरितं श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण तपोधन ॥ ३ ॥

तपोधन ! जो अपने सदाचारके लिये प्रसिद्ध और विवेक-सम्पन्न थे, उन सभी पूरुवंशी राजाओंके चरित्रको मुझे विस्तारपूर्वक सुननेकी इच्छा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोर्वंशधरान् वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः ।
भूरिद्रविणविक्रान्तान् सर्वलक्षणपूजितान् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुम्हें बताऊँगा । पूरुके वंशमें उत्पन्न हुए वीर नरेश इन्द्रके समान तेजस्वी, अत्यन्त धनवान्, परम पराक्रमी तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्मानित थे। (उन सबका परिचय देता हूँ) ॥ ४ ॥

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृत् ततः ॥ ५ ॥

पूरुके पौष्टी नामक पत्नीके गर्भसे प्रवीर, ईश्वर तथा रौद्राश्व नामक तीन महारथी पुत्र हुए । इनमेंसे प्रवीर अपनी वंश-परम्पराको आगे बढ़ानेवाले हुए ॥ ५ ॥

मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनीसुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥ ६ ॥

प्रवीरके पुत्रका नाम मनस्यु था, जो शूरसेनीके पुत्र और शक्तिशाली थे। कमलके समान नेत्रवाले मनस्युने चारों समुद्रोंसे घिरी हुई समस्त पृथ्वीका पालन किया ॥ ६ ॥

शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥ ७ ॥

मनस्युके सौवीरीके गर्भसे तीन पुत्र हुए—शक्त, संहनन और वाग्मी । वे सभी शूरवीर और महारथी थे ॥ ७ ॥

अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्य महेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥ ८ ॥
यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥ ९ ॥

पूरुके तीसरे पुत्र मनस्वी रौद्राश्वके मिश्रकेशी अप्सराके गर्भसे अन्वग्भानु आदि दस महाधनुर्धर पुत्र हुए, जो सभी यज्ञकर्ता, शूरवीर, संतानवान् अनेक शास्त्रोंके विद्वान्, सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा धर्मपरायण थे ॥

ऋचेयुरथ कक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥ १० ॥
तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः संनतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥ ११ ॥

(उन सबके नाम इस प्रकार हैं—)ऋचेयु[1], कक्षेयु, पराक्रमी कृकणेयु, स्थण्डिलेयु, वनेयु, महायशस्वी जलेयु, बलवान् और बुद्धिमान् तेजेयु, इन्द्रके समान पराक्रमी सत्येयु, धर्मेयु तथा दसवें देवतुल्य पराक्रमी संनतेयु ॥ १०-११ ॥

अनाधृष्टिरभूत् तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट् ।
ऋचेयुरथ विक्रान्तो देवानामिव वासवः ॥ १२ ॥

ऋचेयु जिनका एक नाम अनाधृष्टि भी है, अपने सब भाइयोंमें वैसे ही विद्वान् और पराक्रमी हुए, जैसे देवताओंमें इन्द्र । वे भूमण्डलके चक्रवर्ती राजा थे ॥ १२ ॥

अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद् राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥१३॥

अनाधृष्टिके पुत्रका नाम मतिनार था । राजा मतिनार राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ करनेवाले एवं परम धर्मात्मा थे ।१३।

मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥१४॥

राजन् ! मतिनारके चार पुत्र हुए, जो अत्यन्त पराक्रमी थे । उनके नाम ये हैं—तंसु, महान्, अतिरथ और अनुपम तेजस्वी द्रुह्यु ॥ १४ ॥

तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥१५॥

इनमें महापराक्रमी तंसुने पौरव वंशका भार वहन करते हुए उज्ज्वल यशका उपार्जन किया और सारी पृथ्वीको जीत लिया॥

ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतां वरः ॥१६॥

पराक्रमी तंसुने ईलिन नामक पुत्र उत्पन्न किया, जो विजयी पुरुषोंमें श्रेष्ठ था। उसने भी सारी पृथ्वी जीत ली थी।१६।

रथन्तर्यां सुतान् पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन् नृपान् ॥१७॥

ईलिनने रथन्तरी नामवाली अपनी पत्नीके गर्भसे पञ्च महाभूतोंके समान दुष्यन्त आदि पाँच राजपुत्रोंको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया ॥ १७ ॥

दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां श्रेष्ठोऽभवद् राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥१८॥

(उनके नाम ये हैं–) दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु तथा वसु। जनमेजय ! इनमें सबसे बड़े होनेके कारण दुष्यन्त राजा हुए॥

दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद् यशः ॥१९॥

१. ऋचेयु, अन्वग्भानु और अनाधृष्टि एक ही व्यक्तिके नाम हैं।

दुष्यन्तसे विद्वान् राजा भरतका जन्म हुआ, जो शकुन्तलाके पुत्र थे। उन्हींसे भरतवंशका महान् यश फैला ॥ १९ ॥

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत्।
नाभ्यनन्दत तान् राजा नानुरूपा ममेत्युत ॥२०॥

भरतने अपनी तीन रानियोंसे नौ पुत्र उत्पन्न किये। किंतु 'ये मेरे अनुरूप नहीं हैं' ऐसा कहकर राजाने उन शिशुओंका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

ततस्तान् मातरः क्रुद्धाः पुत्रान् निन्युर्यमक्षयम्।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत् ॥२१॥

तब उन शिशुओंकी माताओंने कुपित होकर उनको मार डाला। इससे महाराज भरतका वह पुत्रोत्पादन व्यर्थ हो गया ॥ २१ ॥

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत ॥२२॥

भारत ! तब महाराज भरतने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया और महर्षि भरद्वाजकी कृपासे एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भुमन्यु था ॥ २२ ॥

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥२३॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर पौरवकुलका आनन्द बढ़ानेवाले भरतने अपनेको पुत्रवान् समझकर भुमन्युको युवराजके पदपर अभिषिक्त किया ॥ २३ ॥

ततो दिविरथो नाम भुमन्योरभवत् सुतः।
सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ॥२४॥
पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन् सुताः।
तेषां ज्येष्ठः सुहोत्रस्तु राज्यमाप महीक्षिताम् ॥२५॥

भुमन्युके दिविरथ नामक पुत्र हुआ। उसके सिवा सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु तथा ऋचीक भी भुमन्युके ही पुत्र थे। ये सब पुष्करिणीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इन सब क्षत्रियोंमें सुहोत्र ही ज्येष्ठ थे। अतः उन्हींको राज्य मिला ॥२४-२५॥

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद् बहुभिः सवैः।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ॥२६॥
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम्।
ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ॥२७॥
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णा मनुष्यकलिला भृशम्।
सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ॥२८॥

राजा सुहोत्रने राजसूय तथा अश्वमेध आदि अनेक यज्ञोंद्वारा यजन किया और समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथ्वीका, जो हाथी-घोड़ोंसे परिपूर्ण तथा अनेक प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न थी, उपभोग किया। जब राजा सुहोत्र धर्मपूर्वक प्रजाका शासन कर रहे थे, उस समय सारी पृथ्वी हाथी, घोड़ों, रथ और मनुष्योंसे खचाखच भरी थी। उन पशु आदिके भारी भारसे पीड़ित होकर राजा सुहोत्रके शासनकालकी पृथ्वी मानो नीचे धँसी जाती थी ॥ २६-२८ ॥

चैत्ययूपाङ्किता चासीद् भूमिः शतसहस्रशः।
प्रवृद्धजनसस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥२९॥

उनके राज्यकी भूमि लाखों चैत्यों (देव-मन्दिरों) और यज्ञयूपोंसे चिह्नित दिखायी देती थी। सब लोग हृष्ट-पुष्ट होते थे। खेतीकी उपज अधिक हुआ करती थी। इस प्रकार उस राज्यकी पृथ्वी सदा ही अपने वैभवसे सुशोभित होती थी ॥ २९ ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपतेः।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥३०॥

भारत ! राजा सुहोत्रसे ऐक्ष्वाकीने अजमीढ, सुमीढ तथा पुरुमीढ नामक तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३० ॥

अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत् तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥३१॥

उनमें अजमीढ ज्येष्ठ थे। उन्हींपर वंशकी मर्यादा टिकी हुई थी। जनमेजय ! उन्होंने भी तीन स्त्रियोंके गर्भसे छः पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ३१ ॥

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ व्रजनरूपिणौ ॥३२॥

उनकी धूमिनी नामवाली स्त्रीने ऋक्षको, नीलीने दुष्यन्त और परमेष्ठीको तथा केशिनीने जह्नु, व्रजन तथा रूपिण इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥ ३२ ॥

तथेमे सर्वपाञ्चला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमिततेजसः ॥३३॥

इनमें दुष्यन्त और परमेष्ठीके सभी पुत्र पाञ्चाल कहलाये। राजन् ! अमित तेजस्वी जह्नुके वंशज कुशिक नामसे प्रसिद्ध हुए।

व्रजनरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम्।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजन् वंशकरः सुतः ॥३४॥

व्रजन तथा रूपिणके ज्येष्ठ भाई ऋक्षको राजा कहा गया है। ऋक्षसे संवरणका जन्म हुआ। राजन् ! वे वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्र थे ॥ ३४ ॥

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुन्धराम्।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥३५॥

जनमेजय ! ऋक्षपुत्र संवरण जब इस पृथ्वीका शासन कर रहे थे, उस समय प्रजाका बहुत बड़ा संहार हुआ था, ऐसा हमने सुना है ॥ ३५ ॥

व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥३६॥

इस तरह नाना प्रकारसे क्षय होनेके कारण वह सारा राज्य नष्ट-सा हो गया । सबको भूख, मृत्यु, अनावृष्टि और व्याधि आदिके कष्ट सताने लगे ॥ ३६ ॥

अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ।
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥३७॥
अभ्ययात् तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम्।
अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥३८॥

शत्रुओंकी सेनाएँ भरतवंशी योद्धाओंका नाश करने लगीं । पाञ्चालनरेशने इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए चतुरङ्गिणी सेनाके साथ संवरणपर आक्रमण किया और उनकी सारी भूमि वेगपूर्वक जीतकर दस अक्षौहिणी सेनाओंद्वारा संवरणको भी युद्धमें परास्त कर दिया ॥ ३७-३८ ॥

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात् पलायत महाभयात् ॥३९॥

तदनन्तर स्त्री, पुत्र, सुहृद् और मन्त्रियोंके साथ राजा संवरण महान् भयके कारण वहाँसे भाग चले ॥ ३९ ॥

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत् तदा ।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ॥४०॥

उस समय उन्होंने सिंधु नामक महानदके तटवर्ती निकुञ्जमें, जो एक पर्वतके समीपसे लेकर नदीके तटतक फैला हुआ था, निवास किया ॥ ४० ॥

तत्रावसन् बहून् कालान् भारता दुर्गमाश्रिताः ।
तेषां निवसतां तत्र सहस्रं परिवत्सरान् ॥४१॥

वहाँ उस दुर्गका आश्रय लेकर भरतवंशी क्षत्रिय बहुत वर्षोंतक टिके रहे । उन सबको वहाँ रहते हुए एक हजार वर्ष बीत गये ॥ ४१ ॥

अथाभ्यगच्छद् भरतान् वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ॥४२॥
अर्घ्यमभ्याहरंस्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ।
निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ॥४३॥
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान् नोऽस्तु राज्याय प्रयतेमहि ॥४४॥

इसी समय उनके पास भगवान् महर्षि वसिष्ठ आये । उन्हें आया देख भरतवंशियोंने प्रयत्नपूर्वक उनकी अगवानी की और प्रणाम करके सबने उनके लिये अर्घ्य अर्पण किया । फिर उन तेजस्वी महर्षिको सत्कारपूर्वक अपना सर्वस्व समर्पण करके उत्तम आसनपर बिठाकर राजाने स्वयं उनका वरण करते हुए कहा—'भगवन् ! हम पुनः राज्यके लिये प्रयत्न कर रहे हैं । आप हमारे पुरोहित हो जाइये' ॥ ४२-४४ ॥

ओमित्येवं वसिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत ।
अथाभ्यषिञ्चत् साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ॥४५॥
विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ।
भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत् पुरोत्तमम् ॥४६॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसिष्ठजीने भी भरतवंशियोंको अपनाया और समस्त भूमण्डलमें उत्कृष्ट पूरुवंशी संवरणको समस्त क्षत्रियोंके सम्राट्-पदपर अभिषिक्त कर दिया, ऐसा हमारे सुननेमें आया है । तत्पश्चात् महाराज संवरण, जहाँ प्राचीन भरतवंशी राजा रहते थे, उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ।
ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ॥४७॥
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
ततः संवरणात् सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ॥४८॥

फिर उन्होंने सब राजाओंको जीतकर उन्हें करद बना लिया । तदनन्तर वे महाबली नरेश अजमीढवंशी संवरण पुनः पृथ्वीका राज्य पाकर बहुत दक्षिणावाले बहुसंख्यक महायज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करने लगे । कुछ कालके पश्चात् सूर्यकन्या तपतीने संवरणके वीर्यसे कुरु नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ४७-४८ ॥

राजत्वे तं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ।
तस्य नाम्नाभिविख्यातं पृथिव्यां कुरुजाङ्गलम् ॥४९॥

कुरुको धर्मज्ञ मानकर सम्पूर्ण प्रजावर्गके लोगोंने स्वयं उनका राजाके पदपर वरण किया । उन्हींके नामसे पृथ्वीपर कुरुजाङ्गलदेश प्रसिद्ध हुआ ॥ ४९ ॥

कुरुक्षेत्रं स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ।
अश्ववन्तमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ॥५०॥
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुम ।
पञ्चैतान् वाहिनी पुत्रान् व्यजायत मनस्विनी ॥५१॥

उन महातपस्वी कुरुने अपनी तपस्याके बलसे कुरुक्षेत्रको पवित्र बना दिया । उनके पाँच पुत्र सुने गये हैं—अश्ववान्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि तथा सुप्रसिद्ध जनमेजय । इन पाँचों पुत्रोंको उनकी मनस्विनी पत्नी वाहिनीने जन्म दिया था ॥

अविक्षितः परिक्षित् तु शबलाश्वस्तु वीर्यवान् ।
आदिराजो विराजश्च शाल्मलिश्च महाबलः ॥५२॥
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः ।
एतेषामन्ववाये तु ख्यातास्ते कर्मजैर्गुणैः ।
जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ॥५३॥

अश्ववान्‌का दूसरा नाम अविक्षित था । उसके आठ पुत्र हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परिक्षित्, पराक्रमी शबलाश्व, आदिराज, विराज, महाबली शाल्मलि, उच्चैःश्रवा,

भङ्गकार तथा आठवाँ जितारि । इनके वंशमें जनमेजय आदि अन्य सात महारथी भी हुए, जो अपने कर्मजनित गुणोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ५२-५३ ॥

परिक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ।
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ॥५४॥
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ।
जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलाः ॥५५॥
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ।
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ॥५६॥
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थकुशलाः सर्वभूतहिते रताः ॥५७॥

परिक्षित्के सभी पुत्र धर्म और अर्थके ज्ञाता थे; जिनके नाम इस प्रकार हैं—कक्षसेन, उग्रसेन, पराक्रमी चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन । जनमेजयके महाबली पुत्र भूमण्डलमें विख्यात थे । उनमें प्रथम पुत्रका नाम धृतराष्ट्र था । उनसे छोटे क्रमशः पाण्डु, बाह्लीक, महातेजस्वी निषध, बलवान् जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति तथा वसाति थे । इनमें वसाति आठवाँ था । ये सभी धर्म और अर्थमें कुशल तथा समस्त प्राणियोंके हितमें संलग्न रहनेवाले थे ॥ ५४—५७ ॥

धृतराष्ट्रोऽथ राजाऽऽसीत् तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।
हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ॥५८॥
हविःश्रवास्तथेन्द्राभो भुमन्युश्चापराजितः ।
धृतराष्ट्रसुतानां तु त्रीनेतान् प्रथितान् भुवि ॥५९॥
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ।
प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ॥६०॥

इनमें धृतराष्ट्र राजा हुए । उनके पुत्र कुण्डिक, हस्ती, वितर्क, क्राथ, कुण्डिन, हविःश्रवा, इन्द्राभ, भुमन्यु और अपराजित थे । भारत ! इनके सिवा प्रतीप, धर्मनेत्र और सुनेत्र ये तीन पुत्र और थे । धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें ये ही तीन इस भूतल पर अधिक विख्यात थे । इनमें भी प्रतीपकी प्रसिद्धि अधिक थी । भूमण्डलमें उनकी समानता करनेवाला कोई नहीं था ॥ ५८—६० ॥

प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शान्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥६१॥
देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शान्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥६२॥

भरतश्रेष्ठ ! प्रतीपके तीन पुत्र हुए—देवापि, शान्तनु और महारथी बाह्लीक । इनमेंसे देवापि धर्माचरणद्वारा कल्याण प्राप्तिकी इच्छासे वनको चले गये, इसलिये शान्तनु एवं महारथी बाह्लीकने इस पृथ्वीका राज्य प्राप्त किया ॥ ६१-६२ ॥

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।
देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥६३॥

राजन् ! भरतके वंशमें सभी नरेश धैर्यवान् एवं शक्तिशाली थे । उस वंशमें बहुत-से श्रेष्ठ नृपतिगण देवर्षियोंके समान थे ॥ ६३ ॥

एवंविधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्धनाः ॥६४॥

ऐसे ही और भी कितने ही देवतुल्य महारथी मनुके वंशमें उत्पन्न हुए थे, जो महाराज पुरूरवाके वंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशवर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

दक्ष प्रजापतिसे लेकर पूरुवंश, भरतवंश एवं पाण्डुवंशकी परम्पराका वर्णन

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन् पूर्वेषां सम्भवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन् राजानो मे परिश्रुताः ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन् ! मैंने आपके मुखसे पूर्ववर्ती राजाओंकी उत्पत्तिका महान् वृत्तान्त सुना । इस पूरुवंशमें उत्पन्न हुए उदार राजाओंके नाम भी मैंने भलीभाँति सुन लिये ।

किंतु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान् भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ॥ २ ॥
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ।
तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ॥ ३ ॥

परंतु संक्षेपसे कहा हुआ यह प्रिय आख्यान सुनकर मुझे पूर्णतः तृप्ति नहीं हो रही है । अतः आप पुनः विस्तारपूर्वक मुझसे इसी दिव्य कथाका वर्णन कीजिये । दक्ष प्रजापति और मनुसे लेकर उन सब राजाओंका पवित्र जन्म-प्रसंग किसे प्रसन्न नहीं करेगा ? ॥ २-३ ॥

सद्धर्मगुणमाहात्म्यैरभिवर्धितमुत्तमम् ।
विष्टभ्य लोकांस्त्रीनेषां यशः स्फीतमवस्थितम् ॥ ४ ॥

उत्तम धर्म और गुणोंके माहात्म्यसे अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हुआ इन राजाओंका श्रेष्ठ और उज्ज्वल यश तीनों लोकोंमें व्याप्त हो रहा है ॥ ४ ॥

गुणप्रभाववीर्यौजःसत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां श्रृण्वन्नमृतास्वादसम्मिताम् ॥ ५ ॥

ये सभी नरेश उत्तम गुण, प्रभाव, बल-पराक्रम, ओज, सत्त्व (धैर्य) और उत्साहसे सम्पन्न थे । इनकी कथा अमृतके समान मधुर है, उसे सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं हो रही है ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रृणु राजन् पुरा सम्यङ्मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानमिदं कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालमें मैंने महर्षि कृष्णद्वैपायनके मुखसे जिसका भलीभाँति श्रवण किया था, वह सम्पूर्ण प्रसङ्ग तुम्हें सुनाता हूँ । अपने वंशकी उत्पत्तिका वह शुभ वृत्तान्त सुनो ॥ ६ ॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनोरिला इलायाः पुरूरवाः पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद् ययातिः; ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः ॥ ७॥ उशनसो दुहिता देवयानी; वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम ॥ ८ ॥

दक्षसे अदिति, अदितिसे विवस्वान् (सूर्य); विवस्वान्से मनु, मनुसे इला, इलासे पुरूरवा, पुरूरवासे आयु, आयुसे नहुष और नहुषसे ययातिका जन्म हुआ । ययातिके दो पत्नियाँ थीं; पहली शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी तथा दूसरी वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा ॥ ७-८ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत ।
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥ ९ ॥

यहाँ उनके वंशका परिचय देनेवाला यह श्लोक कहा जाता है—

देवयानीने यदु और तुर्वसु नामवाले दो पुत्रोंको जन्म दिया और वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठाने द्रुह्यु, अनु तथा पूरु—ये तीन पुत्र उत्पन्न किये ॥ ९ ॥

तत्र यदोर्यादवाः; पूरोः पौरवाः ॥१०॥

इनमें यदुसे यादव और पूरुसे पौरव हुए ॥ १० ॥

पूरोस्तु भार्या कौसल्या नाम । तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम; यस्त्रीनश्वमेधानाजहार, विश्वजिता चेष्ट्वा वनं विवेश ॥ ११ ॥

पूरुकी पत्नीका नाम कौसल्या था (उसीको पौष्टी भी कहते हैं) । उसके गर्भसे पूरुके जनमेजय नामक पुत्र हुआ (इसीका दूसरा नाम प्रवीर है); जिसने तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और विश्वजित् यज्ञ करके वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया था ॥ ११ ॥

जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीम् । तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्; यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात्, ततस्तस्य प्राचिन्वत्त्वम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने मधुवंशकी कन्या अनन्ताके साथ विवाह किया था । उसके गर्भसे उनके प्राचिन्वान् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ । उसने उदयाचलसे लेकर सारी प्राची दिशाको एक ही दिनमें जीत लिया था; इसीलिये उसका नाम प्राचिन्वान् हुआ ॥ १२ ॥

प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवीम् । तस्यामस्य जज्ञे संयातिः ॥ १३ ॥

प्राचिन्वान्ने यदुकुलकी कन्या अश्मकीको अपनी पत्नी बनाया । उसके गर्भसे उन्हें संयाति नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥

संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः ॥ १४ ॥

संयातिने दृषद्वान्की पुत्री वराङ्गीसे विवाह किया । उसके गर्भसे उन्हें अहंयाति नामक पुत्र हुआ ॥ १४ ॥

अहंयातिः खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमतीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः ॥ १५ ॥

अहंयातिने कृतवीर्यकुमारी भानुमतीको अपनी पत्नी बनाया । उसके गर्भसे अहंयातिके सार्वभौम नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नाम । तामुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम॥१६॥

सार्वभौमने युद्धमें जीतकर केकयकुमारी सुनन्दाका अपहरण किया और उसीको अपनी पत्नी बनाया । उससे उनको जयत्सेन नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

जयत्सेनो खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः ॥ १७ ॥

जयत्सेनने विदर्भराजकुमारी सुश्रवासे विवाह किया । उसके गर्भसे उनके अवाचीन नामक पुत्र हुआ ॥ १७ ॥

अवाचीनोऽपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहः ॥ १८ ॥

अवाचीनने भी विदर्भराजकुमारी मर्यादाके साथ विवाह किया, जो आगे बतायी जानेवाली देवातिथिकी पत्नीसे भिन्न थी । उसके गर्भसे उन्हें 'अरिह' नामक पुत्र हुआ ॥ १८ ॥

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः ॥ १९ ॥

अरिहने अङ्गदेशकी राजकुमारीसे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें महाभौम नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायी; यः पुरुषमेधानामयुतमानयत्, तेनास्यायुतनायित्वम् ॥ २० ॥

महाभौमने प्रसेनजित्की पुत्री सुयज्ञासे विवाह किया । उसके गर्भसे उन्हें अयुतनायी नामक पुत्र प्राप्त हुआ;

जिसने दस हजार पुरुषमेध 'यज्ञ' किये । अयुत यज्ञोंका आनयन (अनुष्ठान) करनेके कारण ही उनका नाम अयुतनायी हुआ ॥ २० ॥

अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः ॥ २१ ॥

अयुतनायीने पृथुश्रवाकी पुत्री कामासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अक्रोधनका जन्म हुआ ॥ २१ ॥

स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः ॥ २२ ॥

अक्रोधनने कलिङ्गदेशकी राजकुमारी करम्भासे विवाह किया। जिसके गर्भसे उनके देवातिथि नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥२२॥

देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अरिहो नाम ॥ २३ ॥

देवातिथिने विदेहराजकुमारी मर्यादासे विवाह किया, जिसके गर्भसे अरिह नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २३ ॥

अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम् ॥ २४ ॥

अरिहने अङ्गराजकुमारी सुदेवाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे ऋक्ष नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ २४ ॥

ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमे ज्वालां नाम । तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥ २५ ॥

ऋक्षने तक्षककी पुत्री ज्वालाके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे मतिनार नामक पुत्रको उत्पन्न किया ॥ २५ ॥

मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत् । समाप्ते च सत्रे सरस्वत्यभिगम्य तं भर्तारं वरयामास । तस्यां पुत्रमजीजनत् तंसुं नाम ॥ २६ ॥

मतिनारने सरस्वतीके तटपर उत्तम गुणोंसे युक्त द्वादशवार्षिक यज्ञका अनुष्ठान किया । उसके समाप्त होनेपर सरस्वतीने उनके पास आकर उन्हें पतिरूपमें वरण किया । मतिनारने उसके गर्भसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥२६॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत् ।
ईलिनं जनयामास कालिङ्ग्यां तंसुरात्मजम् ॥२७॥

यहाँ वंशपरम्पराका सूचक श्लोक इस प्रकार है—

सरस्वतीने मतिनारसे तंसु नामक पुत्र उत्पन्न किया और तंसुने कलिङ्गराजकुमारीके गर्भसे ईलिन नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान् पञ्च पुत्रानजीजनत् ॥ २८ ॥

ईलिनने रथन्तरीके गर्भसे दुष्यन्त आदि पाँच पुत्र उत्पन्न किये ॥ २८ ॥

दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे भरतः ॥ २९ ॥

दुष्यन्तने विश्वामित्रकी पुत्री शकुन्तलाके साथ विवाह किया; जिसके गर्भसे उनके पुत्र भरतका जन्म हुआ ॥२९॥

अत्रानुवंशश्लोकौ भवतः—

भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः ।
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त मावमंस्थाः शकुन्तलाम् ॥३०॥

यहाँ वंशपरम्पराके सूचक दो श्लोक हैं—

'माता तो भाथी (धौंकनी) के समान है । वास्तवमें पुत्र पिताका ही होता है; जिससे उसका जन्म होता है, वही उस बालकके रूपमें प्रकट होता है । दुष्यन्त ! तुम अपने पुत्रका भरण-पोषण करो; शकुन्तलाका अपमान न करो।

रेतोधाः पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात् ।
त्वं चास्य धाता गर्भस्य सत्यमाह शकुन्तला ॥३१॥

'गर्भाधान करनेवाला पिता ही पुत्ररूपमें उत्पन्न होता है । नरदेव ! पुत्र यमलोकसे पिताका उद्धार कर देता है। तुम इस गर्भके आधान करनेवाले हो । शकुन्तलाका कथन सत्य है।

ततोऽस्य भरतत्वम् । भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम । तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥३२॥

आकाशवाणीने भरण-पोषणके लिये कहा था, इसलिये उस बालकका नाम भरत हुआ । भरतने राजा सर्वसेनकी पुत्री सुनन्दासे विवाह किया । वह काशीकी राजकुमारी थी। उसके गर्भसे भरतके भुमन्यु नामक पुत्र हुआ ॥ ३२ ॥

भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम । तस्यामस्य जज्ञे सुहोत्रः ॥३३॥

भुमन्युने दशार्हकन्या विजयासे विवाह किया; जिसके गर्भसे सुहोत्रका जन्म हुआ ॥ ३३ ॥

सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकुकन्यामुपयेमे सुवर्णां नाम । तस्यामस्य जज्ञे हस्ती; य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास । एतदस्य हास्तिनपुरत्वम् ॥ ३४ ॥

सुहोत्रने इक्ष्वाकुकुलकी कन्या सुवर्णासे विवाह किया। उसके गर्भसे उन्हें हस्ती नामक पुत्र हुआ; जिसने यह हस्तिनापुर नामक नगर बसाया था । हस्तीके बसानेसे ही यह नगर 'हास्तिनपुर' कहलाया ॥ ३४ ॥

हस्ती खलु त्रैगर्तीमुपयेमे यशोधरां नाम । तस्यामस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम ॥ ३५ ॥

हस्तीने त्रिगर्तराजकी पुत्री यशोधराके साथ विवाह किया और उसके गर्भसे विकुण्ठन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३५॥

विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अजमीढो नाम ॥ ३६ ॥

विकुण्ठनने दशार्हकुलकी कन्या सुदेवासे विवाह किया और उसके गर्भसे उन्हें अजमीढ नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ३६ ॥

अजमीढस्य चतुर्विंशं पुत्रशतं बभूव कैकेय्यां गान्धार्यां विशालायामृक्षायां चेति । पृथक् पृथग् वंशधरा नृपतयः । तत्र वंशकरः संवरणः ॥ ३७ ॥

अजमीढके कैकेयी, गान्धारी, विशाला तथा ऋक्षासे एक सौ चौबीस पुत्र हुए। वे सब पृथक्-पृथक् वंशप्रवर्तक राजा हुए। इनमें राजा संवरण कुरुवंशके प्रवर्तक हुए ॥

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे । तस्यामस्य जज्ञे कुरुः ॥ ३८ ॥

संवरणने सूर्यकन्या तपतीसे विवाह किया; जिसके गर्भसे कुरुका जन्म हुआ ॥ ३८ ॥

कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे विदूरः ॥ ३९ ॥

कुरुने दशार्हकुलकी कन्या शुभाङ्गीसे विवाह किया। उसके गर्भसे कुरुके विदूर नामक पुत्र हुआ ॥ ३९ ॥

विदूरस्तु माधवीमुपयेमे सम्प्रियां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अनश्वा नाम ॥ ४० ॥

विदूरने मधुवंशकी कन्या सम्प्रियासे विवाह किया; जिसके गर्भसे उन्हें अनश्वा नामक पुत्र प्राप्त हुआ ॥ ४० ॥

अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम । तस्यामस्य जज्ञे परिक्षित् ॥ ४१ ॥

अनश्वाने मगधराजकुमारी अमृताको अपनी पत्नी बनाया। उसके गर्भसे उनके परिक्षित् नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥४१॥

परिक्षित् खलु बाहुदामुपयेमे सुयशां नाम। तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः ॥ ४२ ॥

परिक्षित्ने बाहुदराजकी पुत्री सुयशाके साथ विवाह किया; जिससे उनके भीमसेन नामक पुत्र हुआ ॥ ४२ ॥

भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम । तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ॥ ४३ ॥

भीमसेनने केकयदेशकी राजकुमारी कुमारीको अपनी पत्नी बनाया, जिसके गर्भसे प्रतिश्रवाका जन्म हुआ ॥ ४३ ॥

प्रतिश्रवसः प्रतीपः खलु । शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम । तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शान्तनुं बाह्लीकं चेति ॥ ४४ ॥

प्रतिश्रवासे प्रतीप उत्पन्न हुआ। उसने शिबिदेशकी राजकन्या सुनन्दासे विवाह किया और उसके गर्भसे देवापि, शान्तनु तथा बाह्लीक—इन तीन पुत्रोंको जन्म दिया ॥४४॥

देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश। शान्तनुस्तु महीपालो बभूव ॥ ४५ ॥

देवापि बाल्यावस्थामें ही वनको चले गये, अतः शान्तनु राजा हुए ॥ ४५ ॥

अत्रानुवंशश्लोको भवति—
यं यं कराभ्यां स्पृशति जीर्णं स सुखमश्नुते ।
पुनर्युवा च भवति तस्मात् तं शान्तनुं विदुः ॥
इति तदस्य शान्तनुत्वम् ॥ ४६ ॥

शान्तनुके विषयमें यह अनुवंशश्लोक उपलब्ध होता है—वे जिस-जिस बूढ़ेको अपने दोनों हाथोंसे छू देते थे, वह बड़े सुख और शान्तिका अनुभव करता था तथा पुनः नौजवान हो जाता था। इसलिये लोग उन्हें शान्तनुके रूपमें जानने लगे। यही उनके शान्तनु नाम पड़नेका कारण हुआ ॥

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे। तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नाम; यमाहुर्भीष्ममिति ॥ ४७ ॥

शान्तनुने भागीरथी गङ्गाको अपनी पत्नी बनाया; जिसके गर्भसे उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग 'भीष्म' कहते हैं ॥ ४७ ॥

भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं मातरमुद्वाहयत्; यामाहुर्गन्धकालीति ॥ ४८ ॥

भीष्मने अपने पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे उनके साथ माता सत्यवतीका विवाह कराया; जिसे गन्धकाली भी कहते हैं ॥

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शान्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः ॥ ४९ ॥

सत्यवतीके गर्भसे पहले कन्यावस्थामें महर्षि पराशरसे द्वैपायन व्यास उत्पन्न हुए थे। फिर उसी सत्यवतीके राजा शान्तनुद्वारा दो पुत्र और हुए ॥ ४९ ॥

विचित्रवीर्यश्चित्राङ्गदश्च । तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः; विचित्रवीर्यस्तु राजाऽऽसीत् ॥ ५० ॥

जिनका नाम था, विचित्रवीर्य और चित्राङ्गद। उनमेंसे चित्राङ्गद युवावस्थामें पदार्पण करनेसे पहले ही एक गन्धर्वके द्वारा मारे गये; परंतु विचित्रवीर्य राजा हुए ॥ ५० ॥

विचित्रवीर्यः खलु कौसल्यात्मजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यने अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया। वे दोनों काशिराजकी पुत्रियाँ थीं और उनकी माताका नाम कौसल्या था ॥ ५१ ॥

विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः। ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ॥ ५२ ॥

विचित्रवीर्यके अभी कोई संतान नहीं हुई थी, तभी उनका देहावसान हो गया। तब सत्यवतीको यह चिन्ता हुई कि 'राजा दुष्यन्तका यह वंश नष्ट न हो जाय' ॥ ५२ ॥

सा द्वैपायनमृषिं मनसा चिन्तयामास । स तस्याः पुरतः स्थितः, किं करवाणीति ॥ ५३ ॥

उसने मन-ही-मन द्वैपायन महर्षि व्यासका चिन्तन किया । फिर तो व्यासजी उसके आगे प्रकट हो गये और बोले—'क्या आज्ञा है ?' ॥ ५३ ॥

सा तमुवाच—भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः । साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ॥ ५४ ॥

सत्यवतीने उनसे कहा—'बेटा ! तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य संतानहीन अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गये । अतः उनके वंशकी रक्षाके लिये उत्तम संतान उत्पन्न करो' ॥ ५४ ॥

स तथेत्युक्त्वा त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास; धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति ॥ ५५ ॥

उन्होंने 'तथास्तु' कहकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर—इन तीन पुत्रोंको उत्पन्न किया ॥ ५५ ॥

तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गान्धार्यां वरदानाद् द्वैपायनस्य ॥ ५६ ॥

उनमेंसे राजा धृतराष्ट्रके गान्धारीके गर्भसे व्यासजीके दिये हुए वरदानके प्रभावसे सौ पुत्र हुए ॥ ५६ ॥

तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः प्रधाना बभूवुः; दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥ ५७ ॥

धृतराष्ट्रके उन सौ पुत्रोंमें चार प्रधान थे—दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन ॥ ५७ ॥

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम माद्री च इत्युभे स्त्रीरत्ने ॥ ५८ ॥

पाण्डुकी दो पत्नियाँ थीं; कुन्तिभोजकी कन्या पृथा और माद्री । ये दोनों ही स्त्रियोंमें रत्नस्वरूपा थीं ॥ ५८ ॥

अथ पाण्डुर्मृगयां चरन् मैथुनगतमृषिमपश्यन्मृग्यां वर्तमानम् । तथैवाद्भुतमनासादितकामरसमतृप्तं च बाणेनाजघान ॥ ५९ ॥

एक दिन राजा पाण्डुने शिकार खेलते समय एक मृगरूपधारी ऋषिको मृगीरूपधारिणी अपनी पत्नीके साथ मैथुन करते देखा । वह अद्भुत मृग अभी काम-रसका आस्वादन नहीं कर सका था । उसे अतृप्त अवस्थामें ही राजाने बाणसे मार दिया ॥ ५९ ॥

स बाणविद्ध उवाच पाण्डुम्—चरता धर्ममिमं येन त्वयाभिज्ञेन कामरसस्याहमनवाप्तकामरसो निहतस्तस्मात् त्वमप्येतामवस्थामासाद्यानवाप्तकामरसः पञ्चत्वमाप्स्यसि क्षिप्रमेवेति । स विवर्णरूपस्तथा पाण्डुः शापं परिहरमाणो नोपासर्पत भार्ये । वाक्यं चोवाच—॥ ६० ॥

बाणसे घायल होकर उस मुनिने पाण्डुसे कहा—'राजन्! तुम भी इस मैथुन-धर्मका आचरण करनेवाले तथा काम-रसके ज्ञाता हो, तो भी तुमने मुझे उस दशामें मारा है, जब कि मैं काम-रससे तृप्त नहीं हुआ था । इस कारण इसी अवस्थामें पहुँचकर काम-रसका आस्वादन करनेसे पहले ही शीघ्र मृत्युको प्राप्त हो जाओगे ।' यह सुनकर राजा पाण्डु उदास हो गये और शापका परिहार करते हुए पत्नियोंके सहवाससे दूर रहने लगे। उन्होंने कहा ॥ ६० ॥

स्वचापल्यादिदं प्राप्तवानहं शृणोमि च नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति । सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच । सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास । धर्माद् युधिष्ठिरं मारुताद् भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥ ६१ ॥

'देवियो ! अपनी चपलताके कारण मुझे यह शाप मिला है । सुनता हूँ, संतानहीनको पुण्यलोक नहीं प्राप्त होते हैं। अतः तुम मेरे लिये पुत्र उत्पन्न करो ।' यह बात उन्होंने कुन्तीसे कही । उनके ऐसा कहनेपर कुन्तीने तीन पुत्र उत्पन्न किये—धर्मराजसे युधिष्ठिरको, वायुदेवसे भीमसेनको और इन्द्रसे अर्जुनको जन्म दिया ॥ ६१ ॥

तां संहृष्टः पाण्डुरुवाच—

इयं ते सपत्न्यनपत्या; साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । एवमस्त्विति कुन्ती तां विद्यां माद्र्यै प्रायच्छत् ॥ ६२ ॥

इससे पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने कुन्तीसे कहा-'यह तुम्हारी सौत माद्री तो संतानहीन ही रह गयी, इसके गर्भसे भी सुन्दर संतान उत्पन्न होनेकी व्यवस्था करो।' 'ऐसा ही हो' कहकर कुन्तीने अपनी वह विद्या (जिससे देवता आकृष्ट होकर चले आते थे) माद्रीको भी दे दी ॥ ६२ ॥

माद्र्यामश्विभ्यां नकुलसहदेवावुत्पादितौ ॥ ६३ ॥

माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंने नकुल और सहदेवको उत्पन्न किया ॥ ६३ ॥

माद्रीं खल्वलंकृतां दृष्ट्वा पाण्डुर्भावं चक्रे च तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः ॥ ६४ ॥

तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह उवाच कुन्तीम्; यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यमिति ॥ ६५ ॥

एक दिन माद्रीको शृङ्गार किये देख पाण्डु उसके प्रति आसक्त हो गये और उसका स्पर्श होते ही उनका शरीर छूट गया । तदनन्तर वहाँ चिताकी आगमें स्थित पतिके शवके साथ माद्री चितापर आरूढ़ हो गयी और कुन्तीसे बोली—'बहिन ! मेरे जुड़वें बच्चोंके भी लालन-पालनमें तुम सदा सावधान रहना' ॥ ६४-६५ ॥

ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हास्तिनपुरमानीय तापसैर्भीष्मस्य च विदुरस्य च निवेदिताः । सर्ववर्णानां च निवेद्यान्तर्हितास्तापसा बभूवुः प्रेक्ष्यमाणानां तेषाम् ॥ ६६ ॥

इसके बाद तपस्वी मुनियोंने कुन्तीसहित पाण्डवोंको वनसे हस्तिनापुरमें लाकर भीष्म तथा विदुरजीको सौंप दिया । साथ ही समस्त प्रजावर्गके लोगोंको भी सारे समाचार बताकर वे तपस्वी उन सबके देखते-देखते वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ६६ ॥

तच्च वाक्यमुपश्रुत्य भगवतामन्तरिक्षात् पुष्पवृष्टिः पपात; देवदुन्दुभयश्च प्रणेदुः ॥ ६७ ॥

उन ऐश्वर्यशाली मुनियोंकी बात सुनकर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं ॥६७॥

प्रतिगृहीताश्च पाण्डवाः पितुर्निधनमावेदयन् तस्यौर्ध्वदेहिकं न्यायतश्च कृतवन्तः । तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान् बाल्यात् प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत् ॥ ६८ ॥

भीष्म और धृतराष्ट्रके द्वारा अपना लिये जानेपर पाण्डवोंने उनसे अपने पिताकी मृत्युका समाचार बताया; तत्पश्चात् पिताकी और्ध्वदैहिक क्रियाको विधिपूर्वक सम्पन्न करके पाण्डव वहीं रहने लगे । दुर्योधनको बाल्यावस्थासे ही पाण्डवोंका साथ रहना सहन नहीं हुआ ॥ ६८ ॥

पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्तुं च व्यवसितः; भावित्वाच्चार्थस्य न शकितास्ते समुद्धर्तुम् ॥ ६९ ॥

पापाचारी दुर्योधन राक्षसी बुद्धिका आश्रय ले अनेक उपायोंसे पाण्डवोंकी जड़ उखाड़नेका प्रयत्न करता रहता था । परंतु जो होनेवाली बात है, वह होकर ही रहती है; इसलिये दुर्योधन आदि पाण्डवोंको नष्ट करनेमें सफल न हो सके ॥ ६९ ॥

ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् ॥ ७० ॥

इसके बाद धृतराष्ट्रने किसी बहानेसे पाण्डवोंको जब वारणावत नगरमें जानेके लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने वहाँसे जाना स्वीकार कर लिया ॥ ७० ॥

तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥ ७१ ॥

वहाँ भी उन्हें लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया गया; किंतु पाण्डवोंके विदुरजीकी सलाहके अनुसार काम करनेके कारण विरोधीलोग उनको दग्ध करनेमें समर्थ न हो सके ॥७१॥

तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः ॥ ७२ ॥

पाण्डव वारणावतसे अपनेको छिपाते हुए चल पड़े और मार्गमें हिडिम्ब राक्षसका वध करके वे एकचक्रा नगरीमें जा पहुँचे ॥

तस्यामप्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः ॥ ७३ ॥

एकचक्रामें भी बक नामवाले राक्षसका संहार करके वे पाञ्चाल नगरमें चले गये ॥ ७३ ॥

तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन्, स्वविषयं चाभिजग्मुः ॥ ७४ ॥

वहाँ पाण्डवोंने द्रौपदीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और फिर अपनी राजधानी हस्तिनापुरमें लौट आये ॥ ७४ ॥

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः । प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ ७५ ॥

वहाँ कुशलपूर्वक रहते हुए उन्होंने द्रौपदीसे पाँच पुत्र उत्पन्न किये । युधिष्ठिरने प्रतिविन्ध्यको, भीमसेनने सुतसोमको, अर्जुनने श्रुतकीर्तिको, नकुलने शतानीकको और सहदेवने श्रुतकर्माको जन्म दिया ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरे लेभे । तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम ॥ ७६ ॥

भीमसेनोऽपि काश्यां बलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्काम् । तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास ॥७७॥

युधिष्ठिरने शिबिदेशके राजा गोवासनकी पुत्री देविकाको स्वयंवरमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे एक पुत्रको जन्म दिया; जिसका नाम यौधेय था । भीमसेनने भी काशिराजकी कन्या बलन्धराके साथ विवाह किया; उसे प्राप्त करनेके लिये बल एवं पराक्रमका शुल्क रक्खा गया था अर्थात् यह शर्त थी कि जो अधिक बलवान् हो, वही उसके साथ विवाह कर सकता है । भीमसेनने उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न किया, जिसका नाम सर्वग था ॥ ७६-७७ ॥

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत् । स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली । तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीव गुणसम्पन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत् ॥ ७८ ॥

अर्जुनने द्वारकामें जाकर मङ्गलमय वचन बोलनेवाली वासुदेवकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसे लेकर कुशलपूर्वक अपनी राजधानीमें चले आये । वहाँ उसके गर्भसे अत्यन्त गुणसम्पन्न अभिमन्यु नामक पुत्रको उत्पन्न किया; जो वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको बहुत प्रिय था ॥ ७८ ॥

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत् । तस्यां पुत्रं निरमित्रं नामाजनयत् ॥ ७९ ॥

नकुलने चेदिनरेशकी पुत्री करेणुमतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया और उसके गर्भसे निरमित्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥

सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे मद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरम्। तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम ॥ ८० ॥

सहदेवने भी मद्रदेशकी राजकुमारी विजयाको स्वयंवरमें प्राप्त किया। वह मद्रराज द्युतिमान्‌की पुत्री थी। उसके गर्भसे उन्होंने सुहोत्र नामक पुत्रको जन्म दिया ॥ ८० ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास ॥ ८१ ॥

भीमसेनने पहले ही हिडिम्बाके गर्भसे घटोत्कच नामक राक्षसजातीय पुत्रको उत्पन्न किया था ॥ ८१ ॥

इत्येत एकादश पाण्डवानां पुत्राः। तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार ये पाण्डवोंके ग्यारह पुत्र हुए। इनमेंसे अभिमन्युका ही वंश चला ॥ ८२ ॥

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम। तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत्। तमुत्सङ्गेन प्रतिजग्राह पृथा नियोगात् पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य, षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ॥ ८३ ॥

अभिमन्युने विराटकी पुत्री उत्तराके साथ विवाह किया था। उसके गर्भसे अभिमन्युके एक पुत्र हुआ; जो मरा हुआ था। पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे कुन्तीने उसे अपनी गोदमें ले लिया। उन्होंने यह आश्वासन दिया कि छः महीनेके इस मरे हुए बालकको मैं जीवित कर दूँगा ॥ ८३ ॥

स भगवता वासुदेवेनासंजातबलवीर्यपराक्रमोऽकालजातोऽस्त्राग्निना दग्धस्तेजसा स्वेन संजीवितः। जीवयित्वा चैनमुवाच—परिक्षीणे कुले जातो भवत्वयं परिक्षिन्नामेति ॥ ८४ ॥

परिक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरम्। तस्यां भवान् जनमेजयः ॥ ८५ ॥

अश्वत्थामाके अस्त्रकी अग्निसे झुलसकर वह असमयमें (समयसे पहले) ही पैदा हो गया था। उसमें बल, वीर्य और पराक्रम नहीं था। परंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने तेजसे जीवित कर दिया। इसको जीवित करके वे इस प्रकार बोले—'इस कुलके परिक्षीण (नष्ट) होनेपर इसका जन्म हुआ है; अतः यह बालक परिक्षित् नामसे विख्यात हो।' परिक्षित्‌ने तुम्हारी माता माद्रवतीके साथ विवाह किया, जिसके गर्भसे जनमेजय नामक पुत्र उत्पन्न हुए ॥ ८४-८५ ॥

भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते; शतानीकः शङ्कुकर्णश्च। शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ ८६ ॥

तुम्हारी पत्नी वपुष्टमाके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए—शतानीक और शङ्कुकर्ण। शतानीककी पत्नी विदेहराजकुमारीके गर्भसे उत्पन्न हुए पुत्रका नाम है अश्वमेधदत्त ॥ ८६ ॥

एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्तितः; धन्यः पुण्यः परमपवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियमवद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः स्वधर्मनिरतैः प्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैस्त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ॥ ८७ ॥

यह पूरु तथा पाण्डवोंके वंशका वर्णन किया गया। धन और पुण्यकी प्राप्ति करानेवाला एवं परम पवित्र है। नियमपरायण ब्राह्मणों, अपने धर्ममें स्थित प्रजापालक क्षत्रियों, वैश्यों तथा तीनों वर्णोंकी सेवा करनेवाले श्रद्धालु शूद्रोंको सदा इसका श्रवण एवं स्वाध्याय करना चाहिये ॥ ८७ ॥

इतिहासमिमं पुण्यमशेषतः श्रावयिष्यन्ति नराः श्रोष्यन्ति वा नियतात्मानो विमत्सरा मैत्रा वेदपरास्तेऽपि स्वर्गजितः पुण्यलोका भवन्ति सदा देवब्राह्मणमनुष्याणां मान्याः सम्पूज्याश्च ॥ ८८ ॥

जो पुण्यात्मा मनुष्य मनको वशमें करके ईर्ष्या छोड़कर सबके प्रति मैत्रीभाव रखते हुए वेदपरायण हो इस सम्पूर्ण पुण्यमय इतिहासको सुनावेंगे अथवा सुनेंगे वे स्वर्गलोकके अधिकारी होंगे और देवता, ब्राह्मण तथा मनुष्योंके लिये सदा आदरणीय तथा पूजनीय होंगे ॥ ८८ ॥

परं हीदं भारतं भगवता व्यासेन प्रोक्तं पावनं ये ब्राह्मणादयो वर्णाः श्रद्दधाना अमत्सरा मैत्रा वेदसम्पन्नाः श्रोष्यन्ति, तेऽपि स्वर्गजितः सुकृतिनोऽशोच्याः कृताकृते भवन्ति ॥ ८९ ॥

जो ब्राह्मण आदि वर्णोंके लोग मात्सर्यरहित, मैत्रीभावसे संयुक्त और वेदाध्ययनसे सम्पन्न हो श्रद्धापूर्वक भगवान् व्यासके द्वारा कहे हुए इस परम पावन महाभारत ग्रन्थको सुनेंगे, वे भी स्वर्गके अधिकारी और पुण्यात्मा होंगे तथा उनके लिये इस बातका शोक नहीं रह जायगा कि उन्होंने अमुक कर्म क्यों किया और अमुक कर्म क्यों नहीं किया ॥ ८९ ॥

भवति चात्र श्लोकः—

इदं हि वेदैः समितं पवित्रमपि चोत्तमम् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं नियतात्मभिः ॥९०॥

इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

'यह महाभारत वेदोंके समान पवित्र, उत्तम तथा धन, यश और आयुकी प्राप्ति करानेवाला है। मनको वशमें रखनेवाले साधु पुरुषोंको सदैव इसका श्रवण करना चाहिये ॥९०॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पूरुवंशानुकीर्तने पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पूरुवंशानुकीर्तनविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

महाभिषको ब्रह्माजीका शाप तथा शापग्रस्त वसुओंके साथ गङ्गाकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो राजाऽऽसीत् पृथिवीपतिः ।
महाभिष इति ख्यातः सत्यवाक् सत्यविक्रमः ॥ १ ॥
सोऽश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
तोषयामास देवेशं स्वर्गं लेभे ततः प्रभुः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न महाभिष नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो सत्यवादी होनेके साथ ही सत्यपराक्रमी भी थे। उन्होंने एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंद्वारा देवेश्वर इन्द्रको संतुष्ट किया और उन यज्ञोंके पुण्यसे उन शक्तिशाली नरेशने स्वर्गलोक प्राप्त कर लिया ॥ १-२ ॥

ततः कदाचिद् ब्रह्माणमुपासांचक्रिरे सुराः ।
तत्र राजर्षयो ह्यासन् स च राजा महाभिषः ॥ ३ ॥

तदनन्तर एक समय सब देवता ब्रह्माजीकी सेवामें उनके समीप बैठे हुए थे। वहाँ बहुत-से राजर्षि तथा पूर्वोक्त राजा महाभिष भी उपस्थित थे ॥ ३ ॥

अथ गङ्गा सरिच्छ्रेष्ठा समुपायात् पितामहम् ।
तस्या वासः समुद्धूतं मारुतेन शशिप्रभम् ॥ ४ ॥

इसी समय सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा ब्रह्माजीके समीप आयी। उस समय वायुके झोंकेसे उसके शरीरका चाँदनीके समान उज्ज्वल वस्त्र सहसा ऊपरकी ओर उठ गया ॥ ४ ॥

ततोऽभवन् सुरगणाः सहसावाङ्मुखास्तदा ।
महाभिषस्तु राजर्षिरशङ्को दृष्टवान् नदीम् ॥ ५ ॥

यह देख सब देवताओंने तुरंत अपना मुँह नीचेकी ओर कर लिया; किंतु राजर्षि महाभिष निःशङ्क होकर देवनदीकी ओर देखते ही रह गये ॥ ५ ॥

सोऽपध्यातो भगवता ब्रह्मणा तु महाभिषः ।
उक्तश्च जातो मर्त्येषु पुनर्लोकानवाप्स्यसि ॥ ६ ॥
यया ऽऽहृतमनाश्चासि गङ्गया त्वं हि दुर्मते ।
सा ते वै मानुषे लोके विप्रियाण्याचरिष्यति ॥ ७ ॥

तब भगवान् ब्रह्माने महाभिषको शाप देते हुए कहा—'दुर्मते! तुम मनुष्योंमें जन्म लेकर फिर पुण्यलोकमें आओगे। जिस गङ्गाने तुम्हारे चित्तको चुरा लिया है, वही मनुष्यलोकमें तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करेगी ॥ ६-७ ॥

यदा ते भविता मन्युस्तदा शापाद् विमोक्ष्यसे ।

'जब तुम्हें गङ्गापर क्रोध आ जायगा, तब तुम भी शापसे छूट जाओगे।'

वैशम्पायन उवाच

स चिन्तयित्वा नृपतिर्नृपानन्यांस्तपोधनान् ॥ ८ ॥
प्रतीपं रोचयामास पितरं भूरितेजसम् ।
महाभिषं तु तं दृष्ट्वा नदी धैर्याच्च्युतं नृपम् ॥ ९ ॥
तमेव मनसा ध्यायन्त्युपावर्तत् सरिद्वरा ।
सा तु विध्वस्तवपुषः कश्मलाभिहतान् नृप ॥१०॥
ददर्श पथि गच्छन्ती वसून् देवान् दिवौकसः ।
तथारूपांश्च तान् दृष्ट्वा पप्रच्छ सरितां वरा ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा महाभिषने अन्य बहुत-से तपस्वी राजाओंका चिन्तन करके महातेजस्वी राजा प्रतीपको ही अपना पिता बनानेके योग्य चुना—उन्हींको पसंद किया। महानदी गङ्गा राजा महाभिषको धैर्य खोते देख मन-ही-मन उन्हींका चिन्तन करती हुई लौटी। मार्गसे जाती हुई गङ्गाने वसुदेवताओंको देखा। उनका शरीर स्वर्गसे नीचे गिर रहा था। वे मोहाच्छन्न एवं मलिन दिखायी दे रहे थे। उन्हें इस रूपमें देखकर नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गाने पूछा—॥ ८–११ ॥

किमिदं नष्टरूपाः स्थ कच्चित् क्षेमं दिवौकसाम् ।
तामूचुर्वसवो देवाः शप्ताः स्मो वै महानदि ॥१२॥
अल्पेऽपराधे संरम्भाद् वसिष्ठेन महात्मना ।
विमूढा हि वयं सर्वे प्रच्छन्नमृषिसत्तमम् ॥१३॥
संध्यां वसिष्ठमासीनं तमत्यभिसृताः पुरा ।
तेन कोपाद् वयं शप्ता योनौ सम्भवतेति ह ॥१४॥

'तुमलोगोंका दिव्य रूप नष्ट कैसे हो गया? देवता सकुशल तो हैं न?' तब वसुदेवताओंने गङ्गासे कहा—'महानदी! महात्मा वशिष्ठने थोड़े-से अपराधपर क्रोधमें आकर हमें शाप दे दिया है। पहलेकी बात है एक दिन जब वशिष्ठजी पेड़ोंकी आड़में संध्योपासना कर रहे थे, हम सब मोहवश उनका उल्लङ्घन करके चले गये (और उनकी धेनुका अपहरण कर लिया)। इससे कुपित होकर उन्होंने हमें शाप दिया कि 'तुमलोग मनुष्ययोनिमें जन्म लो'॥ १२—१४॥

न निवर्तयितुं शक्यं यदुक्तं ब्रह्मवादिना।
त्वमस्मान् मानुषी भूत्वा सृज पुत्रान् वसून् भुवि॥१५॥

'उन ब्रह्मवादी महर्षिने जो बात कह दी है, वह टाली नहीं जा सकती; अतः हमारी प्रार्थना है कि तुम पृथ्वीपर मानवपत्नी होकर हम वसुओंको अपने पुत्ररूपसे उत्पन्न करो॥१५॥

न मानुषीणां जठरं प्रविशेम वयं शुभे।
इत्युक्ता तैश्च वसुभिस्तथेत्युक्त्वाब्रवीदिदम्॥१६॥

'शुभे! हमें मानुषी स्त्रियोंके उदरमें प्रवेश न करना पड़े, इसीलिये हमने यह अनुरोध किया है।' वसुओंके ऐसा कहनेपर गङ्गाजी 'तथास्तु' कहकर यों बोलीं॥ १६॥

गङ्गोवाच

मर्त्येषु पुरुषश्रेष्ठः को वः कर्ता भविष्यति।

गङ्गाजीने कहा—वसुओ! मर्त्यलोकमें ऐसे श्रेष्ठ पुरुष कौन हैं; जो तुम लोगोंके पिता होंगे।

वसव ऊचुः

प्रतीपस्य सुतो राजा शान्तनुर्लोकविश्रुतः।
भविता मानुषे लोके स नः कर्ता भविष्यति॥१७॥

वसुगण बोले—प्रतीपके पुत्र राजा शान्तनु लोकविख्यात साधु पुरुष होंगे। मनुष्यलोकमें वे ही हमारे जनक होंगे॥१७॥

गङ्गोवाच

ममाप्येवं मतं देवा यथा मां वदतानघाः।
प्रियं तस्य करिष्यामि युष्माकं चैतदीप्सितम्॥१८॥

गङ्गाजीने कहा—निष्पाप देवताओ! तुमलोग जैसा कहते हो, वैसा ही मेरा भी विचार है। मैं राजा शान्तनुका प्रिय करूँगी और तुम्हारे इस अभीष्ट कार्यको भी सिद्ध करूँगी॥१८॥

वसव ऊचुः

जातान् कुमारान् स्वानप्सु प्रक्षेप्तुं वै त्वमर्हसि।
यथा न चिरकालं नो निष्कृतिः स्यात् त्रिलोकगे॥१९॥

वसुगण बोले—तीनों लोकोंमें प्रवाहित होनेवाली गङ्गे! हमलोग जब तुम्हारे गर्भसे जन्म लें, तब तुम पैदा होते ही हमें अपने जलमें फेंक देना; जिससे शीघ्र ही हमारा मर्त्यलोकसे छुटकारा हो जाय॥ १९॥

गङ्गोवाच

एवमेतत् करिष्यामि पुत्रस्तस्य विधीयताम्।
नास्य मोघः संगमः स्यात् पुत्रहेतोर्मया सह॥२०॥

गङ्गाजीने कहा—ठीक है, मैं ऐसा ही करूँगी; परंतु राजाका मेरे साथ पुत्रके लिये किया हुआ सम्बन्ध व्यर्थ न हो, इसलिये उनके लिये एक पुत्रकी भी व्यवस्था होनी चाहिये॥२०॥

वसव ऊचुः

तुरीयार्धं प्रदास्यामो वीर्यस्यैकैकशो वयम्।
तेन वीर्येण पुत्रस्ते भविता तस्य चेप्सितः॥२१॥

वसुगण बोले—हम सब लोग अपने तेजका एक-एक अष्टमांश देंगे। उस तेजसे जो तुम्हारा एक पुत्र होगा, वह उस राजाकी इच्छाके अनुरूप होगा॥ २१॥

न सम्पत्स्यति मर्त्येषु पुनस्तस्य तु संततिः।
तस्मादपुत्रः पुत्रस्ते भविष्यति स वीर्यवान्॥२२॥

किंतु मर्त्यलोकमें उसकी कोई संतान न होगी। अतः तुम्हारा वह पुत्र संतानहीन होनेके साथ ही अत्यन्त पराक्रमी होगा॥२२॥

एवं ते समयं कृत्वा गङ्गया वसवः सह।
जग्मुः संहृष्टमनसो यथासंकल्पमञ्जसा॥२३॥

इस प्रकार गङ्गाजीके साथ शर्त करके वसुगण प्रसन्नतापूर्वक अपनी इच्छाके अनुसार चले गये॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि महाभिषोपाख्याने षण्णवतितमोऽध्यायः॥ ९६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें महाभिषोपाख्यानविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९६॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

राजा प्रतीपका गङ्गाको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करना और शान्तनुका जन्म, राज्याभिषेक तथा गङ्गासे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीपो राजाऽऽसीत् सर्वभूतहितः सदा।
निषसाद समा बह्वीर्गङ्गाद्वारगतो जपन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर इस पृथ्वीपर राजा प्रतीप राज्य करने लगे। वे सदा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें संलग्न रहते थे। एक समय महाराज प्रतीप गङ्गा

(हरिद्वार) में गये और बहुत वर्षोंतक जप करते हुए एक आसनपर बैठे रहे ॥ १ ॥

तस्य रूपगुणोपेता गङ्गा स्त्रीरूपधारिणी ।
उत्तीर्य सलिलात् तस्माल्लोभनीयतमाकृतिः ॥ २ ॥
अधीयानस्य राजर्षेर्दिव्यरूपा मनस्विनी ।
दक्षिणं शालसंकाशमूरुं भेजे शुभानना ॥ ३ ॥

उस समय मनस्विनी गङ्गा सुन्दर रूप और उत्तम गुणोंसे युक्त युवती स्त्रीका रूप धारण करके जलसे निकलीं और स्वाध्यायमें लगे हुए राजर्षि प्रतीपके शाल-जैसे विशाल दाहिने ऊरु (जाँघ) पर जा बैठीं । उस समय उनकी आकृति बड़ी लुभावनी थी; रूप देवाङ्गनाओंके समान था और मुख अत्यन्त मनोहर था ॥ २-३ ॥

प्रतीपस्तु महीपालस्तामुवाच यशस्विनीम् ।
करोमि किं ते कल्याणि प्रियं यत् तेऽभिकाङ्क्षितम् ॥

अपनी जाँघपर बैठी हुई उस यशस्विनी नारीसे राजा प्रतीपने पूछा—'कल्याणि ! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? तुम्हारी क्या इच्छा है ?' ॥ ४ ॥

स्त्र्युवाच

त्वामहं कामये राजन् भजमानां भजस्व माम् ।
त्यागः कामवतीनां हि स्त्रीणां सद्भिर्विगर्हितः ॥ ५ ॥

स्त्री बोली—राजन् ! मैं आपको ही चाहती हूँ । आपके प्रति मेरा अनुराग है, अतः आप मुझे स्वीकार करें; क्योंकि कामके अधीन होकर अपने पास आयी हुई स्त्रियों-का परित्याग साधु पुरुषोंने निन्दित माना है ॥ ५ ॥

प्रतीप उवाच

नाहं परस्त्रियं कामाद् गच्छेयं वरवर्णिनि ।
न चासवर्णां कल्याणि धर्म्यमेतद्धि मे व्रतम् ॥ ६ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! मैं कामवश परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं कर सकता । जो अपने वर्णकी न हो, उससे भी मैं सम्बन्ध नहीं रख सकता । कल्याणि ! यह मेरा धर्मानुकूल व्रत है ॥ ६ ॥

स्त्र्युवाच

नाश्रेयस्यस्मि नागम्या न वक्तव्या च कर्हिचित् ।
भजन्तीं भज मां राजन् दिव्यां कन्यां वरस्त्रियम् ॥ ७ ॥

स्त्री बोली – राजन् ! मैं अशुभ या अमंगल करनेवाली नहीं हूँ, समागमके अयोग्य भी नहीं हूँ और ऐसी भी नहीं कि कभी कोई मुझपर कलङ्क लगावे । मैं आपके प्रति अनुरक्त होकर आयी हुई दिव्य कन्या एवं सुन्दरी स्त्री हूँ । अतः आप मुझे स्वीकार करें ॥ ७ ॥

प्रतीप उवाच

त्वया निवृत्तमेतत् तु यन्मां चोदयसि प्रियम् ।
अन्यथा प्रतिपन्नं मां नाशयेद् धर्मविप्लवः ॥ ८ ॥

प्रतीपने कहा—सुन्दरी ! तुम जिस प्रिय मनोरथकी पूर्तिके लिये मुझे प्रेरित कर रही हो, उसका निराकरण भी तुम्हारे द्वारा ही हो गया । यदि मैं धर्मके विपरीत तुम्हारा यह प्रस्ताव स्वीकार कर लूँ तो धर्मका यह विनाश मेरा भी नाश कर डालेगा ॥

प्राप्य दक्षिणमूरुं मे त्वमाश्लिष्टा वराङ्गने ।
अपत्यानां स्नुषाणां च भीरु विद्ध्येतदासनम् ॥ ९ ॥

वराङ्गने ! तुम मेरी दाहिनी जाँघपर आकर बैठी हो । भीरु ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह पुत्र, पुत्री तथा पुत्रवधूका आसन है ॥ ९ ॥

सव्योरुः कामिनीभोग्यस्त्वया स च विवर्जितः ।
तस्मादहं नाचरिष्ये त्वयि कामं वराङ्गने ॥ १० ॥

पुरुषकी बायीं जाँघ ही कामिनीके उपभोगके योग्य है; किंतु तुमने उसका त्याग कर दिया है । अतः वराङ्गने ! मैं तुम्हारे प्रति कामयुक्त आचरण नहीं करूँगा ॥ १० ॥

स्नुषा मे भव सुश्रोणि पुत्रार्थं त्वां वृणोम्यहम् ।
स्नुषापक्षं हि वामोरु त्वमागम्य समाश्रिता ॥ ११ ॥

सुश्रोणि ! तुम मेरी पुत्रवधू हो जाओ । मैं अपने पुत्रके लिये तुम्हारा वरण करता हूँ; क्योंकि वामोरु ! तुमने यहाँ आकर मेरी उसी जाँघका आश्रय लिया है, जो पुत्रवधूके पक्षकी है ॥

स्त्र्युवाच

एवमप्यस्तु धर्मज्ञ संयुज्येयं सुतेन ते ।
त्वद्भक्त्या तु भजिष्यामि प्रख्यातं भारतं कुलम् ॥ १२ ॥

स्त्री बोली –धर्मज्ञ नरेश ! आप जैसा कहते हैं, वैसा भी हो सकता है । मैं आपके पुत्रके साथ संयुक्त होऊँगी । आपके प्रति जो मेरी भक्ति है, उसके कारण मैं विख्यात भरतवंशका सेवन करूँगी ॥ १२ ॥

पृथिव्यां पार्थिवा ये च तेषां यूयं परायणम् ।
गुणा न हि मया शक्या वक्तुं वर्षशतैरपि ॥ १३ ॥

पृथ्वीपर जितने राजा हैं, उन सबके आपलोग उत्तम आश्रय हैं । सौ वर्षोंमें भी आपलोगोंके गुणोंका वर्णन मैं नहीं कर सकती ॥ १३ ॥

कुलस्य ये वः प्रथितास्तत्साधुत्वमथोत्तमम् ।
समयेनेह धर्मज्ञ आचरेयं च यद् विभो ॥ १४ ॥
तत् सर्वमेव पुत्रस्ते न मीमांसेत कर्हिचित् ।
एवं वसन्ती पुत्रे ते वर्धयिष्याम्यहं रतिम् ॥ १५ ॥
पुत्रैः पुण्यैः प्रियैश्चैव स्वर्गं प्राप्स्यति ते सुतः ।

आपके कुलमें जो विख्यात राजा हो गये हैं, उनकी साधुता सर्वोपरि है। धर्मज्ञ ! मैं एक शर्तके साथ आपके पुत्रसे विवाह करूँगी। प्रभो ! मैं जो कुछ भी आचरण करूँ, वह सब आपके पुत्रको स्वीकार होना चाहिये। वे उसके विषयमें कभी कुछ विचार न करें। इस शर्तपर रहती हुई मैं आपके पुत्रके प्रति अपना प्रेम बढ़ाऊँगी। मुझसे जो पुण्यात्मा एवं प्रिय पुत्र उत्पन्न होंगे, उनके द्वारा आपके पुत्रको स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ १४-१५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्ता तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत ॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा प्रतीपने 'तथास्तु' कहकर उसकी शर्त स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् वह वहीं अन्तर्धान हो गयी ॥ १६ ॥

पुत्रजन्म प्रतीक्षन् वै स राजा तदधारयत्।
एतस्मिन्नेव काले तु प्रतीपः क्षत्रियर्षभः ॥१७॥
तपस्तेपे सुतस्यार्थे सभार्यः कुरुनन्दन।

इसके बाद पुत्रके जन्मकी प्रतीक्षा करते हुए राजा प्रतीपने उसकी बात याद रक्खी। कुरुनन्दन ! इन्हीं दिनों क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ प्रतीप अपनी पत्नीको साथ लेकर पुत्रके लिये तपस्या करने लगे ॥ १७½ ॥

(प्रतीपस्य तु भार्यायां गर्भः श्रीमानवर्धत।
श्रिया परमया युक्तः शरच्छुक्ले यथा शशी ॥
ततस्तु दशमे मासि प्राजायत रविप्रभम्।
कुमारं देवगर्भाभं प्रतीपमहिषी तदा ॥)
तयोः समभवत् पुत्रो वृद्धयोः स महाभिषः ॥१८॥

प्रतीपकी पत्नीकी कुक्षिमें एक तेजस्वी गर्भका आविर्भाव हुआ, जो शरद् ऋतुके शुक्ल पक्षमें परम कान्तिमान् चन्द्रमाकी भाँति प्रतिदिन बढ़ने लगा। तदनन्तर दसवाँ मास प्राप्त होनेपर प्रतीपकी महारानीने एक देवोपम पुत्रको जन्म दिया, जो सूर्यके समान प्रकाशमान था। उन बूढ़े राजदम्पतिके यहाँ पूर्वोक्त राजा महाभिष ही पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

शान्तस्य जज्ञे संतानस्तस्मादासीत् स शान्तनुः।

शान्त पिताकी सन्तान होनेसे वे शान्तनु कहलाये।

(तस्य जातस्य कृत्यानि प्रतीपोऽकारयत् प्रभुः।
जातकर्मादि विप्रेण वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

शक्तिशाली राजा प्रतीपने उस बालकके आवश्यक कृत्य (संस्कार) करवाये। ब्राह्मण पुरोहितने वेदोक्त क्रियाओंद्वारा उसके जात-कर्म आदि सम्पन्न किये ॥

नामकर्म च विप्रास्तु चक्रुः परमसत्कृतम्।
शान्तनोरवनीपाल वेदोक्तैः कर्मभिस्तदा ॥

जनमेजय ! तदनन्तर बहुत-से ब्राह्मणोंने मिलकर वे[दोक्त] विधियोंके अनुसार शान्तनुका नामकरण-संस्कार भी कि[या।]

ततः संवर्धितो राजा शान्तनुर्लोकपालकः।
स तु लेभे परां निष्ठां प्राप्य धर्मभृतां वरः ॥
धनुर्वेदे च वेदे च गतिं स परमां गतः।
यौवनं चापि सम्प्राप्तः कुमारो वदतां वरः ॥)

तत्पश्चात् बड़े होनेपर राजकुमार शान्तनु लोकर[क्षाका] कार्य करने लगे। वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने धनु[र्वेदमें] उत्तम योग्यता प्राप्त करके वेदाध्ययनमें भी ऊँची [स्थिति] प्राप्त की। वक्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ वे राजकुमार धीरे[-धीरे] युवावस्थामें पहुँच गये ॥

संस्मरंश्चाक्षयाँल्लोकान् विजातान् स्वेन कर्मणा ॥[१९॥]
पुण्यकर्मकृदेवासीच्छान्तनुः कुरुसत्तमः।
प्रतीपः शान्तनुं पुत्रं यौवनस्थं ततोऽन्वशात् ॥[२०॥]

अपने सत्कर्मोंद्वारा उपार्जित अक्षय पुण्यलोकोंका स[्मरण] करके कुरुश्रेष्ठ शान्तनु सदा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानमें ही [लगे] रहते थे। युवावस्थामें पहुँचे हुए राजकुमार शान्तनुको [राजा] प्रतीपने आदेश दिया— ॥ १९-२० ॥

पुरा स्त्री मां समभ्यागाच्छान्तनो भूतये तव।
त्वामाव्रजेद् यदि रहः सा पुत्र वरवर्णिनी ॥[२१॥]
कामयानाभिरूपाढ्या दिव्या स्त्री पुत्रकाम्यया।
सा त्वया नानुयोक्तव्या कासि कस्यासि चाङ्गने ॥[२२॥]

'शान्तनो ! पूर्वकालमें मेरे समीप एक दिव्य नारी [आयी] थी। उसका आगमन तुम्हारे कल्याणके लिये ही हुआ [था।] बेटा ! यदि वह सुन्दरी कभी एकान्तमें तुम्हारे पास [आये,] तुम्हारे प्रति कामभावसे युक्त हो और तुमसे पुत्र पा[नेकी] इच्छा रखती हो, तो तुम उत्तम रूपसे सुशोभित उस [दिव्य] नारीसे 'अङ्गने ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो' इत्यादि प्रश्न न करना ॥ २१-२२ ॥

यच्च कुर्यान्न तत् कर्म सा प्रष्टव्या त्वयानघ।
मन्नियोगाद् भजन्तीं तां भजेथा इत्युवाच तम् ॥[२३॥]

'अनघ ! वह जो कार्य करे, उसके विषयमें भी [तुम्हें] कुछ पूछ-ताछ नहीं करनी चाहिये। यदि वह तुम्हें [चाहे] तो मेरी आज्ञासे उसे अपनी पत्नी बना लेना।' ये [बातें] राजा प्रतीपने अपने पुत्रसे कहीं ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं संदिश्य तनयं प्रतीपः शान्तनुं तदा।
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं वनं राजा विवेश ह ॥[२४॥]

वैशम्पायनजी कहते हैं—अपने पुत्र शान्त[नुको] ऐसा आदेश देकर राजा प्रतीपने उसी समय उन्हें अपने रा[ज्यपर] अभिषिक्त कर दिया और स्वयं वनमें प्रवेश किया ॥ २[४ ॥]

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजसमद्युतिः ।
बभूव मृगयाशीलः शान्तनुर्वनगोचरः ॥ २५ ॥

बुद्धिमान् राजा शान्तनु देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी थे। वे हिंसक पशुओंको मारनेके उद्देश्यसे वनमें घूमते रहते थे ॥ २५ ॥

स मृगान् महिषांश्चैव विनिघ्नन् राजसत्तमः ।
गङ्गामनुचचारैकः सिद्धचारणसेविताम् ॥ २६ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ शान्तनु हिंसक पशुओं और जंगली भैंसोंको मारते हुए सिद्ध एवं चारणोंसे सेवित गङ्गाजीके तटपर अकेले ही विचरण करते थे ॥ २६ ॥

स कदाचिन्महाराज ददर्श परमां स्त्रियम् ।
जाज्वल्यमानां वपुषा साक्षाच्छ्रियमिवापराम् ॥ २७ ॥

महाराज जनमेजय ! एक दिन उन्होंने एक परम सुन्दरी नारी देखी, जो अपने तेजस्वी शरीरसे ऐसी प्रकाशित हो रही थी, मानो साक्षात् लक्ष्मी ही दूसरा शरीर धारण करके आ गयी हो ॥ २७ ॥

सर्वानवद्यां सुदतीं दिव्याभरणभूषिताम् ।
सूक्ष्माम्बरधरामेकां पद्मोदरसमप्रभाम् ॥ २८ ॥

उसके सारे अङ्ग परम सुन्दर और निर्दोष थे। दाँत तो और भी सुन्दर थे। वह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित थी। उसके शरीरपर महीन साड़ी शोभा पा रही थी और कमलके भीतरी भागके समान उसकी कान्ति थी, वह अकेली थी ॥२८॥

तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूद् विस्मितो रूपसम्पदा ।
पिबन्निव च नेत्राभ्यां नातृप्यत नराधिपः ॥ २९ ॥

उसे देखते ही राजा शान्तनुके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, वे उसकी रूप-सम्पत्तिसे आश्चर्यचकित हो उठे और दोनों नेत्रोंद्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधाका पान करते हुए-से तृप्त नहीं होते थे ॥ २९ ॥

सा च दृष्ट्वैव राजानं विचरन्तं महाद्युतिम् ।
स्नेहादागतसौहार्दा नातृप्यत विलासिनी ॥ ३० ॥

वह भी वहाँ विचरते हुए महातेजस्वी राजा शान्तनुको देखते ही मुग्ध हो गयी। स्नेहवश उसके हृदयमें सौहार्दका उदय हो आया। वह विलासिनी राजाको देखते-देखते तृप्त नहीं होती थी ॥ ३० ॥

तामुवाच ततो राजा सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ।
देवी वा दानवी वा त्वं गन्धर्वी चाथ वाप्सराः ॥ ३१ ॥
यक्षी वा पन्नगी वापि मानुषी वा सुमध्यमे ।
याचे त्वां सुरगर्भाभे भार्या मे भव शोभने ॥ ३२ ॥

तब राजा शान्तनु उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें बोले—'सुमध्यमे ! तुम देवी, दानवी, गन्धर्वी, अप्सरा, यक्षी, नागकन्या अथवा मानवी, कुछ भी क्यों न होओ; देवकन्याके समान सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैं तुमसे याचना करता हूँ कि मेरी पत्नी हो जाओ' ॥ ३१-३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि शान्तनूपाख्याने सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें शान्तनूपाख्यानविषयक सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

(इस अध्यायमें ३२ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६ श्लोक और कुल ३८ श्लोक हैं)

अष्टनवतितमोऽध्यायः

शान्तनु और गङ्गाका कुछ शर्तोंके साथ सम्बन्ध, वसुओंका जन्म और शापसे उद्धार तथा भीष्मकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञः सस्मितं मृदु वल्गु च ।
(यशस्विनी च साऽऽगच्छच्छान्तनोर्भूतये तदा।
सा च दृष्ट्वा नृपश्रेष्ठं चरन्तं तीरमाश्रितम् ॥)
वसूनां समयं स्मृत्वाथाभ्यगच्छदनिन्दिता ॥ १ ॥
(प्रजार्थिनी राजपुत्रं शान्तनुं पृथिवीपतिम् ।
प्रतीपवचनं चापि संस्मृत्यैव स्वयं नृप ॥
कालोऽयमिति मत्वा सा वसूनां शापचोदिता ।)
उवाच चैव राज्ञः सा ह्लादयन्ती मनो गिरा ।
भविष्यामि महीपाल महिषी ते वशानुगा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा शान्तनुका मधुर मुसकानयुक्त मनोहर वचन सुनकर यशस्विनी गङ्गा उनकी ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये उनके पास आयीं। तटपर विचरते हुए उन नृपश्रेष्ठको देखकर सती साध्वी गङ्गाको वसुओंको दिये हुए वचनका स्मरण हो आया। साथ ही राजा प्रतीपकी बात भी याद आ गयी। तब यही उपयुक्त समय है, ऐसा मानकर वसुओंको मिले हुए शापसे प्रेरित हो वे स्वयं संतानोत्पादनकी इच्छासे पृथ्वीपति महाराज शान्तनुके समीप चली आयीं और अपनी मधुर वाणीसे महाराजके मनको आनन्द प्रदान करती हुई बोलीं—'भूपाल ! मैं आपकी महारानी बनूँगी एवं आपके अधीन रहूँगी ॥ १-२ ॥

यत् तु कुर्यामहं राजञ्छुभं वा यदि वाशुभम् ।
न तद् वारयितव्यास्मि न वक्तव्या तथाप्रियम् ॥ ३ ॥

'(परंतु एक शर्त है-) राजन्! मैं भला या बुरा जो कुछ भी करूँ, उसके लिये आपको मुझे नहीं रोकना चाहिये और मुझसे कभी अप्रिय वचन भी नहीं कहना चाहिये ॥ ३ ॥

एवं हि वर्तमानेऽहं त्वयि वत्स्यामि पार्थिव ।
वारिता विप्रियं चोक्ता त्यजेयं त्वामसंशयम् ॥ ४ ॥

'पृथ्वीपते ! ऐसा बर्ताव करनेपर ही मैं आपके समीप रहूँगी। यदि आपने कभी मुझे किसी कार्यसे रोका या अप्रिय वचन कहा तो मैं निश्चय ही आपका साथ छोड़ दूँगी' ॥ ४ ॥

तथेति सा यदा तूक्ता तदा भरतसत्तम ।
प्रहर्षमतुलं लेभे प्राप्य तं पार्थिवोत्तमम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय बहुत अच्छा कहकर राजाने जब उसकी शर्त मान ली, तब उन नृपश्रेष्ठको पतिरूपमें प्राप्त करके उस देवीको अनुपम आनन्द मिला ॥ ५ ॥

(रथमारोप्य तां देवीं जगाम स तया सह ।
सा च शान्तनुमभ्यागात् साक्षाल्लक्ष्मीरिवापरा ॥)

तब राजा शान्तनु देवी गङ्गाको रथपर बिठाकर उनके साथ अपनी राजधानीको चले गये । साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित होनेवाली गङ्गादेवी शान्तनुके साथ गयीं ॥

आसाद्य शान्तनुस्तां च बुभुजे कामतो वशी ।
न प्रष्टव्येति मन्वानो न स तां किंचिदूचिवान् ॥ ६ ॥

इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले राजा शान्तनु उस देवीको पाकर उसका इच्छानुसार उपभोग करने लगे । पिताका यह आदेश था कि उससे कुछ पूछना मत; अतः उनकी आज्ञा मानकर राजाने उससे कोई बात नहीं पूछी ॥ ६ ॥

स तस्याः शीलवृत्तेन रूपौदार्यगुणेन च ।
उपचारेण च रहस्तुतोष जगतीपतिः ॥ ७ ॥

उसके उत्तम शील-स्वभाव, सदाचार, रूप, उदारता, सद्गुण तथा एकान्त सेवासे महाराज शान्तनु बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७ ॥

दिव्यरूपा हि सा देवी गङ्गा त्रिपथगामिनी ।
मानुषं विग्रहं कृत्वा श्रीमन्तं वरवर्णिनी ॥ ८ ॥
भाग्योपनतकामस्य भार्या चोपनताभवत् ।
शान्तनोर्नृपसिंहस्य देवराजसमद्युतेः ॥ ९ ॥

त्रिपथगामिनी दिव्यरूपिणी देवी गङ्गा ही अत्यन्त सुन्दर मनुष्य-देह धारण करके देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी नृपशिरोमणि महाराज शान्तनुको, जिन्हें भाग्यसे इच्छानुसार सुख अपने-आप मिल रहा था, सुन्दरी पत्नीके रूपमें प्राप्त हुई थीं ॥ ८-९ ॥

सम्भोगस्नेहचातुर्यैर्हावभावसमन्वितैः ।
राजानं रमयामास यथा रेमे तथैव सः ॥ १० ॥

गङ्गादेवी हाव-भावसे युक्त सम्भोग-चातुरी और प्रणय-चातुरीसे राजाको जैसे-जैसे रमातीं, उसी-उसी प्रकार वे उनके साथ रमण करते थे ॥ १० ॥

स राजा रतिसक्तत्वादुत्तमस्त्रीगुणैर्हृतः ।
संवत्सरानृतून् मासान् बुबुधे न बहून् गतान् ॥ ११ ॥

उस दिव्य नारीके उत्तम गुणोंने उनके चित्तको चुरा लिया था; अतः वे राजा उसके साथ रति-भोगमें आसक्त हो गये । कितने ही वर्ष, ऋतु और मास व्यतीत हो गये, किंतु उसमें आसक्त होनेके कारण राजाको कुछ पता न चला ॥ ११ ॥

रममाणस्तया सार्धं यथाकामं नरेश्वरः ।
अष्टावजनयत् पुत्रांस्तस्याममरसंनिभान् ॥ १२ ॥

उसके साथ इच्छानुसार रमण करते हुए महाराज शान्तनुने उसके गर्भसे देवताओंके समान तेजस्वी आठ पुत्र उत्पन्न किये ॥ १२ ॥

जातं जातं च सा पुत्रं क्षिपत्यम्भसि भारत ।
प्रीणाम्यहं त्वामित्युक्त्वा गङ्गा स्रोतस्यमज्जयत् ॥ १३ ॥

भारत ! जो-जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे वह गङ्गाजीके जलमें फेंक देती और कहती—'(वत्स ! इस प्रकार शापसे मुक्त करके) मैं तुम्हें प्रसन्न कर रही हूँ ।' ऐसा कहकर गङ्गा प्रत्येक बालकको धारामें डुबो देती थी ॥ १३ ॥

तस्य तन्न प्रियं राज्ञः शान्तनोरभवद् तदा ।
न च तां किंचनोवाच त्यागाद् भीतो महीपतिः ॥ १४ ॥

पत्नीका यह व्यवहार राजा शान्तनुको अच्छा नहीं लगता था, तो भी वे उस समय उससे कुछ नहीं कहते थे । राजाको यह डर बना हुआ था कि कहीं यह मुझे छोड़कर चली न जाय ॥ १४ ॥

अथैनामष्टमे पुत्रे जाते प्रहसतीमिव ।
उवाच राजा दुःखार्तः परीप्सन् पुत्रमात्मनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर जब आठवाँ पुत्र उत्पन्न हुआ, तब हँसती हुई-सी अपनी स्त्रीसे राजाने अपने पुत्रका प्राण बचानेकी इच्छासे दुःखातुर होकर कहा—॥ १५ ॥

मा वधीः कस्य कासीति किं हिनत्सि सुतानिति ।
पुत्रघ्नि सुमहत् पापं सम्प्राप्तं ते सुगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अरी ! इस बालकका वध न कर, तू किसकी कन्या है ? कौन है ? क्यों अपने ही बेटोंको मारे डालती है ! पुत्र-घातिनि ! तुझे पुत्रहत्याका यह अत्यन्त निन्दित और भारी पाप लगा है' ॥ १६ ॥

स्त्र्युवाच

पुत्रकाम न ते हन्मि पुत्रं पुत्रवतां वर ।
जीर्णस्तु मम वासोऽयं यथा स समयः कृतः ॥ १७ ॥

स्त्री बोली—पुत्रकी इच्छा रखनेवाले नरेश ! तुम पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ हो। मैं तुम्हारे इस पुत्रको नहीं मारूँगी; परंतु यहाँ मेरे रहनेका समय अब समाप्त हो गया; जैसी कि पहले ही शर्त हो चुकी है ॥ १७ ॥

अहं गङ्गा जह्नुसुता महर्षिगणसेविता ।
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमुषिताहं त्वया सह ॥१८॥

मैं जह्नुकी पुत्री और महर्षियोंद्वारा सेवित गङ्गा हूँ। देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये तुम्हारे साथ रह रही थी ॥

इमेऽष्टौ वसवो देवा महाभागा महौजसः ।
वसिष्ठशापदोषेण मानुषत्वमुपागताः ॥१९॥

ये तुम्हारे आठ पुत्र महातेजस्वी महाभाग वसु देवता हैं। वसिष्ठजीके शाप-दोषसे ये मनुष्य-योनिमें आये थे ॥ १९ ॥

तेषां जनयिता नान्यस्त्वदृते भुवि विद्यते ।
मद्विधा मानुषी धात्री लोके नास्तीह काचन ॥२०॥

तुम्हारे सिवा दूसरा कोई राजा इस पृथ्वीपर ऐसा नहीं था, जो उन वसुओंका जनक हो सके। इसी प्रकार इस जगत्‌में मेरी-जैसी दूसरी कोई मानवी नहीं है, जो उन्हें गर्भमें धारण कर सके ॥ २० ॥

तस्मात् तज्जननीहेतोर्मानुषत्वमुपागता ।
जनयित्वा वसूनष्टौ जिता लोकास्त्वयाक्षयाः ॥२१॥

अतः इन वसुओंकी जननी होनेके लिये मैं मानव शरीर धारण करके आयी थी। राजन् ! तुमने आठ वसुओंको जन्म देकर अक्षय लोक जीत लिये हैं ॥ २१ ॥

देवानां समयस्त्वेष वसूनां संश्रुतो मया ।
जातं जातं मोक्षयिष्ये जन्मतो मानुषादिति ॥२२॥

वसु देवताओंकी यह शर्त थी और मैंने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी कि जो-जो वसु जन्म लेगा, उसे मैं जन्मते ही मनुष्य-योनिसे छुटकारा दिला दूँगी ॥ २२ ॥

तत् ते शापाद् विनिर्मुक्ता आपवस्य महात्मनः ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि पुत्रं पाहि महाव्रतम् ॥२३॥

इसलिये अब वे वसु महात्मा आपव (वसिष्ठ) के शापसे मुक्त हो चुके हैं। तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं जाऊँगी। तुम इस महान् व्रतधारी पुत्रका पालन करो ॥ २३ ॥

(अयं तव सुतस्तेषां वीर्येण कुलनन्दनः ।
सम्भूतोऽति जनानन्यान् भविष्यति न संशयः ॥)

यह तुम्हारा पुत्र सब वसुओंके पराक्रमसे सम्पन्न होकर अपने कुलका आनन्द बढ़ानेके लिये प्रकट हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि यह बालक बल और पराक्रममें दूसरे सब लोगोंसे बढ़कर होगा ॥

एष पर्यायवासो मे वसूनां संनिधौ कृतः ।
मत्प्रसूतिं विजानीहि गङ्गादत्तमिमं सुतम् ॥२४॥

यह बालक वसुओंमेंसे प्रत्येकके एक-एक अंशका आश्रय है—सम्पूर्ण वसुओंके अंशसे इसकी उत्पत्ति हुई है। मैंने तुम्हारे लिये वसुओंके समीप प्रार्थना की थी कि 'राजाका एक पुत्र जीवित रहे'। इसे मेरा बालक समझना और इसका नाम 'गङ्गादत्त' रखना ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मोत्पत्तावष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्मोत्पत्तिविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल २८½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

महर्षि वसिष्ठद्वारा वसुओंको शाप प्राप्त होनेकी कथा

शान्तनुरुवाच

आपवो नाम को न्वेष वसूनां किं च दुष्कृतम् ।
यस्याभिशापात् ते सर्वे मानुषीं योनिमागताः ॥ १ ॥

शान्तनुने पूछा—देवि ! ये आपव नामके महात्मा कौन हैं ? और वसुओंका क्या अपराध था, जिससे आपवके शापसे उन सबको मनुष्य-योनिमें आना पड़ा ॥ १ ॥

अनेन च कुमारेण त्वया दत्तेन किं कृतम् ।
यस्य चैव कृतेनायं मानुषेषु निवत्स्यति ॥ २ ॥

और तुम्हारे दिये हुए इस पुत्रने कौन-सा कर्म किया है। जिसके कारण यह मनुष्यलोकमें निवास करेगा ॥ २ ॥

ईशा वै सर्वलोकस्य वसवस्ते च वै कथम् ।
मानुषेषूदपद्यन्त तन्ममाचक्ष्व जाह्नवि ॥ ३ ॥

जाह्नवि ! वसु तो समस्त लोकोंके अधीश्वर हैं, वे कैसे मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुए ? यह सब बात मुझे बताओ ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता तदा गङ्गा राजानमिदमब्रवीत् ।
भर्तारं जाह्नवी देवी शान्तनुं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय ! अपने पति राजा शान्तनुके इस प्रकार पूछनेपर जह्नु-पुत्री गङ्गादेवीने उनसे इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

गङ्गोवाच

यं लेभे वरुणः पुत्रं पुरा भरतसत्तम ।
वसिष्ठनामा स मुनिः ख्यात आपव इत्युत ॥ ५ ॥

गङ्गा बोलीं—भरतश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें वरुणने जिन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त किया था, वे वसिष्ठ नामक मुनि ही 'आपव' नामसे विख्यात हैं ॥ ५ ॥

तस्याश्रमपदं पुण्यं मृगपक्षिसमन्वितम् ।
मेरोः पार्श्वे नगेन्द्रस्य सर्वर्तुकुसुमावृतम् ॥ ६ ॥

गिरिराज मेरुके पार्श्वभागमें उनका पवित्र आश्रम है; जो मृग और पक्षियोंसे भरा रहता है। सभी ऋतुओंमें विकसित होनेवाले फूल उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते हैं ॥६॥

स वारुणिस्तपस्तेपे तस्मिन् भरतसत्तम ।
वने पुण्यकृतां श्रेष्ठः स्वादुमूलफलोदके ॥ ७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! उस वनमें स्वादिष्ट फल, मूल और जलकी सुविधा थी, पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठ उसीमें तपस्या करते थे ॥ ७ ॥

दक्षस्य दुहिता या तु सुरभीत्यभिशब्दिता ।
गां प्रजाता तु सा देवी कश्यपाद् भरतर्षभ ॥ ८ ॥

महाराज ! दक्ष प्रजापतिकी पुत्रीने, जो देवी सुरभि नामसे विख्यात है, कश्यपजीके सहवाससे एक गौको जन्म दिया ॥

अनुग्रहार्थं जगतः सर्वकामदुहां वरा ।
तां लेभे गां तु धर्मात्मा होमधेनुं स वारुणिः ॥ ९ ॥

वह गौ सम्पूर्ण जगत्पर अनुग्रह करनेके लिये प्रकट हुई थी तथा समस्त कामनाओंको देनेवालोंमें श्रेष्ठ थी। वरुणपुत्र धर्मात्मा वसिष्ठने उस गौको अपनी होमधेनुके रूपमें प्राप्त किया ॥

सा तस्मिंस्तापसारण्ये वसन्ती मुनिसेविते ।
चचार पुण्ये रम्ये च गौरपेतभया तदा ॥१०॥

वह गौ मुनियोंद्वारा सेवित उस पवित्र एवं रमणीय तापस-वनमें रहती हुई सब ओर निर्भय होकर चरती थी ॥ १० ॥

अथ तद् वनमाजग्मुः कदाचिद् भरतर्षभ ।
पृथ्वाद्या वसवः सर्वे देवा देवर्षिसेवितम् ॥११॥

भरत श्रेष्ठ ! एक दिन उस देवर्षिसेवित वनमें पृथु आदि वसु तथा सम्पूर्ण देवता पधारे ॥ ११ ॥

ते सदारा वनं तच्च व्यचरन्त समन्ततः ।
रेमिरे रमणीयेषु पर्वतेषु वनेषु च ॥१२॥

वे अपनी स्त्रियोंके साथ उस वनमें चारों ओर विचरने तथा रमणीय पर्वतों और वनोंमें रमण करने लगे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्याथ भार्या तु वसोर्वासवविक्रम ।
संचरन्ती वने तस्मिन् गां ददर्श सुमध्यमा ॥१३॥

इन्द्रके समान पराक्रमी महीपाल ! उन वसुओंमेंसे एककी सुन्दरी पत्नीने उस वनमें घूमते समय उस गौको देखा ॥१३॥

नन्दिनीं नाम राजेन्द्र सर्वकामधुगुत्तमाम् ।
सा विस्मयसमाविष्टा शीलद्रविणसम्पदा ॥१४॥

राजेन्द्र ! सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवालोंमें उत्तम नन्दिनी नामवाली उस गायको देखकर उसकी शीलसम्पत्तिसे वह वसु-पत्नी आश्चर्यचकित हो उठी ॥ १४ ॥

द्यवे वै दर्शयामास तां गां गोवृषभेक्षण ।
आपीनां च सुदोग्ध्रीं च सुवालधिखुरां शुभाम् ॥१५॥
उपपन्नां गुणैः सर्वैः शीलेनानुत्तमेन च ।
एवंगुणसमायुक्तां वसवे वसुनन्दिनी ॥१६॥
दर्शयामास राजेन्द्र पुरा पौरवनन्दन ।
द्यौस्तदा तां तु दृष्ट्वैव गां गजेन्द्रेन्द्रविक्रम ॥१७॥
उवाच राजंस्तां देवीं तस्या रूपगुणान् वदन् ।
एषा गौरुत्तमा देवी वारुणेरसितेक्षणा ॥१८॥
ऋषेस्तस्य वरारोहे यस्येदं वनमुत्तमम् ।
अस्याः क्षीरं पिबेन्मर्त्यः स्वादु यो वै सुमध्यमे ॥१९॥
दशवर्षसहस्राणि स जीवेत् स्थिरयौवनः ।
एतच्छ्रुत्वा तु सा देवी नृपोत्तम सुमध्यमा ॥२०॥
तमुवाचानवद्याङ्गी भर्तारं दीप्ततेजसम् ।
अस्ति मे मानुषे लोके नरदेवात्मजा सखी ॥२१॥

वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले महाराज ! उस देवीने द्यो नामक वसुको वह शुभ गाय दिखायी, जो भलीभाँति हृष्ट-पुष्ट थी। दूधसे भरे हुए उसके थन बड़े सुन्दर थे, पूँछ और खुर भी बहुत अच्छे थे। वह सुन्दर गाय सभी सद्गुणोंसे सम्पन्न और सर्वोत्तम शील-स्वभावसे युक्त थी। पूरुवंशका आनन्द बढ़ानेवाले सम्राट् ! इस प्रकार पूर्वकालमें वसुका आनन्द बढ़ानेवाली देवीने अपने पति वसुको ऐसे सद्गुणोंवाली गौका दर्शन कराया। गजराजके समान पराक्रमी महाराज ! द्यौने उस गायको देखते ही उसके रूप और गुणोंका वर्णन करते हुए अपनी पत्नीसे कहा—'यह कजरारे नेत्रोंवाली उत्तम गौ दिव्य है। वरारोहे ! यह उन वरुणनन्दन महर्षि वसिष्ठकी गाय है, जिनका यह उत्तम तपोवन है। सुमध्यमे ! जो मनुष्य इसका स्वादिष्ट दूध पी लेगा, वह दस हजार वर्षोंतक जीवित रहेगा और उतने समयतक उसकी युवावस्था स्थिर रहेगी।' नृपश्रेष्ठ ! सुन्दर कटि-प्रदेश और निर्दोष अङ्गोंवाली वह देवी यह बात सुनकर अपने तेजस्वी पतिसे बोली—'प्राणनाथ ! मनुष्यलोकमें एक राजकुमारी मेरी सखी है ॥ १५–२१ ॥

नाम्ना जितवती नाम रूपयौवनशालिनी ।
उशीनरस्य राजर्षेः सत्यसंधस्य धीमतः ॥२२॥
दुहिता प्रथिता लोके मानुषे रूपसम्पदा ।
तस्या हेतोर्महाभाग सवत्सां गां ममेप्सिताम् ॥२३॥

'उसका नाम है जितवती । वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सुशोभित है। सत्यप्रतिज्ञ बुद्धिमान् राजर्षि उशीनरकी पुत्री है । रूपसम्पत्तिकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें उसकी बड़ी ख्याति है । महाभाग ! उसीके लिये बछड़ेसहित यह गाय लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा है ॥ २२-२३ ॥

आनयस्वामरश्रेष्ठ त्वरितं पुण्यवर्धन ।
यावदस्याः पयः पीत्वा सा सखी मम मानद ॥२४॥
मानुषेषु भवत्वेका जरारोगविवर्जिता ।
एतन्मम महाभाग कर्तुमर्हस्यनिन्दित ॥२५॥

'सुरश्रेष्ठ ! आप पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस गायको शीघ्र ले आइये । मानद ! जिससे इसका दूध पीकर मेरी वह सखी मनुष्यलोकमें अकेली ही जरावस्था एवं रोग-व्याधिसे बची रहे । महाभाग ! आप निन्दारहित हैं; मेरे इस मनोरथको पूर्ण कीजिये ॥ २४-२५ ॥

प्रियं प्रियतरं ह्यस्मान्नास्ति मेऽन्यत् कथंचन ।
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्या देव्याः प्रियचिकीर्षया ॥२६॥
पृथ्वाद्यैर्भ्रातृभिः सार्धं द्यौस्तदा तां जहार गाम् ।
तया कमलपत्राक्ष्या नियुक्तो द्यौस्तदा नृप ॥२७॥
ऋषेस्तस्य तपस्तीव्रं न शशाक निरीक्षितुम् ।
हृता गौः सा तदा तेन प्रपातस्तु न तर्कितः ॥२८॥

मेरे लिये किसी तरह भी इससे बढ़कर प्रिय अथवा प्रियतर वस्तु दूसरी नहीं है ।'

उस देवीका यह वचन सुनकर उसका प्रिय करनेकी इच्छासे द्यो नामक वसुने पृथु आदि अपने भाइयोंकी सहायतासे उस गौका अपहरण कर लिया । राजन् ! कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली पत्नीसे प्रेरित होकर द्योने गौका अपहरण तो कर लिया; परंतु उस समय उन महर्षि वसिष्ठकी तीव्र तपस्याके प्रभावकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके और न यही सोच सके कि ऋषिके कोपसे मेरा स्वर्गसे पतन हो जायगा ॥

अथाश्रमपदं प्राप्तः फलान्यादाय वारुणिः ।
न चापश्यत् स गां तत्र सवत्सां काननोत्तमे ॥२९॥

कुछ समयके बाद वरुणनन्दन वसिष्ठजी फल-मूल लेकर आश्रमपर आये; परंतु उस सुन्दर काननमें उन्हें बछड़ेसहित अपनी गाय नहीं दिखायी दी ॥ २९ ॥

ततः स मृगयामास वने तस्मिंस्तपोधनः ।
नाध्यगच्छच्च मृगयंस्तां गां मुनिरुदारधीः ॥३०॥

तब तपोधन वसिष्ठजी उस वनमें गायकी खोज करने लगे; परंतु खोजनेपर भी वे उदारबुद्धि महर्षि उस गायको न पा सके ॥ ३० ॥

ज्ञात्वा तथापनीतां तां वसुभिर्दिव्यदर्शनः ।
ययौ क्रोधवशं सद्यः शशाप च वसूंस्तदा ॥३१॥

तब उन्होंने दिव्य दृष्टिसे देखा और यह जान गये कि वसुओंने उसका अपहरण किया है। फिर तो वे क्रोधके वशीभूत हो गये और तत्काल वसुओंको शाप दे दिया—॥ ३१ ॥

यस्मान्मे वसवो जह्रुर्गां वै दोग्ध्रीं सुवालधिम् ।
तस्मात् सर्वे जनिष्यन्ति मानुषेषु न संशयः ॥३२॥

'वसुओंने सुन्दर पूँछवाली मेरी कामधेनु गायका अपहरण किया है, इसलिये वे सब-के-सब मनुष्य-योनिमें जन्म लेंगे, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३२ ॥

एवं शशाप भगवान् वसूंस्तान् भरतर्षभ ।
वशं क्रोधस्य सम्प्राप्त आपवो मुनिसत्तमः ॥३३॥

भरतर्षभ ! इस प्रकार मुनिवर भगवान् वसिष्ठने क्रोधके आवेशमें आकर उन वसुओंको शाप दिया ॥ ३३ ॥

शप्त्वा च तान् महाभागस्तपस्येव मनो दधे ।
एवं स शप्तवान् राजन् वसूनष्टौ तपोधनः ॥३४॥
महाप्रभावो ब्रह्मर्षिर्देवान् क्रोधसमन्वितः ।
अथाश्रमपदं प्राप्तास्ते वै भूयो महात्मनः ॥३५॥
शप्ताः स्म इति जानन्त ऋषिं तमुपचक्रमुः ।
प्रसादयन्तस्तमृषिं वसवः पार्थिवर्षभ ॥३६॥
लेभिरे न च तस्मात् ते प्रसादमृषिसत्तमात् ।
आपवात् पुरुषव्याघ्र सर्वधर्मविशारदात् ॥३७॥

उन्हें शाप देकर उन महाभाग महर्षिने फिर तपस्यामें ही मन लगाया । राजन् ! तपस्याके धनी ब्रह्मर्षि वसिष्ठका प्रभाव बहुत बड़ा है । इसीलिये उन्होंने क्रोधमें भरकर देवता होनेपर भी उन आठों वसुओंको शाप दे दिया । तदनन्तर हमें शाप मिला है, यह जानकर वे वसु पुनः महामना वसिष्ठके आश्रमपर आये और उन महर्षिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे । नृपश्रेष्ठ ! महर्षि आपव समस्त धर्मोंके ज्ञानमें निपुण थे । महाराज ! उनको प्रसन्न करनेकी पूरी चेष्टा करनेपर भी वे वसु उन मुनिश्रेष्ठसे उनका कृपाप्रसाद न पा सके ॥ ३४-३७॥

उवाच च स धर्मात्मा शप्ता यूयं धरादयः ।
अनुसंवत्सरात् सर्वे शापमोक्षमवाप्स्यथ ॥३८॥

उस समय धर्मात्मा वसिष्ठने उनसे कहा —'मैंने धर आदि तुम सभी वसुओंको शाप दे दिया है; परंतु तुमलोग तो प्रति वर्ष एक-एक करके सब-के सब शापसे मुक्त हो जाओगे ॥

अयं तु यत्कृते यूयं मया शप्ताः स वत्स्यति ।
द्यौस्तदा मानुषे लोके दीर्घकालं स्वकर्मणा ॥३९॥

'किंतु यह द्यो, जिसके कारण तुम सबको शाप मिला है, मनुष्यलोकमें अपने कर्मानुसार दीर्घकालतक निवास करेगा। ३९।

नानृतं तच्चिकीर्षामि क्रुद्धो युष्मान् यदब्रुवम् ।
न प्रजास्यति चाप्येष मानुषेषु महामनाः ॥४०॥

'मैंने क्रोधमें आकर तुमलोगोंसे जो कुछ कहा है, उसे असत्य करना नहीं चाहता। ये महामना द्यो मनुष्यलोकमें संतानकी उत्पत्ति नहीं करेंगे ॥ ४० ॥

भविष्यति च धर्मात्मा सर्वशास्त्रविशारदः।
पितुः प्रियहिते युक्तः स्त्रीभोगान् वर्जयिष्यति ॥४१॥

'और धर्मात्मा तथा सब शास्त्रोंमें निपुण विद्वान् होंगे; पिताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहकर स्त्री-सम्बन्धी भोगोंका परित्याग कर देंगे' ॥ ४१ ॥

एवमुक्त्वा वसून् सर्वान् स जगाम महानृषिः।
ततो मामुपजग्मुस्ते समेता वसवस्तदा ॥४२॥

उन सब वसुओंसे ऐसी बात कहकर वे महर्षि वहाँसे चल दिये। तब वे सब वसु एकत्र होकर मेरे पास आये ॥ ४२ ॥

अयाचन्त च मां राजन् वरं तच्च मया कृतम्।
जाताञ्जातान् प्रक्षिपास्मान् स्वयं गङ्गे त्वमम्भसि ॥४३॥

राजन्! उस समय उन्होंने मुझसे याचना की और मैंने उसे पूर्ण किया। उनकी याचना इस प्रकार थी—'गङ्गे! हम ज्यों-ज्यों जन्म लें, तुम स्वयं हमें अपने जलमें डाल देना' ॥ ४३ ॥

एवं तेषामहं सम्यक् शप्तानां राजसत्तम।
मोक्षार्थं मानुषाल्लोकाद् यथावत् कृतवत्यहम् ॥४४॥

राजशिरोमणे! इस प्रकार उन शापग्रस्त वसुओंको इस मनुष्यलोकसे मुक्त करनेके लिये मैंने यथावत् प्रयत्न किया है ॥

अयं शापादृषेस्तस्य एक एव नृपोत्तम।
द्यौ राजन् मानुषे लोके चिरं वत्स्यति भारत ॥४५॥

भारत! नृपश्रेष्ठ! यह एकमात्र द्यो ही महर्षिके शापसे दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें निवास करेगा ॥ ४५ ॥

(अयं देवव्रतश्चैव गङ्गादत्तश्च मे सुतः।
द्विनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥
अयं कुमारः पुत्रस्ते विवृद्धः पुनरेष्यति।
अहं च ते भविष्यामि आह्वानोपगता नृप ॥)

राजन्! मेरा यह पुत्र देवव्रत और गङ्गादत्त—दो नामोंसे विख्यात होगा। आपका बालक गुणोंमें आपसे भी बढ़कर होगा। (अच्छा, अब जाती हूँ) आपका यह पुत्र अभी शिशु-अवस्थामें है। बड़ा होनेपर फिर आपके पास आ जायगा और आप जब मुझे बुलायेंगे तभी मैं आपके सामने उपस्थित हो जाऊँगी ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय सा देवी तत्रैवान्तरधीयत।
आदाय च कुमारं तं जगामाथ यथेप्सितम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ये सब बातें बताकर गङ्गादेवी उस नवजात शिशुको साथ ले वहीं अन्तर्धान हो गयीं और अपने अभीष्ट स्थानको चली गयीं ॥ ४६ ॥

स तु देवव्रतो नाम गाङ्गेय इति चाभवत्।
द्युनामा शान्तनोः पुत्रः शान्तनोरधिको गुणैः ॥४७॥

उस बालकका नाम हुआ देवव्रत। कुछ लोग गाङ्गेय भी कहते थे। द्यु[1] नामवाले वसु शान्तनुके पुत्र होकर गुणोंमें उनसे भी बढ़ गये ॥ ४७ ॥

शान्तनुश्चापि शोकार्तो जगाम स्वपुरं ततः।
तस्याहं कीर्तयिष्यामि शान्तनोरधिकान् गुणान् ॥४८॥

इधर शान्तनु शोकसे आतुर हो पुनः अपने नगरको लौट गये। शान्तनुके उत्तम गुणोंका मैं आगे चलकर वर्णन करूँगा ॥ ४८ ॥

महाभाग्यं च नृपतेर्भारतस्य महात्मनः।
यस्येतिहासो द्युतिमान् महाभारतमुच्यते ॥४९॥

उन भरतवंशी महात्मा नरेशके महान् सौभाग्यका भी मैं वर्णन करूँगा, जिनका उज्ज्वल इतिहास 'महाभारत' नामसे विख्यात है ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि आपवोपाख्याने नवनवतितमोऽध्यायः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें आपवोपाख्यानविषयक निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५१ श्लोक हैं)

शततमोऽध्यायः

शान्तनुके रूप, गुण और सदाचारकी प्रशंसा, गङ्गाजीके द्वारा सुशिक्षित पुत्रकी प्राप्ति तथा देवव्रतकी भीष्म-प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षिसत्कृतः।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु बड़े बुद्धिमान् थे; देवता तथा राजर्षि भी उनका सत्कार करते थे। वे धर्मात्मा नरेश सम्पूर्ण जगत्में सत्यवादीके रूपमें विख्यात थे ॥ १ ॥

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम्।
नित्यान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥

१. 'द्यु' का ही नाम 'द्यो' है, जैसा कि पहले कई बार आ चुका है।

उन महाबली नरश्रेष्ठ शान्तनुमें इन्द्रियसंयम, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य तथा उत्तम तेज आदि सद्गुण सदा विद्यमान थे ॥ २ ॥

एवं स गुणसम्पन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद् भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥

इस प्रकार उत्तम गुणोंसे सम्पन्न एवं धर्म और अर्थके साधनमें कुशल राजा शान्तनु भरतवंशका पालन तथा सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते थे ॥ ३ ॥

कम्बुग्रीवः पृथुव्यंसो मत्तवारणविक्रमः ।
अन्वितः परिपूर्णार्थैः सर्वैर्नृपतिलक्षणैः ॥ ४ ॥

उनकी ग्रीवा शङ्खके समान शोभा पाती थी । कंधे विशाल थे । वे मतवाले हाथीके समान पराक्रमी थे । उनमें सभी राजोचित शुभ लक्षण पूर्ण सार्थक होकर निवास करते थे ॥

तस्य कीर्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥ ५ ॥

उन यशस्वी महाराजके धर्मपूर्ण सदाचारको देखकर सब मनुष्य सदा इसी निश्चयपर पहुँचे थे कि काम और अर्थसे धर्म ही श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

एतान्यासन् महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ।
न चास्य सदृशः कश्चिद् धर्मतः पार्थिवोऽभवत् ॥ ६ ॥

महान् शक्तिशाली पुरुषश्रेष्ठ शान्तनुमें ये सभी सद्गुण विद्यमान थे । उनके समान धर्मपूर्वक शासन करनेवाला दूसरा कोई राजा नहीं था ॥ ६ ॥

वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥ ७ ॥

वे धर्ममें सदा स्थिर रहनेवाले और सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे; अतः समस्त राजाओंने मिलकर राजा शान्तनुको राजराजेश्वर (सम्राट्) के पदपर अभिषिक्त कर दिया ॥७॥

वीतशोकभयाबाधाः सुखस्वप्ननिबोधनाः ।
पतिं भारत गोप्तारं समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! जब सब राजाओंने शान्तनुको अपना स्वामी तथा रक्षक बना लिया, तब किसीको शोक, भय और मानसिक संताप नहीं रहा । सब लोग सुखसे सोने और जागने लगे ॥ ८ ॥

तेन कीर्तिमता शिष्टाः शक्रप्रतिमतेजसा ।
यज्ञदानक्रियाशीलाः समपद्यन्त भूमिपाः ॥ ९ ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी और कीर्तिशाली शान्तनुके शासनमें रहकर अन्य राजालोग भी दान और यज्ञ-कर्मोंमें स्वभावतः प्रवृत्त होने लगे ॥ ९ ॥

शान्तनुप्रमुखैर्गुप्ते लोके नृपतिभिस्तदा ।
नियमात् सर्ववर्णानां धर्मोत्तरमवर्तत ॥ १० ॥

उस समय शान्तनुप्रधान राजाओंद्वारा सुरक्षित जगत्‌में सभी वर्णोंके लोग नियमपूर्वक प्रत्येक बर्तावमें धर्मको ही प्रधानता देने लगे ॥ १० ॥

ब्रह्म पर्यचरत् क्षत्रं विशः क्षत्रमनुव्रताः ।
ब्रह्मक्षत्रानुरक्ताश्च शूद्राः पर्यचरन् विशः ॥ ११ ॥

क्षत्रियलोग ब्राह्मणोंकी सेवा करते, वैश्य ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुरक्त रहते तथा शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें अनुराग रखते हुए वैश्योंकी सेवामें तत्पर रहते थे ॥ ११ ॥

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन् सागरपर्यन्तामन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महाराज शान्तनु कुरुवंशकी रमणीय राजधानी हस्तिनापुरमें निवास करते हुए समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका शासन और पालन करते थे ॥ १२ ॥

स देवराजसदृशो धर्मज्ञः सत्यवागृजुः ।
दानधर्मतपोयोगाच्छ्रिया परमया युतः ॥ १३ ॥

वे देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी, धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा सरल थे । दान, धर्म और तपस्या तीनोंके योगसे उनमें दिव्य कान्तिकी वृद्धि हो रही थी ॥ १३ ॥

अरागद्वेषसंयुक्तः सोमवत् प्रियदर्शनः ।
तेजसा सूर्यकल्पोऽभूद् वायुवेगसमो जवे ।
अन्तकप्रतिमः कोपे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १४ ॥

उनमें न राग था न द्वेष । चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्यारा लगता था । वे तेजमें सूर्य और वेगमें वायुके समान जान पड़ते थे; क्रोधमें यमराज और क्षमामें पृथ्वीकी समानता करते थे ॥ १४ ॥

वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्तत तथा नृप ॥ १५ ॥

जनमेजय ! महाराज शान्तनुके इस पृथ्वीका पालन करते समय पशुओं, वराहों, मृगों तथा पक्षियोंका वध नहीं होता था ॥ १५ ॥

ब्रह्मधर्मोत्तरे राज्ये शान्तनुर्विनयात्मवान् ।
समं शशास भूतानि कामरागविवर्जितः ॥ १६ ॥

उनके राज्यमें ब्रह्म और धर्मकी प्रधानता थी । महाराज शान्तनु बड़े विनयशील तथा काम-राग आदि दोषोंसे दूर रहनेवाले थे । वे सब प्राणियोंका समानभावसे शासन करते थे ॥ १६ ॥

देवर्षिपितृयज्ञार्थमारभ्यन्त तदा क्रियाः ।
न चाधर्मेण केषांचित् प्राणिनामभवद् वधः ॥ १७ ॥

उन दिनों देवयज्ञ, ऋषियज्ञ तथा पितृयज्ञके लिये कर्मोंका आरम्भ होता था । अधर्मका भय होनेके कारण किसी भी प्राणीका वध नहीं किया जाता था ॥ १७ ॥

असुखानामनाथानां तिर्यग्योनिषु वर्तताम् ।
स एव राजा सर्वेषां भूतानामभवत् पिता ॥ १८ ॥

दुखी, अनाथ एवं पशु-पक्षीकी योनिमें पड़े हुए जीव—इन सब प्राणियोंका वे राजा शान्तनु ही पिताके समान पालन करते थे ॥ १८ ॥

तस्मिन् कुरुपतिश्रेष्ठे राजराजेश्वरे सति ।
श्रिता वागभवत् सत्यं दानधर्माश्रितं मनः ॥ १९ ॥

कुरुवंशी नरेशोंमें श्रेष्ठ राजराजेश्वर शान्तनुके शासनकालमें सबकी वाणी सत्यके आश्रित थी—सभी सत्य बोलते थे और सबका मन दान एवं धर्ममें लगता था ॥ १९ ॥

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः ।
रतिमप्राप्नुवन् स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥ २० ॥

राजा शान्तनु सोलह, आठ, चार और आठ कुल छत्तीस वर्षोंतक स्त्रीविषयक अनुरागका अनुभव न करते हुए वनमें रहे ॥ २० ॥

तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ २१ ॥

वसुके अवतारभूत गाङ्गेय उनके पुत्र हुए, जिनका नाम देवव्रत था। वे पिताके समान ही रूप, आचार, व्यवहार तथा विद्यासे सम्पन्न थे ॥ २१ ॥

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥ २२ ॥

लौकिक और अलौकिक सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें वे पारङ्गत थे। उनके बल, सत्त्व (धैर्य) तथा वीर्य (पराक्रम) महान् थे। वे महारथी वीर थे ॥ २२ ॥

स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन् नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान् नृपः ॥ २३ ॥

एक समय किसी हिंसक पशुको बाणोंसे बींधकर राजा शान्तनु उसका पीछा करते हुए भागीरथी गङ्गाके तटपर आये। उन्होंने देखा कि गङ्गाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है ॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभः ।
स्यन्दते किं त्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥ २४ ॥

उसे देखकर पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज शान्तनु इस चिन्तामें पड़ गये कि यह सरिताओंमें श्रेष्ठ देवनदी आज पहलेकी तरह क्यों नहीं बह रही है ॥ २४ ॥

ततो निमित्तमन्विच्छन् ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं बृहन्तं चारुदर्शनम् ॥ २५ ॥
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं यथा देवं पुरन्दरम् ।
कृत्स्नां गङ्गां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर उन महामना नरेशने इसके कारणका पता लगाते हुए जब आगे बढ़कर देखा, तब मालूम हुआ कि एक परम सुन्दर मनोहर रूपसे सम्पन्न विशालकाय कुमार देवराज इन्द्रके समान दिव्यास्त्रका अभ्यास कर रहा है और अपने तीखे बाणोंसे समूची गङ्गाकी धाराको रोककर खड़ा है ॥ २५-२६ ॥

तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गङ्गां तदन्तिके ।
अभवद् विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥ २७ ॥

राजाने उसके निकटकी गङ्गा नदीको उसके बाणोंसे व्याप्त देखा। उस बालकका यह अलौकिक कर्म देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २७ ॥

जातमात्रं पुरा दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
नोपलेभे स्मृतिं धीमानभिज्ञातुं तमात्मजम् ॥ २८ ॥

शान्तनुने अपने पुत्रको पहले पैदा होनेके समय ही देखा था; अतः उन बुद्धिमान् नरेशको उस समय उसकी याद नहीं आयी; इसीलिये वे अपने ही पुत्रको पहचान न सके ॥

स तु तं पितरं दृष्ट्वा मोहयामास मायया ।
सम्मोह्य तु ततः क्षिप्रं तत्रैवान्तरधीयत ॥ २९ ॥

बालकने अपने पिताको देखकर उन्हें मायासे मोहित कर दिया और मोहित करके शीघ्र वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २९ ॥

तदद्भुतं ततो दृष्ट्वा तत्र राजा स शान्तनुः ।
शङ्कमानः सुतं गङ्गामब्रवीद् दर्शयेति ह ॥ ३० ॥

यह अद्भुत बात देखकर राजा शान्तनुको कुछ संदेह हुआ और उन्होंने गङ्गासे अपने पुत्रको दिखानेको कहा ॥ ३० ॥

दर्शयामास तं गङ्गा बिभ्रती रूपमुत्तमम् ।
गृहीत्वा दक्षिणे पाणौ तं कुमारमलंकृतम् ॥ ३१ ॥

तब गङ्गाजी परम सुन्दर रूप धारण करके अपने पुत्रका दाहिना हाथ पकड़े सामने आयीं और दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित कुमार देवव्रतको दिखाया ॥ ३१ ॥

अलंकृतामाभरणैर्विरजोऽम्बरसंवृताम् ।
दृष्टपूर्वामपि स तां नाभ्यजानात् स शान्तनुः ॥ ३२ ॥

गङ्गा दिव्य आभूषणोंसे अलङ्कृत हो स्वच्छ-सुन्दर साड़ी पहिने हुई थीं। इससे उनका अनुपम सौन्दर्य इतना बढ़ गया था कि पहलेकी देखी होनेपर भी राजा शान्तनु उन्हें पहचान न सके ॥ ३२ ॥

गङ्गोवाच

यं पुत्रमष्टमं राजंस्त्वं पुरा मय्यविन्दथाः ।
स चायं पुरुषव्याघ्र सर्वास्त्रविदनुत्तमः ॥ ३३ ॥

गङ्गाजीने कहा—महाराज! पूर्वकालमें आपने जिस आठवें पुत्रको मेरे गर्भसे प्राप्त किया था, यह वही है। पुरुषसिंह! यह सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें अत्यन्त उत्तम है।



गृहाणेमं महाराज मया संवर्धितं सुतम् ।
आदाय पुरुषव्याघ्र नयस्वैनं गृहं विभो ॥३४॥

राजन्! मैंने इसे पाल-पोसकर बड़ा कर दिया है। अब आप अपने इस पुत्रको ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! स्वामिन्! इसे घर ले जाइये ॥ ३४ ॥

वेदानधिजगे साङ्गान् वसिष्ठादेष वीर्यवान् ।
कृतास्त्रः परमेष्वासो देवराजसमो युधि ॥३५॥

आपका यह बलवान् पुत्र महर्षि वसिष्ठसे छहों अङ्गोंसहित समस्त वेदोंका अध्ययन कर चुका है। यह अस्त्र-विद्याका भी पण्डित है, महान् धनुर्धर है और युद्धमें देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी है ॥ ३५ ॥

सुराणां सम्मतो नित्यमसुराणां च भारत ।
उशना वेद यच्छास्त्रमयं तद् वेद सर्वशः ॥३६॥

भारत! देवता और असुर भी इसका सदा सम्मान करते हैं। शुक्राचार्य जिस (नीति) शास्त्रको जानते हैं, उसका यह भी पूर्ण रूपसे जानकार है ॥ ३६ ॥

तथैवाङ्गिरसः पुत्रः सुरासुरनमस्कृतः ।
यद् वेद शास्त्रं तच्चापि कृत्स्नमस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥३७॥
तव पुत्रे महाबाहौ साङ्गोपाङ्गं महात्मनि ।
ऋषिः परैरनाधृष्यो जामदग्न्यः प्रतापवान् ॥३८॥
यदस्त्रं वेद रामश्च तदेतस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
महेष्वासमिमं राजन् राजधर्मार्थकोविदम् ॥३९॥
मया दत्तं निजं पुत्रं वीरं वीर गृहं नय ।

इसी प्रकार अङ्गिराके पुत्र देव-दानव-वन्दित बृहस्पति जिस शास्त्रको जानते हैं, वह भी आपके इस महाबाहु महात्मा पुत्रमें अङ्ग और उपाङ्गोंसहित पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है। जो दूसरोंसे परास्त नहीं होते, वे प्रतापी महर्षि जमदग्निनन्दन परशुराम जिस अस्त्र-विद्याको जानते हैं, वह भी मेरे इस पुत्रमें प्रतिष्ठित है। वीरवर महाराज! यह कुमार राजधर्म तथा अर्थ-शास्त्रका महान् पण्डित है। मेरे दिये हुए इस महाधनुर्धर वीर पुत्रको आप घर ले जाइये ॥ ३७–३९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

(इत्युक्त्वा सा महाभागा तत्रैवान्तरधीयत ।)
तयैवं समनुज्ञातः पुत्रमादाय शान्तनुः ॥४०॥
भ्राजमानं यथादित्यमाययौ स्वपुरं प्रति ।
पौरवस्तु पुरीं गत्वा पुरन्दरपुरोपमाम् ॥४१॥
सर्वकामसमृद्धार्थं मेने सोऽऽत्मानमात्मना ।
पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ॥४२॥
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ।
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ॥४३॥
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ।
स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ॥४४॥
वर्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ।
स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ॥४५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर महाभागा गङ्गादेवी वहीं अन्तर्धान हो गयीं। गङ्गाजीके इस प्रकार आज्ञा देनेपर महाराज शान्तनु सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले अपने पुत्रको लेकर राजधानीमें आये। उनका हस्तिनापुर इन्द्रनगरी अमरावतीके समान सुन्दर था। पूरुवंशी राजा शान्तनु पुत्रसहित उसमें जाकर अपने आपको सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न एवं सफलमनोरथ मानने लगे। तदनन्तर उन्होंने सबको अभय देनेवाले महात्मा एवं गुणवान् पुत्रको राजकाजमें सहयोग करनेके लिये समस्त पौरवोंके बीचमें युवराज-पदपर अभिषिक्त कर दिया। जनमेजय! शान्तनुके उस महायशस्वी पुत्रने अपने आचार-व्यवहारसे पिताको, पौरव-समाजको तथा समूचे राष्ट्रको प्रसन्न कर लिया। अमित-पराक्रमी राजा शान्तनुने वैसे गुणवान् पुत्रके साथ आनन्द-पूर्वक रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये। एक दिन वे यमुना नदीके निकटवर्ती वनमें गये ॥ ४०–४५ ॥

महीपतिरनिर्देश्यमाजिघ्रद् गन्धमुत्तमम् ।
तस्य प्रभवमन्विच्छन् विचचार समन्ततः ॥४६॥

वहाँ राजाको अवर्णनीय एवं परम उत्तम सुगन्धका अनुभव हुआ। वे उसके उद्गमस्थानका पता लगाते हुए सब ओर विचरने लगे ॥ ४६ ॥

स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ।
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ॥४७॥

घूमते-घूमते उन्होंने मल्लाहोंकी एक कन्या देखी, जो देवाङ्गनाओंके समान रूपवती थी। श्याम नेत्रोंवाली उस कन्याको देखते ही राजाने पूछा—॥ ४७ ॥

कस्य त्वमसि का चासि किं च भीरु चिकीर्षसि ।
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरिम् ॥४८॥
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ।
रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ॥४९॥
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः ।
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ॥५०॥

'भीरु! तू कौन है, किसकी पुत्री है और क्या करना चाहती है?' वह बोली—'राजन्! आपका कल्याण हो। मैं निषादकन्या हूँ और अपने पिता महामना निषादराजकी आज्ञासे धर्मार्थ नाव चलाती हूँ।' राजा शान्तनुने रूप, माधुर्य तथा सुगन्धसे युक्त देवाङ्गनाके तुल्य उस निषादकन्याको देखकर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की। तदनन्तर उसके पिताके समीप जाकर उन्होंने उसका वरण किया॥ ४८-५० ॥

पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं सोऽऽत्मकारणात् ।
स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ॥५१॥

उन्होंने उसके पितासे पूछा—'मैं अपने लिये तुम्हारी कन्या चाहता हूँ।' यह सुनकर निषादराजने राजा शान्तनुको यह उत्तर दिया—॥ ५१ ॥

जातमात्रैव मे देया वराय वरवर्णिनी ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥५२॥

'जनेश्वर! जबसे इस सुन्दरी कन्याका जन्म हुआ है, तभीसे मेरे मनमें यह चिन्ता है कि इसका किसी श्रेष्ठ वरके साथ विवाह करना चाहिये; किंतु मेरे हृदयमें एक अभिलाषा है, उसे सुन लीजिये॥ ५२ ॥

यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ॥५३॥

'पापरहित नरेश! यदि इस कन्याको अपनी धर्मपत्नी बनानेके लिये आप मुझसे माँग रहे हैं, तो सत्यको सामने रखकर मेरी इच्छा पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कीजिये; क्योंकि आप सत्यवादी हैं॥ ५३ ॥

समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहमिमां नृप ।
न हि मे त्वत्समः कश्चिद् वरो जातु भविष्यति ॥५४॥

'राजन्! मैं इस कन्याको एक शर्तके साथ आपकी सेवामें दूँगा। मुझे आपके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ वर कभी नहीं मिलेगा'॥ ५४ ॥



शान्तनुरुवाच

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव ।
दातव्यं चेत् प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ॥५५॥

शान्तनुने कहा—निषाद! पहले तुम्हारे अभीष्ट वरको सुन लेनेपर मैं उसके विषयमें कुछ निश्चय कर सकता हूँ। यदि देने योग्य होगा, तो दूँगा और देने योग्य नहीं होगा, तो कदापि नहीं दे सकता॥ ५५ ॥

दाश उवाच

अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥५६॥

निषाद बोला—पृथ्वीपते! इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, आपके बाद उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाय, अन्य किसी राजकुमारका नहीं॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः ।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥५७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा शान्तनु प्रचण्ड कामाग्निसे जल रहे थे, तो भी उनके मनमें निषादको वह वर देनेकी इच्छा नहीं हुई॥ ५७ ॥

स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद्धास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ॥५८॥

कामकी वेदनासे उनका चित्त चञ्चल था। वे उस

निषादकन्याका ही चिन्तन करते हुए उस समय हस्तिनापुरको लौट गये ॥ ५८ ॥

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥५९॥

तदनन्तर एक दिन राजा शान्तनु ध्यानस्थ होकर कुछ सोच रहे थे—चिन्तामें पड़े थे । इसी समय उनके पुत्र देवव्रत अपने पिताके पास आये और इस प्रकार बोले—॥५९॥

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥६०॥

'पिताजी ! आपका तो सब ओरसे कुशल-मङ्गल है; भू-मण्डलके सभी नरेश आपकी आज्ञाके अधीन हैं; फिर किस लिये आप निरन्तर दुखी होकर शोक और चिन्तामें डूबे रहते हैं ॥ ६० ॥

ध्यायन्निव च मां राजन्नाभिभाषसि किंचन ।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ॥६१॥

'राजन् ! आप इस तरह मौन बैठे रहते हैं, मानो किसी-का ध्यान कर रहे हों; मुझसे कोई बातचीत तक नहीं करते। घोड़ेपर सवार हो कहीं बाहर भी नहीं निकलते। आपकी कान्ति मलिन होती जा रही है । आप पीले और दुबले हो गये हैं॥

व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ।
एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ॥६२॥

'आपको कौन-सा रोग लग गया है, यह मैं जानना चाहता हूँ, जिससे मैं उसका प्रतीकार कर सकूँ ।' पुत्रके ऐसा कहने-पर शान्तनुने उत्तर दिया—॥ ६२ ॥

असंशयं ध्यानपरो यथा वत्स तथा शृणु ।
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ॥६३॥

'बेटा ! इसमें सन्देह नहीं कि मैं चिन्तामें डूबा रहता हूँ। वह चिन्ता कैसी है, सो बताता हूँ, सुनो। भारत ! तुम इस विशाल वंशमें मेरे एक ही पुत्र हो ॥ ६३ ॥

शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ।
अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ॥६४॥

'तुम भी सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें लगे रहते हो और पुरुषार्थके लिये सदैव उद्यत रहते हो । बेटा ! मैं इस जगत्की अनित्यताको लेकर निरन्तर शोकग्रस्त एवं चिन्तित रहता हूँ ॥ ६४ ॥

कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ।
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ॥६५॥

'गङ्गानन्दन ! यदि किसी प्रकार तुमपर कोई विपत्ति आयी, तो उसी दिन हमारा यह वंश समाप्त हो जायगा । इसमें संदेह नहीं कि तुम अकेले ही मेरे लिये सौ पुत्रोंसे भी बढ़कर हो ॥ ६५ ॥

न चाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
संतानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥६६॥

'मैं पुनः व्यर्थ विवाह नहीं करना चाहता; किंतु हमारी वंशपरम्पराका लोप न हो, इसीके लिये मुझे पुनः पत्नीकी कामना हुई है । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ६६ ॥

अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
(चक्षुरेकं च पुत्रश्च अस्ति नास्ति च भारत ।
चक्षुर्नाशे तनोर्नाशः पुत्रनाशे कुलक्षयः ॥)
अग्निहोत्रं त्रयीविद्यासंतानमपि चाक्षयम् ॥६७॥
सर्वाण्येतान्यपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।

धर्मवादी विद्वान् कहते हैं कि एक पुत्रका होना संतान-हीनताके ही तुल्य है ! भारत ! एक आँख अथवा एक पुत्र यदि है, तो वह भी नहींके बराबर है । नेत्रका नाश होनेपर मानो शरीरका ही नाश हो जाता है, इसी प्रकार पुत्रके नष्ट होनेपर कुल-परम्परा ही नष्ट हो जाती है। अग्निहोत्र, तीनों वेद तथा शिष्य-प्रशिष्यके क्रमसे चलनेवाले विद्याजनित वंशकी अक्षय परम्परा—ये सब मिलकर भी जन्मसे होनेवाली संतानकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं है ॥ ६७½ ॥

एवमेतन्मनुष्येषु तच्च सर्वप्रजास्विति ॥६८॥

'इस प्रकार संतानका महत्त्व जैसा मनुष्योंमें मान्य है, उसी प्रकार अन्य सब प्राणियोंमें भी है ॥ ६८ ॥

यदपत्यं महाप्राज्ञ तत्र मे नास्ति संशयः ।
एषा त्रयीपुराणानां देवतानां च शाश्वती ॥६९॥
(अपत्यं कर्म विद्या च त्रीणि ज्योतींषि भारत ।
यदिदं कारणं तात सर्वमाख्यातमञ्जसा ॥)

'भारत ! महाप्राज्ञ ! इस बातमें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है कि संतान, कर्म और विद्या—ये तीन ज्योतियाँ हैं; इनमें भी जो संतान है, उसका महत्त्व सबसे अधिक है । यही वेदत्रयी पुराण तथा देवताओंका भी सनातन मत है । तात ! मेरी चिन्ताका जो कारण है, वह सब तुम्हें स्पष्ट बता दिया॥

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र युद्धात् तस्मात् ते निधनं विद्यते क्वचित् ॥७०॥

'भारत ! तुम शूरवीर हो । तुम कभी किसीकी बात सहन नहीं कर सकते और सदा अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासमें ही लगे रहते हो; अतः युद्धके सिवा और किसी कारणसे कभी तुम्हारी मृत्यु होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ७० ॥

सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वयि शान्ते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥७१॥

'इसीलिये मैं इस संदेहमें पड़ा हूँ कि तुम्हारे शान्त हो जानेपर इस वंशपरम्पराका निर्वाह कैसे होगा ? तात ! यही

मेरे दुःखका कारण है; वह सब-का-सब तुम्हें बता दिया' ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥७२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाके दुःखका वह सारा कारण जानकर परम बुद्धिमान् देवव्रतने अपनी बुद्धिसे भी उसपर विचार किया ॥ ७२ ॥

अभ्यगच्छत् तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत् तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥७३॥

तदनन्तर वे उसी समय तुरंत अपने पिताके हितैषी बूढ़े मन्त्रीके पास गये और पिताके शोकका वास्तविक कारण क्या है, इसके विषयमें उनसे पूछ-ताछ की ॥ ७३ ॥

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥७४॥

भरतश्रेष्ठ ! कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष देवव्रतके भलीभाँति पूछनेपर वृद्ध मन्त्रीने बताया कि महाराज एक कन्यासे विवाह करना चाहते हैं ॥ ७४ ॥

(सूतं भूयोऽपि संतप्त आह्वयामास वै पितुः ॥
सूतस्तु कुरुमुख्यस्य उपयातस्तदाज्ञया ।
तमुवाच महाप्राज्ञो भीष्मो वै सारथिं पितुः ॥

उसके बाद भी दुःखसे दुखी देवव्रतने पिताके सारथिको बुलाया । राजकुमारकी आज्ञा पाकर कुरुराज शान्तनुका सारथि उनके पास आया । तब महाप्राज्ञ भीष्मने पिताके सारथिसे पूछा ॥

भीष्म उवाच

त्वं सारथे पितुर्मह्यं सखासि रथयुग् यतः ।
अपि जानासि यदि वै कस्यां भावो नृपस्य तु ॥
यथा वक्ष्यसि मे पृष्टः करिष्ये न तदन्यथा ।

भीष्म बोले—सारथे ! तुम मेरे पिताके सखा हो, क्योंकि उनका रथ जोतनेवाले हो । क्या तुम जानते हो कि महाराजका अनुराग किस स्त्रीमें है ? मेरे पूछनेपर तुम जैसा कहोगे, वैसा ही करूँगा, उसके विपरीत नहीं करूँगा ।

सूत उवाच

दाशकन्या नरश्रेष्ठ तत्र भावः पितुर्गतः ।
वृतः स नरदेवेन तदा वचनमब्रवीत् ॥
योऽस्यां पुमान् भवेद् गर्भः स राजा त्वदनन्तरम् ।
नाकामयत तं दातुं पिता तव वरं तदा ॥
स चापि निश्चयस्तस्य न च दद्यामतोऽन्यथा ।
एवं ते कथितं वीर कुरुष्व यदनन्तरम् ॥)

सूत बोला—नरश्रेष्ठ ! एक धीवरकी कन्या है, उसीके प्रति आपके पिताका अनुराग हो गया है ! महाराजने धीवरसे उस कन्याको माँगा भी था, परंतु उस समय उसने यह शर्त रक्खी कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही आपके बाद राजा होना चाहिये ।' आपके पिताजीके मनमें धीवरको ऐसा वर देनेकी इच्छा नहीं हुई । इधर उसका भी पक्का निश्चय है कि यह शर्त स्वीकार किये बिना मैं अपनी कन्या नहीं दूँगा । वीर ! यही वृत्तान्त है, जो मैंने आपसे निवेदन कर दिया । इसके बाद आप जैसा उचित समझें, वैसा करें ॥

ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥७५॥

यह सुनकर कुमार देवव्रतने उस समय बूढ़े क्षत्रियोंके साथ निषादराजके पास जाकर स्वयं अपने पिताके लिये उसकी कन्या माँगी ॥ ७५ ॥

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥७६॥

भारत ! उस समय निषादने उनका बड़ा सत्कार किया और विधिपूर्वक पूजा करके आसनपर बैठनेके पश्चात् साथ आये हुए क्षत्रियोंकी मण्डलीमें दाशराजने उनसे कहा ॥७६॥

दाश उवाच

(राज्यशुल्का प्रदातव्या कन्येयं याचतां वर ।
अपत्यं यद् भवेत् तस्याः स राजास्तु पितुः परम् ॥)

दाशराज बोला—याचकोंमें श्रेष्ठ राजकुमार ! इस कन्याको देनेमें मैंने राज्यको ही शुल्क रक्खा है । इसके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न हो, वही पिताके बाद राजा हो ।

त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनोर्भरतर्षभ ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ॥७७॥

भरतर्षभ ! राजा शान्तनुके पुत्र अकेले आप ही सबकी रक्षाके लिये पर्याप्त हैं । शस्त्रधारियोंमें आप सबसे श्रेष्ठ समझे जाते हैं; परंतु तो भी मैं अपनी बात आपके सामने रक्खूँगा ।

को हि सम्बन्धकं श्लाघ्यमीप्सितं यौनमीदृशम् ।
अतिक्रामन्न तप्येत साक्षादपि शतक्रतुः ॥७८॥

ऐसे मनोऽनुकूल और स्पृहणीय उत्तम विवाह-सम्बन्धको ठुकराकर कौन ऐसा मनुष्य होगा जिसके मनमें संताप न हो ? भले ही वह साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो ॥ ७८ ॥

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।
यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ॥७९॥

यह कन्या एक आर्य पुरुषकी संतान है, जो गुणोंमें आपलोगोंके ही समान हैं और जिनके वीर्यसे इस सुन्दरी सत्यवतीका जन्म हुआ है ॥ ७९ ॥

तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥८०॥

तात ! उन्होंने अनेक बार मुझसे आपके पिताके विषयमें चर्चा की थी । वे कहते थे, सत्यवतीको ब्याहने योग्य तो केवल धर्मज्ञ राजा शान्तनु ही हैं ॥ ८० ॥

अर्थितश्चापि राजर्षिः प्रत्याख्यातः पुरा मया ।
स चाप्यासीत् सत्यवत्या भृशमर्थी महायशाः ॥ ८१ ॥
कन्यापितृत्वात् किंचित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप ।
बलवत्सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥ ८२ ॥

महान् कीर्तिवाले राजर्षि शान्तनु सत्यवतीको पहले भी बहुत आग्रहपूर्वक माँग चुके हैं; किंतु उनके माँगनेपर भी मैंने उनकी बात अस्वीकार कर दी थी । युवराज ! मैं कन्याका पिता होनेके कारण कुछ आपसे भी कहूँगा ही । आपके यहाँ जो सम्बन्ध हो रहा है, उसमें मुझे केवल एक दोष दिखायी देता है, बलवान्‌के साथ शत्रुता ॥ ८१-८२॥

यस्य हि त्वं सपत्नः स्या गन्धर्वस्यासुरस्य वा ।
न स जातु चिरं जीवेत् त्वयि क्रुद्धे परंतप ॥ ८३ ॥

परंतप ! आप जिसके शत्रु होंगे, वह गन्धर्व हो या असुर, आपके कुपित होनेपर कभी चिरजीवी नहीं हो सकता ॥

एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ८४ ॥

पृथ्वीनाथ ! बस, इस विवाहमें इतना ही दोष है, दूसरा कोई नहीं । परंतप । आपका कल्याण हो, कन्याको देने या न देनेमें केवल यही दोष विचारणीय है; इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ ८४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारत ॥ ८५ ॥

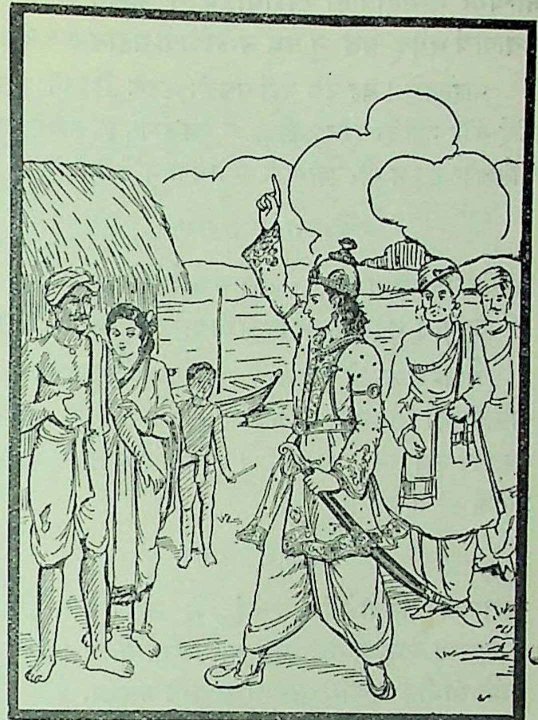
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! निषादके ऐसा कहनेपर गङ्गानन्दन देवव्रतने पिताके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये सब राजाओंके सुनते-सुनते यह उचित उत्तर दिया—॥

इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतां वर ।
नैव जातो न वाजात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ८६ ॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो और ग्रहण करो । ऐसी बात कह सकनेवाला कोई मनुष्य न अबतक पैदा हुआ है और न आगे पैदा होगा ॥

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥ ८७ ॥

'लो, तुम जो कुछ चाहते या कहते हो, वैसा ही करूँगा । इस सत्यवतीके गर्भसे जो पुत्र पैदा होगा, वही हमारा राजा बनेगा' ॥ ८७ ॥



इत्युक्तः पुनरेवाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ८८ ॥

भरतवंशावतंस जनमेजय ! देवव्रतके ऐसा कहनेपर निषाद उनसे फिर बोला । वह राज्यके लिये उनसे कोई दुष्कर प्रतिज्ञा कराना चाहता था ॥ ८८ ॥

त्वमेव नाथः सम्प्राप्तः शान्तनोरमितद्युते ।
कन्यायाश्चैव धर्मात्मन् प्रभुर्दानाय चेश्वरः ॥ ८९ ॥

उसने कहा—'अमित तेजस्वी युवराज ! आप ही महाराज शान्तनुकी ओरसे मालिक बनकर यहाँ आये हैं । धर्मात्मन् ! इस कन्यापर भी आपका पूरा अधिकार है । आप जिसे चाहें, इसे दे सकते हैं । आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं ॥ ८९ ॥

इदं तु वचनं सौम्य कार्यं चैव निबोध मे ।
कौमारिकाणां शीलेन वक्ष्याम्यहमरिन्दम ॥ ९० ॥

'परंतु सौम्य ! इस विषयमें मुझे आपसे कुछ और कहना है और वह आवश्यक कार्य है; अतः आप मेरे उस कथनको सुनिये । शत्रुदमन ! कन्याओंके प्रति स्नेह रखनेवाले सगे-सम्बन्धियोंका जैसा स्वभाव होता है, उसीसे प्रेरित होकर मैं आपसे कुछ निवेदन करूँगा ॥ ९० ॥

यत् त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ९१ ॥

'सत्यधर्मपरायण राजकुमार ! आपने सत्यवतीके हितके लिये इन राजाओंके बीचमें जो प्रतिज्ञा की है, वह आपके ही योग्य है ॥ ९१ ॥

नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद् यत् तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ९२ ॥

'महाबाहो ! वह टल नहीं सकती; उसके विषयमें मुझे कोई संदेह नहीं है, परंतु आपका जो पुत्र होगा, वह शायद इस प्रतिज्ञापर दृढ़ न रहे, यही हमारे मनमें बड़ा भारी संशय है' ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्मतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ॥ ९३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निषादराजके इस अभिप्रायको समझकर सत्यधर्ममें तत्पर रहनेवाले कुमार देवव्रतने उस समय पिताका प्रिय करनेकी इच्छासे यह कठोर प्रतिज्ञा की ॥ ९३ ॥

गाङ्गेय उवाच

दाशराज निबोधेदं वचनं मे नरोत्तम ।
(ऋषयो वाथवा देवा भूतान्यन्तर्हितानि च ।
यानि यानीह श्रृण्वन्तु नास्ति वक्ता हि मत्समः ॥
इदं वचनमादत्स्व सत्येन मम जल्पतः ।)
श्रृण्वतां भूमिपालानां यद् ब्रवीमि पितुः कृते ॥ ९४ ॥

भीष्मने कहा—नरश्रेष्ठ निषादराज ! मेरी यह बात सुनो । जो-जो ऋषि, देवता एवं अन्तरिक्षके प्राणी यहाँ हों, वे सब भी सुनें। मेरे समान वचन देनेवाला दूसरा नहीं है। निषाद ! मैं सत्य कहता हूँ, पिताके हितके लिये सब भूमिपालोंके सुनते हुए मैं जो कुछ कहता हूँ, मेरी इस बातको समझो ॥ ९४ ॥

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ॥ ९५ ॥

राजाओ ! राज्य तो मैंने पहले ही छोड़ दिया है; अब संतानके लिये भी अटल निश्चय कर रहा हूँ ॥ ९५ ॥

अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ।
अपुत्रस्यापि मे लोका भविष्यन्त्यक्षया दिवि ॥ ९६ ॥

निषादराज ! आजसे मेरा आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत चलता रहेगा । मेरे पुत्र न होनेपर भी स्वर्गमें मुझे अक्षय लोक प्राप्त होंगे ॥ ९६ ॥

(न हि जन्मप्रभृत्युक्तं मम किंचिदिहानृतम् ।
यावत् प्राणा ध्रियन्ते वै मम देहं समाश्रिताः ॥
तावन्न जनयिष्यामि पित्रे कन्यां प्रयच्छ मे ।
परित्यजाम्यहं राज्यं मैथुनं चापि सर्वशः ॥
ऊर्ध्वरेता भविष्यामि दाश सत्यं ब्रवीमि ते ।)

मैंने जन्मसे लेकर अबतक कोई झूठ बात नहीं कही है । जबतक मेरे शरीरमें प्राण रहेंगे, तबतक मैं संतान नहीं उत्पन्न करूँगा । तुम पिताजीके लिये अपनी कन्या दे दो । दाश ! मैं राज्य तथा मैथुनका सर्वथा परित्याग करूँगा और ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) होकर रहूँगा—यह मैं तुमसे सत्य कहता हूँ ।

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥ ९७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—देवव्रतका यह वचन सुनकर धर्मात्मा निषादराजके रोंगटे खड़े हो गये । उसने तुरंत उत्तर दिया—'मैं यह कन्या आपके पिताके लिये अवश्य देता हूँ' ॥

ततोऽन्तरिक्षेऽप्सरसो देवाः सर्षिगणास्तदा ।
अभ्यवर्षन्त कुसुमैर्भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ९८ ॥

उस समय अन्तरिक्षमें अप्सरा, देवता तथा ऋषिगण फूलोंकी वर्षा करने लगे और बोल उठे—'ये भयंकर प्रतिज्ञा करनेवाले राजकुमार भीष्म हैं (अर्थात् भीष्मके नामसे इनकी ख्याति होगी)' ॥ ९८ ॥

ततः स पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥ ९९ ॥

तत्पश्चात् भीष्म पिताके मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यशस्विनी निषादकन्यासे बोले—'माताजी ! इस रथपर बैठिये। अब हमलोग अपने घर चलें' ॥ ९९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥ १०० ॥

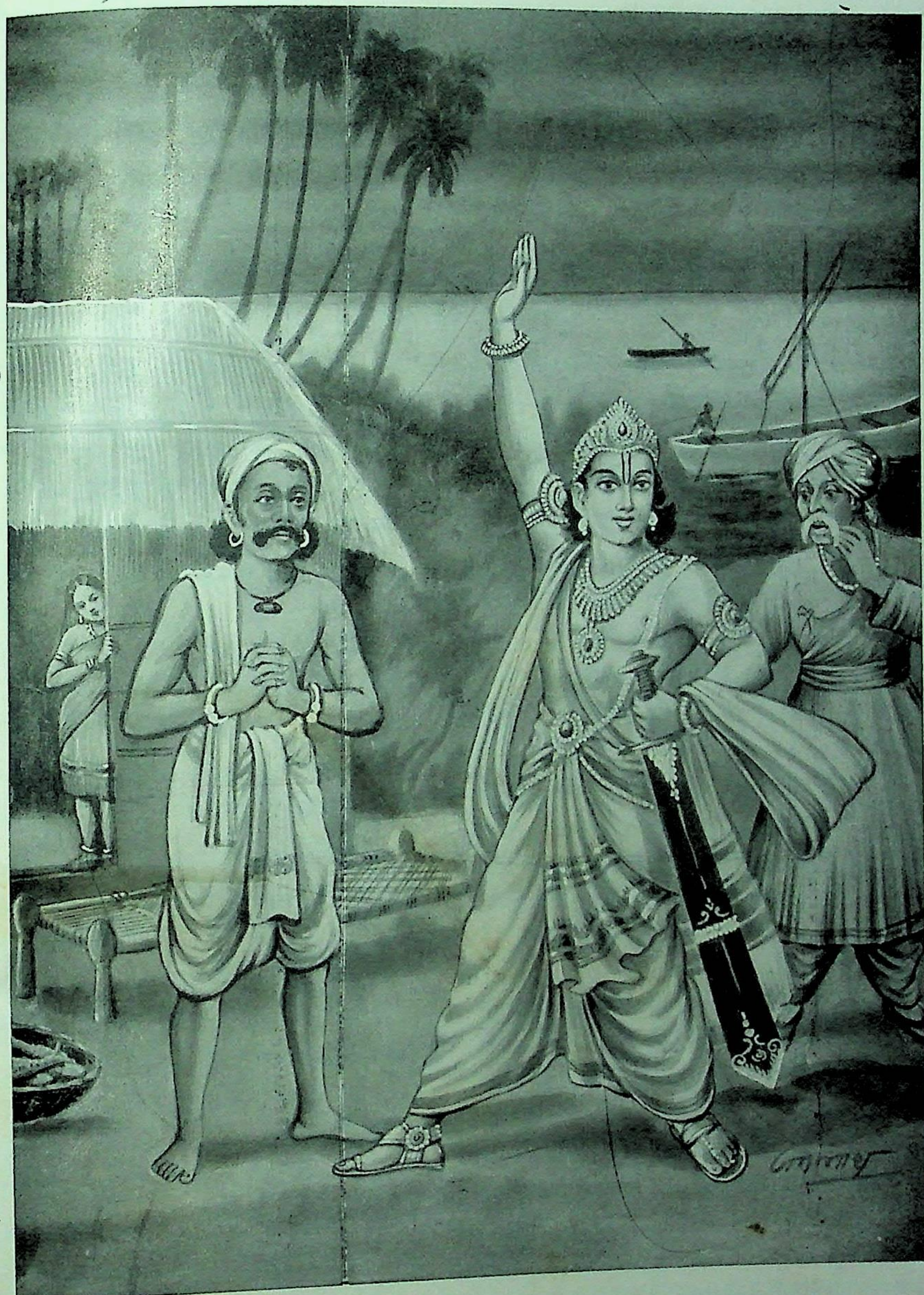
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भीष्मने उस भामिनीको रथपर बैठा लिया और हस्तिनापुर आकर उसे महाराज शान्तनुको सौंप दिया ॥ १०० ॥

तस्य तद् दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ १०१ ॥

उनके इस दुष्कर कर्मकी सब राजालोग एकत्र होकर और अलग-अलग भी प्रशंसा करने लगे । सबने एक स्वरसे कहा, 'यह राजकुमार वास्तवमें भीष्म है' ॥ १०१ ॥

तच्छ्रुत्वा दुष्करं कर्म कृतं भीष्मेण शान्तनुः ।
स्वच्छन्दमरणं तुष्टो ददौ तस्मै महात्मने ॥ १०२ ॥

भीष्मके द्वारा किये हुए उस दुष्कर कर्मकी बात सुनकर राजा शान्तनु बहुत संतुष्ट हुए और उन्होंने उन महात्मा भीष्मको स्वच्छन्द मृत्युका वरदान दिया ॥ १०२ ॥



देवव्रत (भीष्म) की भीषण प्रतिज्ञा

न ते मृत्युः प्रभविता यावज्जीवितुमिच्छसि ।
त्वत्तो ह्यनुज्ञां सम्प्राप्य मृत्युः प्रभवितानघ ॥१०३॥

वे बोले—'मेरे निष्पाप पुत्र ! तुम जबतक यहाँ जीवित रहना चाहोगे, तबतक मृत्यु तुम्हारे ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । तुमसे आज्ञा लेकर ही मृत्यु तुमपर अपना प्रभाव प्रकट कर सकती है' ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवतीलाभोपाख्याने शततमोऽध्यायः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवतीलाभोपाख्यानविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०० ॥

(इस अध्यायमें १०३ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक और कुल ११६½ श्लोक हैं)

एकाधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीके गर्भसे चित्राङ्गद और विचित्रवीर्यकी उत्पत्ति, शान्तनु और चित्राङ्गदका निधन तथा विचित्रवीर्यका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

(चेदिराजसुतां ज्ञात्वा दाशराजेन वर्धिताम् ।
विवाहं कारयामास शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥)
ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृपः ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—सत्यवती चेदिराज वसुकी पुत्री है और निषादराजने इसका पालन-पोषण किया है—यह जानकर राजा शान्तनुने उसके साथ शास्त्रीय विधिसे विवाह किया । तदनन्तर विवाह सम्पन्न हो जानेपर राजा शान्तनुने उस रूपवती कन्याको अपने महलमें रक्खा ॥ १ ॥

ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥ २ ॥

कुछ कालके पश्चात् सत्यवतीके गर्भसे शान्तनुका बुद्धिमान् पुत्र वीर चित्राङ्गद उत्पन्न हुआ, जो बड़ा ही पराक्रमी तथा समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ था ॥ २ ॥

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥ ३ ॥

इसके बाद महापराक्रमी और शक्तिशाली राजा शान्तनुने दूसरे पुत्र महान् धनुर्धर राजा विचित्रवीर्यको जन्म दिया ॥३॥

अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ विचित्रवीर्य अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुए थे कि बुद्धिमान् महाराज शान्तनुकी मृत्यु हो गयी ॥ ४ ॥

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिंदमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥ ५ ॥

शान्तनुके स्वर्गवासी हो जानेपर भीष्मने सत्यवतीकी सम्मतिसे शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर चित्राङ्गदको राज्यपर बिठाया ॥ ५ ॥

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं न हि मेने स कंचित् सदृशमात्मनः ॥ ६ ॥

चित्राङ्गद अपने शौर्यके घमंडमें आकर सब राजाओंका तिरस्कार करने लगे । वे किसी भी मनुष्यको अपने समान नहीं मानते थे ॥ ६ ॥

तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव मनुष्यानसुरांस्तथा ।
गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात् तदा ॥ ७ ॥

मनुष्योंपर ही नहीं, वे देवताओं तथा असुरोंपर भी आक्षेप करते थे । तब एक दिन उन्हींके समान नामवाला महाबली गन्धर्वराज चित्राङ्गद उनके पास आया ॥ ७ ॥

(गन्धर्व उवाच

त्वं वै सदृशनामासि युद्धं देहि नृपात्मज ।
नाम चान्यत् प्रगृणीष्व यदि युद्धं न दास्यसि ॥
त्वयाहं युद्धमिच्छामि त्वत्सकाशात् तु नामतः ।
आगतोऽस्मि वृथाभाष्यो न गच्छेन्नामतो यथा ॥)

गन्धर्वने कहा—राजकुमार ! तुम मेरे सदृश नाम धारण करते हो, अतः मुझे युद्धका अवसर दो और यदि यह न कर सको तो अपना दूसरा नाम रख लो । मैं तुमसे युद्ध करना चाहता हूँ ! नामकी एकताके कारण ही मैं तुम्हारे निकट आया हूँ । मेरे नामद्वारा व्यर्थ पुकारा जानेवाला मनुष्य मेरे सामनेसे सकुशल नहीं जा सकता ॥

तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ।
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद् रणः ॥ ८ ॥
तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद् वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर उसके साथ कुरुक्षेत्रमें राजा चित्राङ्गदका बड़ा भारी युद्ध हुआ । गन्धर्वराज और कुरुराज दोनों ही बड़े बलवान् थे । उनमें सरस्वती नदीके तटपर तीन वर्षोंतक युद्ध होता रहा । अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त उस घमासान युद्धमें

मायामें बढ़े चढ़े हुए गन्धर्वने कुरुश्रेष्ठ वीर चित्राङ्गदका वध कर डाला ॥ ८-९ ॥

स हत्वा तु नरश्रेष्ठं चित्राङ्गदमरिंदमम्।
अन्ताय कृत्वा गन्धर्वो दिवमाचक्रमे ततः ॥ १० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ चित्राङ्गदको मारकर युद्ध समाप्त करके वह गन्धर्व स्वर्गलोकमें चला गया ॥ १० ॥

तस्मिन् पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि।
भीष्मः शान्तनवो राजा प्रेतकार्याण्यकारयत् ॥ ११ ॥

उस महान् तेजस्वी पुरुषसिंह चित्राङ्गदके मारे जानेपर शान्तनुनन्दन भीष्मने उनके प्रेत-कर्म करवाये ॥ ११ ॥

विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम्।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चदनन्तरम् ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्य अभी बालक थे, युवावस्थामें नहीं पहुँचे थे तो भी महाबाहु भीष्मने उन्हें कुरुदेशके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥ १२ ॥

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥ १३ ॥

महाराज जनमेजय ! तब विचित्रवीर्य भीष्मजीकी आज्ञाके अधीन रहकर अपने बाप-दादोंके राज्यका शासन करने लगे।

स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥ १४ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्म धर्म एवं राजनीति आदि शास्त्रोंमें कुशल थे; अतः राजा विचित्रवीर्य धर्मपूर्वक उनका सम्मान करते थे और भीष्मजी भी इन अल्पवयस्क नरेशकी सब प्रकारसे रक्षा करते थे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि चित्राङ्गदोपाख्याने एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें चित्राङ्गदोपाख्यानविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

(इस अध्यायमें १४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक और कुल १७ श्लोक हैं)

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा स्वयंवरसे काशिराजकी कन्याओंका हरण, युद्धमें सब राजाओं तथा शाल्वकी पराजय, अम्बिका और अम्बालिकाके साथ विचित्रवीर्यका विवाह तथा निधन

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाले भ्रातरि कौरव।
पालयामास तद् राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! चित्राङ्गदके मारे जानेपर दूसरे भाई विचित्रवीर्य अभी बहुत छोटे थे, अतः सत्यवतीकी रायसे भीष्मजीने ही उस राज्यका पालन किया ॥

सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥ २ ॥

जब विचित्रवीर्य धीरे-धीरे युवावस्थामें पहुँचे, तब बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीने उनकी वह अवस्था देख विचित्रवीर्यके विवाहका विचार किया ॥ २ ॥

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोपमाः।
शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥ ३ ॥

राजन् ! उन दिनों काशिराजकी तीन कन्याएँ थीं, जो अप्सराओंके समान सुन्दर थीं। भीष्मजीने सुना, वे तीनों कन्याएँ साथ ही स्वयंवरसभामें पतिका वरण करनेवाली हैं ॥

ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनैकेन शत्रुजित्।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥ ४ ॥

तब माता सत्यवतीकी आज्ञा ले रथियोंमें श्रेष्ठ शत्रुविजयी भीष्म एकमात्र रथके साथ वाराणसी पुरीको गये ॥

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान्।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥ ५ ॥

वहाँ शान्तनुनन्दन भीष्मने देखा, सब ओरसे आये हुए राजाओंका समुदाय स्वयंवर-सभामें जुटा हुआ है और वे कन्याएँ भी स्वयंवरमें उपस्थित हैं ॥ ५ ॥

कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः।
एकाकिनं तदा भीष्मं वृद्धं शान्तनुनन्दनम् ॥ ६ ॥
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा कन्याः परमशोभनाः।
अपाक्रामन्त ताः सर्वा वृद्ध इत्येव चिन्तया ॥ ७ ॥

उस समय सब ओर राजाओंके नाम ले-लेकर उनका सबका परिचय दिया जा रहा था। इतनेमें ही शान्तनुनन्दन भीष्म, जो अब वृद्ध हो चले थे, वहाँ अकेले ही पहुँचे। उन्हें देखकर वे सब परम सुन्दरी कन्याएँ उद्विग्न-सी होकर, ये बूढ़े हैं, ऐसा सोचती हुई वहाँसे दूर हट गयीं ॥ ६-७ ॥

वृद्धः परमधर्मात्मा वलीपलितधारणः।
किं कारणमिहायातो निर्लज्जो भरतर्षभः ॥ ८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यति भारत।
ब्रह्मचारीति भीष्मो हि वृथैव प्रथितो भुवि ॥ ९ ॥
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते हसन्ति स्म नृपाधमाः।

वहाँ जो नीच स्वभावके नरेश एकत्र थे, वे आपसमें ये बातें कहते हुए उनकी हँसी उड़ाने लगे—'भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ भीष्म तो बड़े धर्मात्मा सुने जाते थे। ये बूढ़े हो गये हैं, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, सिरके बाल सफेद हो चुके हैं; फिर क्या कारण है कि यहाँ आये हैं? ये तो बड़े निर्लज्ज जान पड़ते हैं। अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके ये लोगोंमें क्या कहेंगे—कैसे मुँह दिखायेंगे? भूमण्डलमें व्यर्थ ही यह बात फैल गयी है कि भीष्मजी ब्रह्मचारी हैं' ॥ ८-९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षत्रियाणां वचः श्रुत्वा भीष्मश्चुक्रोध भारत ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! क्षत्रियोंकी ये बातें सुनकर भीष्म अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ १० ॥

भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः ।
उवाच च महीपालान् राजञ्जलदनिस्वनः ॥११॥
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ।
आहूय दानं कन्यानां गुणवद्भ्यः स्मृतं बुधैः ॥१२॥
अलंकृत्य यथाशक्ति प्रदाय च धनान्यपि ।
प्रयच्छन्त्यपरे कन्या मिथुनेन गवामपि ॥१३॥

राजन्! वे शक्तिशाली तो थे ही, उन्होंने उस समय स्वयं ही समस्त कन्याओंका वरण किया। इतना ही नहीं, प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीष्मने उन कन्याओंको उठाकर रथपर चढ़ा लिया और समस्त राजाओंको ललकारते हुए मेघके समान गम्भीर वाणीमें कहा—'विद्वानोंने कन्याको यथाशक्ति वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके गुणवान् वरको बुलाकर उसे कुछ धन देनेके साथ ही कन्यादान करना उत्तम (ब्राह्म विवाह) बताया है। कुछ लोग एक जोड़ा गाय और बैल लेकर कन्यादान करते हैं (यह आर्ष विवाह है) ॥११-१३॥

वित्तेन कथितेनान्ये बलेनान्येऽनुमान्य च ।
प्रमत्तामुपयन्त्यन्ये स्वयमन्ये च विन्दते ॥१४॥

'कितने ही मनुष्य नियत धन लेकर कन्यादान करते हैं (यह आसुर विवाह है)। कुछ लोग बलसे कन्याका हरण करते हैं (यह राक्षस विवाह है)। दूसरे लोग वर और कन्याकी परस्पर अनुमति होनेपर विवाह करते हैं (यह गान्धर्व विवाह है)। कुछ लोग अचेत अवस्थामें पड़ी हुई कन्याको उठा ले जाते हैं (यह पैशाच विवाह है)। कुछ लोग वर और कन्याको एकत्र करके स्वयं ही उनसे प्रतिज्ञा कराते हैं कि हम दोनों गार्हस्थ्य धर्मका पालन करेंगे; फिर कन्यापिता दोनोंकी पूजा करके अलङ्कारयुक्त कन्याका वरके लिये दान करता है; इस प्रकार विवाहित होनेवाले (प्राजापत्य विवाहकी रीतिसे) पत्नीकी उपलब्धि करते हैं ॥ १४ ॥

आर्षं विधिं पुरस्कृत्य दारान् विन्दन्ति चापरे ।
अष्टमं तमथो वित्त विवाहं कविभिर्वृतम् ॥१५॥

'कुछ लोग आर्ष विधि (यज्ञ) करके ऋत्विजको कन्या देते हैं। इस प्रकार विवाहित होनेवाले (दैव विवाहकी रीतिसे) पत्नी प्राप्त करते हैं। इस तरह विद्वानोंने यह विवाहका आठवाँ प्रकार माना है। इन सबको तुमलोग समझो ॥१५॥

स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ॥१६॥

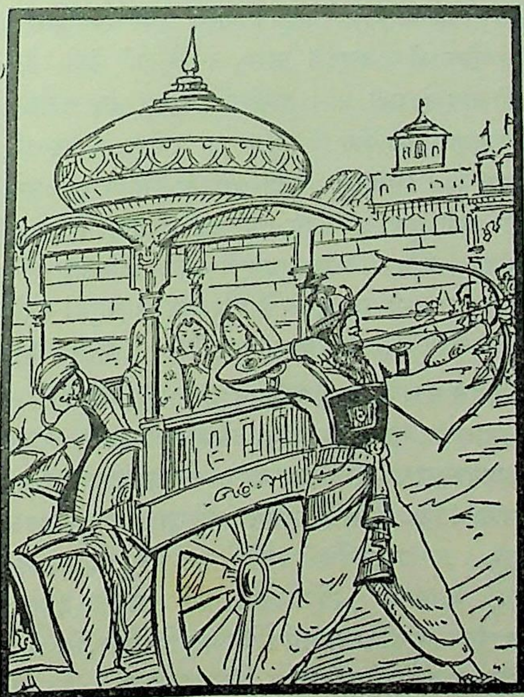
'क्षत्रिय स्वयंवरकी प्रशंसा करते और उसमें जाते हैं; परंतु उसमें भी समस्त राजाओंको परास्त करके जिस कन्याका अपहरण किया जाता है, धर्मवादी विद्वान् क्षत्रियके लिये उसे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ १६ ॥

ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥१७॥

'अतः भूमिपालो! मैं इन कन्याओंको यहाँसे बलपूर्वक हर ले जाना चाहता हूँ। तुमलोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजयके लिये मुझे रोकनेका प्रयत्न करो ॥ १७ ॥

स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ॥१८॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमन्त्र्य च स तान् प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ॥१९॥

'राजाओ! मैं युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके यहाँ डटा हुआ हूँ।' परम पराक्रमी कुरुकुल श्रेष्ठ भीष्मजी उन महीपालों तथा



काशिराजसे उपर्युक्त बातें कहकर उन समस्त कन्याओंको, जिन्हें वे उठाकर अपने रथपर बिठा चुके थे, साथ लेकर सबको ललकारते हुए वहाँसे शीघ्रतापूर्वक चल दिये ॥१८-१९॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमर्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान् बाहून् दशन्तो दशनच्छदान् ।२०।

फिर तो समस्त राजा इस अपमानको न सह सके; वे अपनी भुजाओंका स्पर्श करते (ताल ठोकते) और दाँतोंसे ओठ चबाते हुए अपनी जगहसे उछल पड़े ॥ २० ॥

तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।
आमुञ्चतां च वर्माणि सम्भ्रमः सुमहानभूत् ॥२१॥

सब लोग जल्दी-जल्दी अपने आभूषण उतारकर कवच पहनने लगे । उस समय बड़ा भारी कोलाहल मच गया ॥

ताराणामिव सम्पातो बभूव जनमेजय ।
भूषणानां च सर्वेषां कवचानां च सर्वशः ॥२२॥
सवर्मभिर्भूषणैश्च प्रकीर्यद्भिरितस्ततः ।
सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूकषायीकृतलोचनाः ॥२३॥
सूतोपक्लृप्तान् रुचिरान् सदश्वैरुपकल्पितान् ।
रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ॥२४॥
प्रयान्तमथ कौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ।
ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥२५॥

जनमेजय ! जल्दबाजीके कारण उन सबके आभूषण और कवच इधर-उधर गिर पड़ते थे । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूट कर गिर रहे हों। कितने ही योद्धाओंके कवच और गहने इधर-उधर बिखर गये । क्रोध और अमर्षके कारण उनकी भौहें टेढ़ी और आँखें लाल हो गयी थीं । सारथियोंने सुन्दर रथ सजाकर उनमें सुन्दर अश्व जोत दिये थे । उन रथोंपर बैठकर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो हथियार उठाये हुए उन वीरोंने जाते हुए कुरुनन्दन भीष्मजीका पीछा किया । जनमेजय ! तदनन्तर उन राजाओं और भीष्मजीका घोर संग्राम हुआ । भीष्मजी अकेले थे और राजालोग बहुत। उनमें रोंगटे खड़े कर देनेवाला भयंकर संग्राम छिड़ गया ॥२२–२५॥

ते त्विषून् दश साहस्रांस्तस्मिन् युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथान्तरा ॥२६॥
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ।
ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ॥२७॥
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ।
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावार्य सर्वतः ॥२८॥
ततः सर्वान् महीपालान् पर्यविध्यात् त्रिभिस्त्रिभिः ।
एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन् विव्याध पञ्चभिः ॥२९॥

राजन्! उन नरेशोंने भीष्मजीपर एक ही साथ दस हजार बाण चलाये; परंतु भीष्मजीने उन सबको अपने ऊपर आनेसे पहले बीचमें ही विशाल पंखयुक्त बाणोंकी बौछार करके शीघ्रतापूर्वक काट गिराया । तब वे सब राजा उन्हें चारों ओरसे घेरकर उनके ऊपर उसी प्रकार बाणोंकी झड़ी लगाने लगे, जैसे बादल पर्वतपर पानी की धारा बरसाते हैं । भीष्मजीने सब ओरसे उस बाण-वर्षाको रोककर उन सभी राजाओंको तीन-तीन बाणोंसे घायल कर दिया । तब उनमेंसे प्रत्येकने भीष्मजीको पाँच-पाँच बाण मारे ॥ २६–२९ ॥

स च तान् प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन् ।
तद् युद्धमासीत् तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ॥३०॥
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ।
स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ॥३१॥
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्यातिपुरुषानन्याँल्लाघवं रथचारिणः ॥३२॥
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ।
तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥३३॥
कन्याभिः सहितः प्रायाद् भारतो भारतान् प्रति ।
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ॥३४॥
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ।
वारणं जघने भिन्दन् दन्ताभ्यामपरो यथा ॥३५॥
वासितामनुसम्प्राप्तो यूथपो बलिनां वरः ।
स्त्रीकामस्तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिव ॥३६॥
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ।
ततः सः पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ॥३७॥
तद्वाक्याकुलितः क्रोधाद् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।
विततेषुधनुष्पाणिर्विकुञ्चितललाटभृत् ॥३८॥

फिर भीष्मजीने भी अपना पराक्रम प्रकट करते हुए प्रत्येक योद्धाको दो-दो बाणोंसे बींध डाला । बाणों और शक्तियोंसे व्याप्त उनका वह तुमुल युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर जान पड़ता था । उस समराङ्गणमें भीष्मने लोकविख्यात वीरोंके देखते-देखते उनके धनुष, ध्वजाके अग्रभाग, कवच और मस्तक सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें काट गिराये। युद्धमें रथसे विचरनेवाले भीष्मजीकी दूसरे वीरोंसे बढ़कर हाथकी फुर्ती और आत्मरक्षा आदिकी शत्रुओंने भी सराहना की। सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भरतकुलभूषण भीष्मजीने उन सब योद्धाओंको जीतकर कन्याओंको साथ ले भरतवंशियोंकी राजधानी हस्तिनापुरको प्रस्थान किया । राजन् ! तब महारथी शाल्वराजने पीछेसे आकर युद्धके लिये शान्तनुनन्दन भीष्मपर आक्रमण किया । शाल्वके शारीरिक बलकी कोई सीमा नहीं थी। जैसे हथिनीके पीछे लगे हुए एक गजराजके पृष्ठभागमें उसीका पीछा करनेवाला दूसरा यूथपति दाँतोंसे प्रहार करके उसे विदीर्ण करना चाहता है, उसी प्रकार बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु शाल्वराज स्त्रीको पानेकी इच्छासे ईर्ष्या और क्रोधके वशीभूत हो भीष्मका पीछा करते हुए उनसे बोला—'अरे ओ ! खड़ा रह, खड़ा रह।' तब शत्रुसेनाका संहार करनेवाले पुरुषसिंह भीष्म उठे

वचनोंको सुनकर क्रोधसे व्याकुल हो धूमरहित अग्निके समान जलने लगे और हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। उनके ललाटमें सिकुड़न आ गयी ॥ ३०—३८ ॥

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसम्भ्रमः ।
निवर्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥ ३९ ॥

महारथी भीष्मने क्षत्रिय-धर्मका आश्रय ले भय और घबराहट छोड़कर शाल्वकी ओर अपना रथ लौटाया ॥ ३९ ॥

निवर्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमे ॥ ४० ॥

उन्हें लौटते देख सब राजा भीष्म और शाल्वके युद्धमें कुछ भाग न लेकर केवल दर्शक बन गये ॥ ४० ॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ बलिनौ वासितान्तरे ।
अन्योन्यमभ्यवर्तेतां बलविक्रमशालिनौ ॥ ४१ ॥

ये दोनों बलवान् वीर मैथुनकी इच्छावाली गौके लिये आपसमें लड़नेवाले दो साँड़ोंकी तरह हुंकार करते हुए एक-दूसरेसे भिड़ गये। दोनों ही बल और पराक्रमसे सुशोभित थे ॥

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः ।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥ ४२ ॥

तदनन्तर मनुष्योंमें श्रेष्ठ राजा शाल्व शान्तनुनन्दन भीष्म-पर सैकड़ों और हजारों शीघ्रगामी बाणोंकी बौछार करने लगा ॥

पूर्वमभ्यर्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः ।
विस्मिताः समपद्यन्त साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ ४३ ॥

शाल्वने पहले ही भीष्मको पीड़ित कर दिया। यह देख-कर सभी राजा आश्चर्यचकित हो गये और 'वाह-वाह' करने लगे ॥ ४३ ॥

लाघवं तस्य ते दृष्ट्वा समरे सर्वपार्थिवाः ।
अपूजयन्त संहृष्टा वाग्भिः शाल्वं नराधिपम् ॥ ४४ ॥

युद्धमें उसकी फुर्ती देख सब राजा बड़े प्रसन्न हुए और अपनी वाणीद्वारा शाल्वनरेशकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४४ ॥

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरंजयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥ ४५ ॥

शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले शान्तनुनन्दन भीष्मने क्षत्रियोंकी वे बातें सुनकर कुपित हो शाल्वसे कहा—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ ४५ ॥

सारथिं चाब्रवीत् क्रुद्धो याहि यत्रैष पार्थिवः ।
यावदेनं निहन्म्यद्य भुजङ्गमिव पक्षिराट् ॥ ४६ ॥

फिर सारथिसे कहा—'जहाँ यह राजा शाल्व है, उधर ही रथ ले चलो। जैसे पक्षिराज गरुड सर्पको दबोच लेते हैं, उसी प्रकार मैं इसे अभी मार डालता हूँ' ॥ ४६ ॥

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग् योजयामास कौरवः ।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपते ॥ ४७ ॥

जनमेजय! तदनन्तर कुरुनन्दन भीष्मने धनुषपर उचित रीतिसे वारुणास्त्रका संधान किया और उसके द्वारा शाल्वराजके चारों घोड़ोंको रौंद डाला ॥ ४७ ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः ।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत् तस्य सारथिम् ॥ ४८ ॥

नृपश्रेष्ठ! फिर अपने अस्त्रोंसे राजा शाल्वके अस्त्रोंका निवारण करके कुरुवंशी भीष्मने उसके सारथिको भी मार डाला॥

अस्त्रेण चास्याथैन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान् ।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठः भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥ ४९ ॥
जित्वा विसर्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ॥ ५० ॥
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा ।
राजानो ये च तत्रासन् स्वयंवरदिदृक्षवः ॥ ५१ ॥
स्वान्येव तेऽपि राष्ट्राणि जग्मुः परपुरंजयाः ।
एवं विजित्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ ५२ ॥
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा प्रशास्ति वसुधामिमाम् ॥ ५३ ॥

तत्पश्चात् ऐन्द्रास्त्रद्वारा उसके उत्तम अश्वोंको यमलोक पहुँचा दिया। नरश्रेष्ठ! उस समय शान्तनुनन्दन भीष्मने कन्याओंके लिये युद्ध करके शाल्वको जीत लिया और नृपश्रेष्ठ शाल्वका भी केवल प्राणमात्र छोड़ दिया। जनमेजय! उस समय शाल्व अपनी राजधानीको लौट गया और धर्मपूर्वक राज्यका पालन करने लगा। इसी प्रकार शत्रुनगरीपर विजय पाने-वाले जो-जो राजा वहाँ स्वयंवर देखनेकी इच्छासे आये थे, वे भी अपने-अपने देशको चले गये। प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भीष्म उन कन्याओंको जीतकर हस्तिनापुरको चल दिये; जहाँ रहकर धर्मात्मा कुरुवंशी राजा विचित्रवीर्य इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ ४९-५३ ॥

यथा पितास्य कौरव्यः शान्तनुर्नृपसत्तमः ।
सोऽचिरेणैव कालेन अत्यक्रामन्नराधिप ॥ ५४ ॥
वनानि सरितश्चैव शैलांश्च विविधान् द्रुमान् ।
अक्षतः क्षपयित्वारीन् संख्येऽसंख्येयविक्रमः ॥ ५५ ॥

उनके पिता कुरुश्रेष्ठ नृपशिरोमणि शान्तनु जिस प्रकार राज्य करते थे, वैसा ही वे भी करते थे। जनमेजय! भीष्म-जी थोड़े ही समयमें वन, नदी, पर्वतोंको लाँघते और नाना प्रकारके वृक्षोंको लाँघते और पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ गये। युद्धमें उनका पराक्रम अवर्णनीय था। उन्होंने स्वयं अक्षत रहकर शत्रुओंको ही क्षति पहुँचायी थी ॥ ५४-५५ ॥

आनयामास काश्यस्य सुताः सागरगासुतः ।
स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ॥ ५६ ॥

यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून्।
आनिन्ये स महाबाहुर्भ्रातुः प्रियचिकीर्षया ॥ ५७ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्म काशिराजकी कन्याओंको पुत्र-वधू, छोटी बहिन एवं पुत्रीकी भाँति साथ रखकर कुरुदेशमें ले आये। वे महाबाहु अपने भाई विचित्रवीर्यका प्रिय करनेकी इच्छासे उन सबको लाये थे ॥ ५६-५७ ॥

ताः सर्वगुणसम्पन्ना भ्राता भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रमाहृताः ॥ ५८ ॥

भाई भीष्मने अपने पराक्रमद्वारा हरकर लायी हुई उन सर्वसद्गुणसम्पन्न कन्याओंको अपने छोटे भाई विचित्रवीर्यके हाथमें दे दिया ॥ ५८ ॥

एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम्।
भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ॥ ५९ ॥
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान्।
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्ध सती तदा ॥ ६० ॥

धर्मज्ञ एवं जितात्मा भीष्मजी इस प्रकार धर्मपूर्वक अलौकिक पराक्रम करके माता सत्यवतीसे सलाह ले एक निश्चयपर पहुँचकर भाई विचित्रवीर्यके विवाहकी तैयारी करने लगे। काशिराजकी उन कन्याओंमें जो सबसे बड़ी थी, वह बड़ी सती-साध्वी थी। उसने जब सुना कि भीष्मजी मेरा विवाह अपने छोटे भाईके साथ करेंगे, तब वह उनसे इस प्रकार बोली—॥ ५९-६० ॥

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥ ६१ ॥

'धर्मात्मन्! मैंने पहलेसे ही मन-ही-मन सौभ नामक विमानके अधिपति राजा शाल्वको पतिरूपमें वरण कर लिया था। उन्होंने भी पूर्वकालमें मेरा वरण किया था। मेरे पिताजीकी भी यही इच्छा थी कि मेरा विवाह शाल्वके साथ हो॥

मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन् स्वयंवरे।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥ ६२ ॥

'उस स्वयंवरमें मुझे राजा शाल्वका ही वरण करना था। धर्मज्ञ! इन सब बातोंको सोच-समझकर जो धर्मका सार प्रतीत हो, वही कार्य कीजिये' ॥ ६२ ॥

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि।
चिन्तामभ्यगमद् वीरो युक्तां तस्यैव कर्मणः ॥ ६३ ॥

जब उस कन्याने ब्राह्मणमण्डलीके बीच वीरवर भीष्मजीसे इस प्रकार कहा, तब वे उस वैवाहिक कर्मके विषयमें युक्तियुक्त विचार करने लगे ॥ ६३ ॥

विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥ ६४ ॥

वे स्वयं भी धर्मके ज्ञाता थे, फिर भी वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ भलीभाँति विचार करके उन्होंने काशिराजकी ज्येष्ठ पुत्री अम्बाको उस समय शाल्वके यहाँ जानेकी अनुमति दे दी ॥ ६४ ॥

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ६५ ॥

शेष दो कन्याओंका नाम अम्बिका और अम्बालिका था। उन्हें भीष्मजीने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार छोटे भाई विचित्रवीर्यको पत्नीरूपमें प्रदान किया ॥ ६५ ॥

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥ ६६ ॥

उन दोनोंका पाणिग्रहण करके रूप और यौवनके अभिमानसे भरे हुए धर्मात्मा विचित्रवीर्य कामात्मा बन गये॥

ते चापि बृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्धजे।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥ ६७ ॥

उनकी वे दोनों पत्नियाँ सयानी थीं। उनकी अवस्था सोलह वर्षकी हो चुकी थी। उनके केश नीले और घुँघराले थे; हाथ-पैरोंके नख लाल और ऊँचे थे; नितम्ब और उरोज स्थूल और उभरे हुए थे ॥ ६७ ॥

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरिति स्थिते।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ॥ ६८ ॥

वे यह जानकर संतुष्ट थीं कि हम दोनोंको अपने अनुरूप पति मिले हैं; अतः वे दोनों कल्याणमयी देवियाँ विचित्रवीर्यकी बड़ी सेवा-पूजा करने लगीं ॥ ६८ ॥

स चाश्विरूपसदृशो देवतुल्यपराक्रमः।
सर्वासामेव नारीणां चित्तप्रमथनो रहः ॥ ६९ ॥

विचित्रवीर्यका रूप अश्विनीकुमारोंके समान था। वे देवताओंके समान पराक्रमी थे। एकान्तमें वे सभी नारियोंके मनको मोह लेनेकी शक्ति रखते थे ॥ ६९ ॥

ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ७० ॥

राजा विचित्रवीर्यने उन दोनों पत्नियोंके साथ सात वर्षों तक निरन्तर विहार किया, अतः उस असंयमके परिणामस्वरूप वे युवावस्थामें ही राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥ ७० ॥

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥ ७१ ॥

उनके हितैषी सगे-सम्बन्धियोंने नामी और विश्वसनीय चिकित्सकोंके साथ उनके रोग-निवारणकी पूरी चेष्टा की, तो भी जैसे सूर्य अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी प्रकार वे कौरव नरेश यमलोकको चले गये ॥ ७१ ॥

धर्मात्मा स तु गाङ्गेयश्चिन्ताशोकपरायणः ।
प्रेतकार्याणि सर्वाणि तस्य सम्यगकारयत् ॥ ७२ ॥
राज्ञो विचित्रवीर्यस्य सत्यवत्या मते स्थितः ।
ऋत्विग्भिः सहितो भीष्मः सर्वैश्च कुरुपुङ्गवैः ॥ ७३ ॥

धर्मात्मा गङ्गानन्दन भीष्मजी भाईकी मृत्युसे चिन्ता और शोकमें डूब गये । फिर माता सत्यवतीकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले उन भीष्मजीने ऋत्विजों तथा कुरुकुलके समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ राजा विचित्रवीर्यके सभी प्रेतकार्य अच्छी तरह कराये ॥ ७२-७३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्योपरमे द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यका निधनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

सत्यवतीका भीष्मसे राज्यग्रहण और संतानोत्पादनके लिये आग्रह तथा भीष्मके द्वारा अपनी प्रतिज्ञा बतलाते हुए उसकी अस्वीकृति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
पुत्रस्य कृत्वा कार्याणि स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १ ॥
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ।
धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥ २ ॥
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य कौरव्यस्य यशस्विनः ।
त्वयि पिण्डश्च कीर्तिश्च संतानं च प्रतिष्ठितम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली सत्यवती अपने पुत्रके वियोगसे अत्यन्त दीन और कृपण हो गयी । उसने पुत्रवधुओंके साथ पुत्रके प्रेतकार्य करके अपनी दोनों बहुओं तथा शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको धीरज बँधाया । फिर उस महाभागा मङ्गलमयी देवीने धर्म, पितृकुल तथा मातृकुलकी ओर देखकर गङ्गानन्दन भीष्मसे कहा—'बेटा ! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले परम यशस्वी कुरुनन्दन महाराज शान्तनुके पिण्ड, कीर्ति और वंश ये सब तुम्हींपर अवलम्बित हैं ॥ १–३ ॥

यथा कर्म शुभं कृत्वा स्वर्गोपगमनं ध्रुवम् ।
यथा चायुर्ध्रुवं सत्ये त्वयि धर्मस्तथा ध्रुवः ॥ ४ ॥

'जैसे शुभ कर्म करके स्वर्गलोकमें जाना निश्चित है, जैसे सत्य बोलनेसे आयुका बढ़ना अवश्यम्भावी है, वैसे ही तुममें धर्मका होना भी निश्चित है ॥ ४ ॥

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ ! तुम सब धर्मोंको संक्षेप और विस्तारसे जानते हो । नाना प्रकारकी श्रुतियों और समस्त वेदाङ्गोंका भी तुम्हें पूर्ण ज्ञान है ॥ ५ ॥

व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ६ ॥

'मैं तुम्हारी धर्मनिष्ठा और कुलोचित सदाचारको भी देखती हूँ । संकटके समय शुक्राचार्य और बृहस्पतिकी भाँति तुम्हारी बुद्धि उपयुक्त कर्तव्यका निर्णय करनेमें समर्थ है ॥ ६ ॥

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥ ७ ॥

'अतः धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्म ! तुमपर अत्यन्त विश्वास रखकर ही मैं तुम्हें एक आवश्यक कार्यमें लगाना चाहती हूँ । तुम पहले उसे सुन लो; फिर उसका पालन करनेकी चेष्टा करो ॥ ७ ॥

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ८ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ९ ॥
तयोरुत्पादयापत्यं संतानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्तुमिहार्हसि ॥ १० ॥

'मेरा पुत्र और तुम्हारा भाई विचित्रवीर्य जो पराक्रमी होनेके साथ ही तुम्हें अत्यन्त प्रिय था, छोटी अवस्थामें ही स्वर्गवासी हो गया । नरश्रेष्ठ ! उसके कोई पुत्र नहीं हुआ था । तुम्हारे भाईकी ये दोनों सुन्दरी रानियाँ, जो काशिराजकी कन्याएँ हैं, मनोहर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न हैं । इनके हृदयमें पुत्र पानेकी अभिलाषा है । भारत ! तुम हमारे कुलकी संतानपरम्पराको सुरक्षित रखनेके लिये स्वयं ही इन दोनोंके गर्भसे पुत्र उत्पन्न करो । महाबाहो ! मेरी आज्ञासे यह धर्मकार्य तुम अवश्य करो ॥ ८–१० ॥

राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ११ ॥

'राज्यपर अपना अभिषेक करो और भारतीय प्रजाका पालन करते रहो । धर्मके अनुसार विवाह कर लो; पितरोंको नरकमें न गिरने दो' ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता और सुहृदोंके ऐसा कहनेपर शत्रुदमन धर्मात्मा भीष्मने यह धर्मानुकूल उत्तर दिया—॥ १२ ॥

असंशयं परो धर्मस्त्वया मातरुदाहृतः।
राज्यार्थे नाभिषिञ्चेयं नोपेयां जातु मैथुनम्।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥१३॥
जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥१४॥

'माता ! तुमने जो कुछ कहा है, वह धर्मयुक्त है, इसमें संशय नहीं; परंतु मैं राज्यके लोभसे न तो अपना अभिषेक कराऊँगा और न स्त्रीसहवास ही करूँगा। संतानोत्पादन और राज्य-ग्रहण न करनेके विषयमें जो मेरी कठोर प्रतिज्ञा है, उसे तो तुम जानती ही हो। सत्यवती ! तुम्हारे लिये शुल्क देनेके हेतु जो-जो बातें हुई थीं, वे सब तुम्हें ज्ञात हैं। उन प्रतिज्ञाओंको पुनः सच्ची करनेके लिये मैं अपना दृढ़ निश्चय बताता हूँ ॥ १३-१४ ॥

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद् वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथंचन ॥१५॥

'मैं तीनों लोकोंका राज्य, देवताओंका साम्राज्य अथवा इन दोनोंसे भी अधिक महत्त्वकी वस्तुको भी एकदम त्याग सकता हूँ; परंतु सत्यको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता ॥

त्यजेच्च पृथ्वी गन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद् रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् १६

'पृथ्वी अपनी गंध छोड़ दे, जल अपने रसका परित्याग कर दे, तेज रूपका और वायु स्पर्श नामक स्वाभाविक गुणका त्याग कर दे ॥ १६ ॥

प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्मताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाऽऽकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ॥१७॥

'सूर्य प्रभा और अग्नि अपनी उष्णताको छोड़ दे, आकाश शब्दका और चन्द्रमा अपनी शीतलताका परित्याग कर दे ॥

विक्रमं वृत्रहा जह्याद् धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन ॥१८॥

'इन्द्र पराक्रमको छोड़ दें और धर्मराज धर्मकी उपेक्षा कर दें; परंतु मैं किसी प्रकार सत्यको छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

(तन्न जात्वन्यथा कुर्यां लोकानामपि संक्षये।
अमरत्वस्य वा हेतोस्त्रैलोक्यसदनस्य वा ॥
एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा।)
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥१९॥
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम।
इच्छन् सृजेथास्त्रींल्लोकानन्यांस्त्वं स्वेन तेजसा ॥२०॥
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थं यच्च भाषितम्।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥२१॥

'सारे संसारका नाश हो जाय, मुझे अमरत्व मिलता हो या त्रिलोकीका राज्य प्राप्त हो, तो भी मैं अपने किये हुए प्रणको नहीं तोड़ सकता।' महान् तेजोरूप धनसे सम्पन्न अपने पुत्र भीष्मके ऐसा कहनेपर माता सत्यवती इस प्रकार बोली—'बेटा ! तुम सत्यपराक्रमी हो। मैं जानती हूँ, सत्यमें तुम्हारी दृढ़ निष्ठा है। तुम चाहो तो अपने ही तेजसे नये त्रिलोकीकी रचना कर सकते हो। मैं उस सत्यको भी नहीं भूल सकी हूँ, जिसकी तुमने मेरे लिये घोषणा की थी। फिर भी मेरा आग्रह है कि तुम आपद्धर्मका विचार करके बाप-दादोंके दिये हुए इस राज्यभारको वहन करो ॥ १९–२१ ॥

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत्।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परंतप ॥२२॥

'परंतप ! जिस उपायसे तुम्हारे वंशकी परम्परा नष्ट न हो, धर्मकी भी अवहेलना न होने पावे और प्रेमी सुहृद् भी संतुष्ट हो जायँ, वही करो' ॥ २२ ॥

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥२३॥

पुत्रकी कामनासे दीन वचन बोलनेवाली और धर्मरहित बात कहनेवाली सत्यवतीसे भीष्मने फिर यह बात कही—॥ २३ ॥

राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मा नः सर्वान् व्यनीनशः।
सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥२४॥

'राजमाता ! धर्मकी ओर दृष्टि डालो, हम सबका नाश न करो। क्षत्रियका सत्यसे विचलित होना किसी भी धर्ममें अच्छा नहीं माना गया है ॥ २४ ॥

शान्तनोरपि संतानं यथा स्यादक्षयं भुवि।
तत् ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥२५॥

'राजमाता ! महाराज शान्तनुकी संतानपरम्परा भी जिस उपायसे इस भूतलपर अक्षय बनी रहे, वह धर्मयुक्त उपाय मैं तुम्हें बतलाऊँगा। वह सनातन क्षत्रियधर्म है ॥ २५ ॥

श्रुत्वा तं प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतन्त्रमवेक्ष्य च ॥ २६ ॥

उसे आपद्धर्मके निर्णयमें कुशल विद्वान् पुरोहितोंसे सुनकर और लोकतन्त्रकी ओर भी देखकर निश्चय करो ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मसत्यवतीसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-सत्यवती-संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०३॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीद्वारा व्यासका आवाहन और व्यासजीका माताकी आज्ञासे कुरुवंशकी वृद्धिके लिये विचित्रवीर्यकी पत्नियोंके गर्भसे संतानोत्पादन करनेकी स्वीकृति देना

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं संतानवृद्धये।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १ ॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥ २ ॥

भीष्मजी कहते हैं—मातः! भरतवंशकी संतानपरम्पराको बढ़ाने और सुरक्षित रखनेके लिये जो नियत उपाय है, उसे मैं बता रहा हूँ; सुनो। किसी गुणवान्* ब्राह्मणको धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंके गर्भसे संतान उत्पन्न कर सके ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब सत्यवती कुछ हँसती और साथ ही लजाती हुई भीष्मजीसे इस प्रकार बोली। बोलते समय उसकी वाणी संकोचसे कुछ अस्पष्ट-सी हो जाती थी ॥ ३ ॥

सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
विश्वासात् ते प्रवक्ष्यामि संतानाय कुलस्य नः ॥ ४ ॥

उसने कहा—'महाबाहु भीष्म! तुम जैसा कहते हो वही ठीक है। तुमपर विश्वास होनेसे अपने कुलकी संततिकी रक्षाके लिये तुम्हें मैं एक बात बतलाती हूँ ॥ ४ ॥

न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम्।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परा गतिः ॥ ५ ॥

'ऐसे आपद्धर्मको देखकर वह बात तुम्हें बताये बिना मैं नहीं रह सकती। तुम्हीं हमारे कुलमें मूर्तिमान् धर्म हो, तुम्हीं सत्य हो और तुम्हीं परम गति हो ॥ ५ ॥

तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम्।
(यस्तु राजा वसुर्नाम श्रुतस्ते भरतर्षभ।
तस्य शुक्रादहं मत्स्याद् धृता कुक्षौ पुरा किल ॥
मातरं मे जलाद्धृत्वा दाशः परमधर्मवित्।
मां तु स्वगृहमानीय दुहितृत्वे ह्यकल्पयत् ॥)
धर्मयुक्तस्य धर्मार्थं पितुरासीत् तरी मम ॥ ६ ॥

'अतः मेरी सच्ची बात सुनकर उसके बाद जो कर्तव्य हो, उसे करो।

'भरतश्रेष्ठ! तुमने महाराज वसुका नाम सुना होगा। पूर्वकालमें मैं उन्हींके वीर्यसे उत्पन्न हुई थी। मुझे एक मछलीने अपने पेटमें धारण किया था। एक परम धर्मज्ञ मल्लाहने जलमेंसे मेरी माताको पकड़ा, उसके पेटसे मुझे निकाला और अपने घर लाकर अपनी पुत्री बनाकर रक्खा। मेरे उन धर्मपरायण पिताके पास एक नौका थी, जो (धनके लिये नहीं) धर्मार्थ चलायी जाती थी ॥ ६ ॥

सा कदाचिदहं तत्र गता प्रथमयौवनम्।
अथ धर्मविदां श्रेष्ठः परमर्षिः पराशरः ॥ ७ ॥

---

* यहाँ गुणवान्का अर्थ है—नियोगकी विधिको जाननेवाला संयमी पुरुष। मनु महाराजने स्त्रियोंके आपद्धर्मके प्रसङ्गमें लिखा है—

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥
(मनुस्मृति ९ । ६१)

विधवा स्त्रीके साथ सहवासके लिये (पतिपक्षके गुरुजनोंद्वारा) नियुक्त पुरुष अपने सारे शरीरपर घी चुपड़कर (सौन्दर्य बिगाड़कर), वाणीको संयममें रखकर (चुपचाप रहकर) रात्रिमें सहवास करे। इस प्रकार वह एक ही पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कभी न करे।

विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥
(मनुस्मृति ९ । ६२)

विधवामें नियोगके लिये विधिके अनुसार (अर्थात् कामवश न होकर कर्तव्य बुद्धिसे) चित्तको संयमित और इन्द्रियोंको अनासक्त रखते हुए नियोगका प्रयोजन सिद्ध हो जानेपर दोनों परस्पर पिता और पुत्रवधूके समान बर्ताव करें (अर्थात् स्त्री उसको पिताके समान समझकर बरते और पुरुष उसे पुत्रवधूके समान मानकर बर्ताव करे)।

कलियुगमें मनुष्योंके असंयमी और कामी होनेके कारण नियोग वर्जित है।

आजगाम तरीं धीमांस्तरिष्यन् यमुनां नदीम् ।
स तार्यमाणो यमुनां मामुपेत्याब्रवीत् तदा ॥ ८ ॥
सान्त्वपूर्वं मुनिश्रेष्ठः कामार्तो मधुरं वचः ।
उक्त्वा जन्म कुलं मह्यमस्मि दाशसुतेत्यहम् ॥ ९ ॥

'एक दिन मैं उसी नावपर गयी हुई थी। उन दिनों मेरे यौवनका प्रारम्भ था। उसी समय धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् महर्षि पराशर यमुना नदी पार करनेके लिये मेरी नावपर आये। मैं उन्हें पार ले जा रही थी, तबतक वे मुनिश्रेष्ठ काम-पीड़ित हो मेरे पास आ मुझे समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले और उन्होंने मुझसे अपने जन्म और कुलका परिचय दिया। इसपर मैंने कहा—'भगवन्! मैं तो निषादकी पुत्री हूँ' ॥ ७–९ ॥

तमहं शापभीता च पितुर्भीता च भारत ।
वरैरसुलभैरुक्ता न प्रत्याख्यातुमुत्सहे ॥ १० ॥

'भारत! एक ओर मैं पिताजीसे डरती थी और दूसरी ओर मुझे मुनिके शापका भी डर था। उस समय महर्षिने मुझे दुर्लभ वर देकर उत्साहित किया, जिससे मैं उनके अनुरोधको टाल न सकी ॥ १० ॥

अभिभूय स मां बालां तेजसा वशमानयत् ।
तमसा लोकमावृत्य नौगतामेव भारत ॥ ११ ॥
मत्स्यगन्धो महानासीत् पुरा मम जुगुप्सितः ।
तमपास्य शुभं गन्धमिमं प्रादात् स मे मुनिः ॥ १२ ॥

'यद्यपि मैं चाहती नहीं थी, तो भी उन्होंने मुझ अबला-को अपने तेजसे तिरस्कृत करके नौकापर ही मुझे अपने वशमें कर लिया। उस समय उन्होंने कुहरा उत्पन्न करके सम्पूर्ण लोकको अन्धकारसे आवृत कर दिया था। भारत! पहले मेरे शरीरसे अत्यन्त घृणित मछलीकी-सी बड़ी तीव्र दुर्गन्ध आती थी। उसको मिटाकर मुनिने मुझे यह उत्तम गन्ध प्रदान की थी ॥

ततो मामाह स मुनिर्गर्भमुत्सृज्य मामकम् ।
द्वीपेऽस्या एव सरितः कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥ १३ ॥

'तदनन्तर मुनिने मुझसे कहा—'तुम इस यमुनाके ही द्वीपमें मेरे द्वारा स्थापित इस गर्भको त्यागकर फिर कन्या ही हो जाओगी' ॥ १३ ॥

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
कन्यापुत्रो मम पुरा द्वैपायन इति श्रुतः ॥ १४ ॥

'उस गर्भसे पराशरजीके पुत्र महान् योगी महर्षि व्यास प्रकट हुए। वे ही द्वैपायन नामसे विख्यात हैं। वे मेरे कन्यावस्थाके पुत्र हैं ॥ १४ ॥

यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥ १५ ॥

'वे भगवान् द्वैपायन मुनि अपने तपोबलसे चारों वेदोंका पृथक्-पृथक् विस्तार करके लोकमें 'व्यास' पदवीको प्राप्त हुए हैं। शरीरका रंग साँवला होनेसे उन्हें लोग 'कृष्ण' भी कहते हैं ॥ १५ ॥

सत्यवादी शमपरस्तपस्वी दग्धकिल्बिषः ।
समुत्पन्नः स तु महान् सह पित्रा ततो गतः ॥ १६ ॥

'वे सत्यवादी, शान्त, तपस्वी और पापशून्य हैं। वे उत्पन्न होते ही बड़े होकर उस द्वीपसे अपने पिताके साथ चले गये थे ॥ १६ ॥

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

'मेरे और तुम्हारे आग्रह करनेपर वे अनुपम तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाईके क्षेत्रमें कल्याणकारी संतान उत्पन्न करेंगे ॥ १७ ॥

स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महाबाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥ १८ ॥

'उन्होंने जाते समय मुझसे कहा था कि संकटके समय मुझे याद करना। महाबाहु भीष्म! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो मैं उन्हींका स्मरण करूँ ॥ १८ ॥

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥ १९ ॥

'भीष्म! तुम्हारी अनुमति मिल जाय, तो महातपस्वी व्यास निश्चय ही विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंसे पुत्रोंको उत्पन्न करेंगे' ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ॥ २० ॥
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मं धर्मानुबन्धनम् ।
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
यो विचिन्त्य धिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ।
तदिदं धर्मयुक्तं च हितं चैव कुलस्य नः ॥ २२ ॥
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महर्षि व्यासका नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर बोले—'माताजी! जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका बारंबार विचार करता है तथा यह भी जानता है कि किस प्रकार अर्थसे अर्थ, धर्मसे धर्म और कामसे कामरूप फलकी प्राप्ति होती है और वह परिणाम में कैसे सुखद होता है तथा किस प्रकार अर्थादिके सेवनसे विपरीत फल (अर्थनाश आदि) प्रकट होते हैं, इन बातोंको पृथक्-पृथक् भलीभाँति विचार करके जो धीर पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करता है, वही बुद्धिमान् है। तुमने जो बात कही है, वह धर्मयुक्त तो है ही, हमारे

कुलके लिये भी हितकर और कल्याणकारी है; इसलिये मुझे बहुत अच्छी लगी है' ॥ २०—२२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते भीष्मेण कुरुनन्दन ॥ २३ ॥
कृष्णद्वैपायनं काली चिन्तयामास वै मुनिम्।
स वेदान् विब्रुवन् धीमान् मातुर्विज्ञाय चिन्तितम्।२४।
प्रादुर्बभूवाविदितः क्षणेन कुरुनन्दन।
तस्मै पूजां ततः कृत्वा सुताय विधिपूर्वकम् ॥ २५ ॥
परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्नवैरभ्यषिञ्चत।
मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! उस समय भीष्मजीके इस प्रकार अपनी सम्मति देनेपर काली (सत्यवती) ने मुनिवर कृष्णद्वैपायनका चिन्तन किया। जनमेजय ! माताने मेरा स्मरण किया है, यह जानकर परम बुद्धिमान् व्यासजी वेदमन्त्रोंका पाठ करते हुए क्षणभरमें वहाँ प्रकट हो गये। वे कब किधरसे आ गये, इसका पता किसीको न चला। सत्यवतीने अपने पुत्रका भलीभाँति सत्कार किया और दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन करके अपने स्तनोंके झरते हुए दूधसे उनका अभिषेक किया। अपने पुत्रको दीर्घकालके बाद देखकर सत्यवतीकी आँखोंसे स्नेह और आनन्दके आँसू बहने लगे ॥ २३—२६ ॥

तामद्भिः परिषिच्यार्तां महर्षिरभिवाद्य च।
मातरं पूर्वजः पुत्रो व्यासो वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तदनन्तर सत्यवतीके प्रथम पुत्र महर्षि व्यासने अपने कमण्डलुके पवित्र जलसे दुःखिनी माताका अभिषेक किया और उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

भवत्या यदभिप्रेतं तदहं कर्तुमागतः।
शाधि मां धर्मतत्त्वज्ञे करवाणि प्रियं तव ॥ २८ ॥

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाली माताजी ! आपकी जो हार्दिक इच्छा हो, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। आज्ञा दीजिये, मैं आपकी कौन-सी प्रिय सेवा करूँ' ॥ २८ ॥

तस्मै पूजां ततोऽकार्षीत् पुरोधाः परमर्षये।
स च तां प्रतिजग्राह विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् पुरोहितने महर्षिका विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारणके साथ पूजन किया और महर्षिने उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया ॥ २९ ॥

पूजितो मन्त्रपूर्वं तु विधिवत् प्रीतिमाप सः।
तमासनगतं माता पृष्ट्वा कुशलमव्ययम् ॥ ३० ॥
सत्यवत्यथ वीक्ष्यैनमुवाचेदमनन्तरम्।

विधि और मन्त्रोच्चारणपूर्वक की हुई उस पूजासे व्यासजी बहुत प्रसन्न हुए। जब वे आसनपर बैठ गये, तब माता सत्यवतीने उनका कुशल-क्षेम पूछा और उनकी ओर देखकर इस प्रकार कहा—॥ ३०½ ॥

मातापित्रोः प्रजायन्ते पुत्राः साधारणाः कवे ॥ ३१ ॥
तेषां पिता यथा स्वामी तथा माता न संशयः।
विधानविहितः सत्यं यथा मे प्रथमः सुतः ॥ ३२ ॥
विचित्रवीर्यो ब्रह्मर्षे तथा मेऽवरजः सुतः।
यथैव पितृतो भीष्मस्तथा त्वमपि मातृतः ॥ ३३ ॥
भ्राता विचित्रवीर्यस्य यथा वा पुत्र मन्यसे।
अयं शान्तनवः सत्यं पालयन् सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

'विद्वन् ! माता और पिता दोनोंसे पुत्रोंका जन्म होता है, अतः उनपर दोनोंका समान अधिकार है। जैसे पिता पुत्रोंका स्वामी है, उसी प्रकार माता भी है। इसमें संदेह नहीं है। ब्रह्मर्षे ! विधाताके विधान या मेरे पूर्वजन्मोंके पुण्यसे जिस प्रकार तुम मेरे प्रथम पुत्र हो, उसी प्रकार विचित्रवीर्य मेरा सबसे छोटा पुत्र था। जैसे एक पिताके नाते भीष्म उसके भाई हैं, उसी प्रकार एक माताके नाते तुम भी विचित्रवीर्यके भाई ही हो। बेटा ! मेरी तो ऐसी ही मान्यता है; फिर तुम जैसा समझो। ये सत्यपराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्म सत्यका पालन कर रहे हैं ॥ ३१—३४ ॥

बुद्धिं न कुरुतेऽपत्ये तथा राज्यानुशासने।
स त्वं व्यपेक्षया भ्रातुः संतानाय कुलस्य च ॥ ३५ ॥
भीष्मस्य चास्य वचनान्नियोगाच्च ममानघ।
अनुक्रोशाच्च भूतानां सर्वेषां रक्षणाय च ॥ ३६ ॥
आनृशंस्याच्च यद् ब्रूयां तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि।
यवीयसस्तव भ्रातुर्भार्ये सुरसुतोपमे ॥ ३७ ॥
रूपयौवनसम्पन्ने पुत्रकामे च धर्मतः।
तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक ॥ ३८ ॥
अनुरूपं कुलस्यास्य संतत्याः प्रसवस्य च।

'अनघ ! संतानोत्पादन तथा राज्य-शासन करनेका इनका विचार नहीं है; अतः तुम अपने भाईके पारलौकिक हितका विचार करके तथा कुलकी संतान-परम्पराकी रक्षाके लिये भीष्मके अनुरोध और मेरी आज्ञासे सब प्राणियोंपर दया करके उनकी रक्षा करनेके उद्देश्यसे और अपने अन्तःकरणकी कोमल वृत्तिको देखते हुए मैं जो कुछ कहूँ, उसे सुनकर उसका पालन करो। तुम्हारे छोटे भाईकी पत्नियाँ देवकन्याओंके समान सुन्दर रूप तथा युवावस्थासे सम्पन्न हैं। उनके मनमें धर्मतः पुत्र पानेकी कामना है। पुत्र ! तुम इसके लिये समर्थ हो, अतः उन दोनोंके गर्भसे ऐसी संतानोंको जन्म दो, जो इस कुल-परम्पराकी रक्षा तथा वृद्धिके लिये सर्वथा सुयोग्य हों' ॥ ३५—३८½ ॥

व्यास उवाच

वेत्थ धर्मं सत्यवति परं चापरमेव च ॥ ३९ ॥
तथा तव महाप्राज्ञे धर्मे प्रणिहिता मतिः ।
तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ४० ॥
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत् सनातनम् ।
भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान् ॥ ४१ ॥

व्यासजीने कहा—माता सत्यवती ! आप पर और अपर दोनों प्रकारके धर्मोंको जानती हैं । महाप्राज्ञे ! आपकी बुद्धि सदा धर्ममें लगी रहती है । अतः मैं आपकी आज्ञासे धर्मको ही दृष्टिमें रखकर (कामके वश न होकर ही) आपकी इच्छाके अनुरूप कार्य करूँगा । यह सनातन मार्ग शास्त्रोंमें देखा गया है । मैं अपने भाईके लिये मित्र और वरुणके समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न करूँगा ॥ ३९-४१ ॥

व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया ।
संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः ॥ ४२ ॥
न हि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना ।

विचित्रवीर्यकी स्त्रियोंको मेरे बताये अनुसार एक वर्षतक विधिपूर्वक व्रत (जितेन्द्रिय होकर केवल संतानार्थ साधन) करना होगा, तभी वे शुद्ध होंगी । जिसने व्रतका पालन नहीं किया है, ऐसी कोई भी स्त्री मेरे समीप नहीं आ सकती ॥ ४२½ ॥

सत्यवत्युवाच

सद्यो यथा प्रपद्येते देव्यौ गर्भं तथा कुरु ॥ ४३ ॥

सत्यवतीने कहा—बेटा ! ये दोनों रानियाँ जिस प्रकार शीघ्र गर्भ धारण करें, वह उपाय करो ॥ ४३ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु प्रजानाथा विनश्यति ।
नश्यन्ति च क्रियाः सर्वा नास्ति वृष्टिर्न देवता ॥ ४४ ॥

राज्यमें इस समय कोई राजा नहीं है । बिना राजाके राज्यकी प्रजा अनाथ होकर नष्ट हो जाती है । यज्ञ-दान आदि क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं । उस राज्यमें न वर्षा होती है, न देवता वास करते हैं ॥ ४४ ॥

कथं चाराजकं राष्ट्रं शक्यं धारयितुं प्रभो ।
तस्माद् गर्भं समाधत्स्व भीष्मः संवर्धयिष्यति ॥ ४५ ॥

प्रभो ! तुम्हीं सोचो, बिना राजाका राज्य कैसे सुरक्षित और अनुशासित रह सकता है । इसलिये शीघ्र गर्भाधान करो । भीष्म बालकको पाल-पोसकर बड़ा कर लेंगे ॥ ४५ ॥

व्यास उवाच

यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः ।
विरूपतां मे सहतां तयोरेतत् परं व्रतम् ॥ ४६ ॥

व्यासजी बोले—माँ ! यदि मुझे समयका नियम न रखकर शीघ्र ही अपने भाईके लिये पुत्र प्रदान करना है, तो उन देवियोंके लिये यह उत्तम व्रत आवश्यक है कि वे मेरे असुन्दर रूपको देखकर शान्त रहें, डरें नहीं ॥ ४६ ॥

यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः ।
अद्यैव गर्भं कौसल्या विशिष्टं प्रतिपद्यताम् ॥ ४७ ॥

यदि कौसल्या (अम्बिका) मेरे गन्ध, रूप, वेष और शरीरको सहन कर ले तो वह आज ही एक उत्तम बालकको अपने गर्भमें पा सकती है ॥ ४७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महातेजा व्यासः सत्यवतीं तदा ।
शयने सा च कौसल्या शुचिवस्त्रा ह्यलंकृता ॥ ४८ ॥
समागमनमाकाङ्क्षेदिति सोऽन्तर्हितो मुनिः ।
ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ॥ ४९ ॥
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौसल्ये धर्मतन्त्रं त्वां यद् ब्रवीमि निबोध तत् ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहनेके बाद महातेजस्वी मुनिश्रेष्ठ व्यासजी सत्यवतीसे फिर 'अच्छा तो कौसल्या (ऋतु-स्नानके पश्चात्) शुद्ध वस्त्र और शृङ्गार धारण करके शय्यापर मिलनकी प्रतीक्षा करे' यों कहकर अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर देवी सत्यवतीने एकान्तमें आयी हुई अपनी पुत्रवधू अम्बिकाके पास जाकर उससे (आपद्) धर्म और अर्थसे युक्त हितकारक वचन कहा—'कौसल्ये ! मैं तुमसे जो धर्मसङ्गत बात कह रही हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ४८-५० ॥

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च सम्प्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥ ५१ ॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ॥ ५२ ॥

'मेरे भाग्यका नाश हो जानेसे अब भरतवंशका उच्छेद हो चला है, यह स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इसके कारण मुझे व्यथित और पितृकुलको पीड़ित देख भीष्मने इस कुलकी वृद्धिके लिये मुझे एक सम्मति दी है । बेटी ! उस सम्मतिकी सार्थकता तुम्हारे अधीन है । तुम भीष्मके बताये अनुसार मुझे उस अवस्थामें पहुँचाओ, जिससे मैं अपने अभीष्टकी सिद्धि देख सकूँ ॥ ५१-५२ ॥

नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ।
पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ॥ ५३ ॥
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ।

'सुश्रोणि ! इस नष्ट होते हुए भरतवंशका पुनः उद्धार करो

तुम देवराज इन्द्रके समान एक तेजस्वी पुत्रको जन्म दो। वही हमारे कुलके इस महान् राज्य-भारको वहन करेगा' ॥ ५३½ ॥

सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद् धर्मचारिणीम्।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ५४ ॥

कौसल्या धर्मका आचरण करनेवाली थी। सत्यवतीने धर्मको सामने रखकर ही उसे किसी प्रकार समझा-बुझाकर (बड़ी कठिनतासे) इस कार्यके लिये तैयार किया। उसके बाद ब्राह्मणों, देवर्षियों तथा अतिथियोंको भोजन कराया ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि सत्यवत्युपदेशे चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें सत्यवती-उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(इस अध्यायमें ५४ श्लोक, दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक और कुल ५६ श्लोक हैं)



पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके द्वारा विचित्रवीर्यके क्षेत्रसे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुरकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सत्यवती ठीक समयपर अपनी ऋतुस्नाता पुत्रवधूको शय्यापर बैठाती हुई धीरेसे बोली—॥ १ ॥

कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

'कौसल्ये! तुम्हारे एक देवर हैं, वे ही आज तुम्हारे पास गर्भाधानके लिये आयेंगे। तुम सावधान होकर उनकी प्रतीक्षा करो। वे ठीक आधी रातके समय यहाँ पधारेंगे' ॥ २ ॥

श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा शयाना शयने शुभे।
साचिन्तयत् तदा भीष्ममन्यांश्च कुरुपुङ्गवान् ॥ ३ ॥

सासकी यह बात सुनकर कौसल्या पवित्र शय्यापर शयन करके उस समय मन-ही-मन भीष्म तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंका चिन्तन करने लगी ॥ ३ ॥

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ४ ॥

उस समय नियोगविधिके अनुसार सत्यवादी महर्षि व्यासने अम्बिकाके महलमें (शरीरपर घी चुपड़े हुए, संयत-चित्त, कुत्सित रूपमें) प्रवेश किया। उस समय बहुतसे दीपक वहाँ प्रकाशित हो रहे थे ॥ ४ ॥

तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

व्यासजीके शरीरका रंग काला था, उनकी जटाएँ पिंगल वर्णकी और आँखें चमक रही थीं तथा दाढ़ी-मूँछ भूरे रंगकी दिखायी देती थी। उन्हें देखकर देवी कौसल्याने (भयके मारे) अपने दोनों नेत्र बंद कर लिये ॥ ५ ॥

सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

माताका प्रिय करनेकी इच्छासे व्यासजीने उसके साथ समागम किया; परंतु काशिराजकी कन्या भयके मारे उनकी ओर अच्छी तरह देख न सकी ॥ ६ ॥

ततो निष्क्रान्तमागस्य माता पुत्रमुवाच ह।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥

जब व्यासजी उसके महलसे बाहर निकले, तब माता सत्यवतीने आकर उनसे पूछा—'बेटा! क्या अम्बिकाके गर्भसे कोई गुणवान् राजकुमार उत्पन्न होगा?' ॥ ७ ॥

निशम्य तद् वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः।
नागायुतसमप्राणो विद्वान् राजर्षिसत्तमः ॥ ८ ॥
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति।
तस्य चापि शतं पुत्रा भविष्यन्ति महात्मनः ॥ ९ ॥

माताका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यासजी बोले—'माँ! वह दस हजार हाथियोंके समान बलवान्, विद्वान्, राजर्षियोंमें श्रेष्ठ, परम सौभाग्यशाली, महापराक्रमी तथा अत्यन्त बुद्धिमान् होगा। उस महामनाके भी सौ पुत्र होंगे ॥ ८-९ ॥

किं तु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १० ॥
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन।
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्धनम् ॥ ११ ॥
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि।

'किंतु माताके दोषसे वह बालक अन्धा ही होगा।' व्यासजीकी यह बात सुनकर माताने कहा—'तपोधन! कुरुवंशका राजा अन्धा हो यह उचित नहीं है। अतः कुरुवंशके लिये दूसरा राजा दो, जो जातिभाइयों तथा समस्त कुलका संरक्षक और पिताका वंश बढ़ानेवाला हो' ॥ १०-११½ ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ॥ १२ ॥

महायशस्वी व्यासजी 'तथास्तु' कहकर वहाँसे निकल गये ॥ १२ ॥

सापि कालेन कौसल्या सुषुवेऽन्धं तमात्मजम् ।
पुनरेव तु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ॥ १३ ॥
ऋषिमावाहयत् सत्या यथा पूर्वमरिंदम ।
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ॥ १४ ॥
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ॥ १५ ॥

प्रसवका समय आनेपर कौसल्याने उसी अन्धे पुत्रको जन्म दिया । जनमेजय ! तत्पश्चात् देवी सत्यवतीने अपनी दूसरी पुत्रवधूको समझा-बुझाकर गर्भाधानके लिये तैयार किया और इसके लिये पूर्ववत् महर्षि व्यासका आवाहन किया । फिर महर्षिने उसी (नियोगकी संयमपूर्ण) विधिसे देवी अम्बालिका-के साथ समागम किया । भारत ! महर्षि व्यासको देखकर वह भी कान्तिहीन तथा पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी ॥ १३—१५ ॥

तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उसे भयभीत, विषादग्रस्त तथा पाण्डुवर्णकी-सी देख सत्यवतीनन्दन व्यासने यों कहा—॥ १६ ॥

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ॥ १७ ॥

'अम्बालिके ! तुम मुझे विरूप देखकर पाण्डुवर्णकी-सी हो गयी थीं, इसलिये तुम्हारा यह पुत्र पाण्डु रंगका ही होगा ॥ १७ ॥

नाम चास्यैतदेवेह भविष्यति शुभानने ।
इत्युक्त्वा स निरक्रामद् भगवानृषिसत्तमः ॥ १८ ॥

'शुभानने ! इस बालकका नाम भी संसारमें 'पाण्डु' ही होगा ।' ऐसा कहकर मुनिश्रेष्ठ भगवान् व्यास वहाँसे निकल गये ॥ १८ ॥

ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत् ।
शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ॥ १९ ॥

उस महलसे निकलनेपर सत्यवतीने अपने पुत्रसे उसके विषयमें पूछा । तब व्यासजीने भी मातासे उस बालकके पाण्डुवर्ण होनेकी बात बता दी ॥ १९ ॥

तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥ २० ॥

उसके बाद सत्यवतीने पुनः एक दूसरे पुत्रके लिये उनसे याचना की । महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर माताकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ २० ॥

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुं लक्षणसम्पन्नं दीप्यमानमिव श्रिया ॥ २१ ॥

तदनन्तर देवी अम्बालिकाने समय आनेपर एक पाण्डु वर्णके पुत्रको जन्म दिया । वह अपनी दिव्य कान्तिसे उद्भासित हो रहा था ॥ २१ ॥

यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पञ्च पाण्डवाः ।
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ॥ २२ ॥

यह वही बालक था, जिसके पुत्र महाधनुर्धारी पाँच पाण्डव हुए । इसके बाद ऋतुकाल आनेपर सत्यवतीने अपनी बड़ी बहू अम्बिकाको पुनः व्यासजीसे मिलनेके लिये नियुक्त किया ॥ २२ ॥

सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥ २३ ॥

परंतु देवकन्याके समान सुन्दरी अम्बिकाने महर्षिके उस कुत्सित रूप और गन्धका चिन्तन करके भयके मारे देवी सत्यवतीकी आज्ञा नहीं मानी ॥ २३ ॥

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥ २४ ॥

काशिराजकी पुत्री अम्बिकाने अप्सराके समान सुन्दरी अपनी एक दासीको अपने ही आभूषणोंसे विभूषित करके काले-कलूटे महर्षि व्यासके पास भेज दिया ॥ २४ ॥

सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥ २५ ॥

महर्षिके आनेपर उस दासीने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और उन्हें प्रणाम करके उनकी आज्ञा मिलनेपर वह शय्यापर बैठी और सत्कारपूर्वक उनकी सेवा-पूजा करने लगी ॥ २५ ॥

कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगादृषिः ।
तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः ॥ २६ ॥
उत्तिष्ठन्नब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ।
अयं च ते शुभे गर्भः श्रेयानुदरमागतः ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः ॥ २७ ॥

एकान्तमें मिलकर उसपर महर्षि व्यास बहुत संतुष्ट हुए । राजन् ! कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि जब उसके साथ शयन करके उठे, तब इस प्रकार बोले—'शुभे ! अब तू दासी नहीं रहेगी । तेरे उदरमें एक अत्यन्त श्रेष्ठ बालक आया है । वह लोकमें धर्मात्मा तथा समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ होगा' ॥ २६-२७ ॥



स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥ २८ ॥

वही बालक विदुर हुआ, जो श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासका पुत्र था। एक पिताका होनेके कारण वह राजा धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डुका भाई था ॥ २८ ॥

धर्मो विदुररूपेण शापात् तस्य महात्मनः ।
माण्डव्यस्यार्थतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः ॥ २९ ॥

महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्मराज ही विदुर-रूपमें उत्पन्न हुए थे। वे अर्थतत्त्वके ज्ञाता और काम-क्रोधसे रहित थे ॥ २९ ॥

कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत् ।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥ ३० ॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासने सत्यवतीको भी सब बातें बता दीं। उन्होंने यह रहस्य प्रकट कर दिया कि अम्बिकाने अपनी दासी-को भेजकर मेरे साथ छल किया है, अतः शूद्रा दासीके गर्भसे ही पुत्र उत्पन्न होगा ॥ ३० ॥

स धर्मस्यानृणो भूत्वा पुनर्मात्रा समेत्य च ।
तस्यै गर्भं समावेद्य तत्रैवान्तरधीयत ॥ ३१ ॥

इस तरह व्यासजी (मातृ-आज्ञापालन रूप) धर्मसे उऋण होकर फिर अपनी माता सत्यवतीसे मिले और उन्हें गर्भका समाचार बताकर वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ३१ ॥

एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्धनाः ॥ ३२ ॥

विचित्रवीर्यके क्षेत्रमें व्यासजीसे ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो देवकुमारोंके समान तेजस्वी और कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विचित्रवीर्यसुतोत्पत्तौ पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विचित्रवीर्यके पुत्रोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०५॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

महर्षि माण्डव्यका शूलीपर चढ़ाया जाना

जनमेजय उवाच

किं कृतं कर्म धर्मेण येन शापमुपेयिवान् ।
कस्य शापाच्च ब्रह्मर्षेः शूद्रयोनावजायत ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! धर्मराजने ऐसा कौन-सा कर्म किया था, जिससे उन्हें शाप प्राप्त हुआ ? किस ब्रह्मर्षिके शापसे वे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

बभूव ब्राह्मणः कश्चिन्माण्डव्य इति विश्रुतः ।
धृतिमान् सर्वधर्मज्ञः सत्ये तपसि च स्थितः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! पूर्वकालमें माण्डव्य नामसे विख्यात एक ब्राह्मण थे, जो धैर्यवान्, सब धर्मोंके ज्ञाता, सत्यनिष्ठ एवं तपस्वी थे ॥ २ ॥

स आश्रमपदद्वारि वृक्षमूले महातपाः ।
ऊर्ध्वबाहुर्महायोगी तस्थौ मौनव्रतान्वितः ॥ ३ ॥

वे अपने आश्रमके द्वारपर एक वृक्षके नीचे दोनों बाँहें ऊपरको उठाये हुए मौनव्रत धारण करके खड़े रहकर बड़ी भारी तपस्या करते थे। माण्डव्यजी बहुत बड़े योगी थे ॥ ३ ॥

तस्य कालेन महता तस्मिंस्तपसि वर्ततः ।
तमाश्रममनुप्राप्ता दस्यवो लोप्त्रहारिणः ॥ ४ ॥

उस कठोर तपस्यामें लगे हुए महर्षिके बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन उनके आश्रमपर चोरीका माल लिये हुए बहुत-से लुटेरे आये ॥ ४ ॥

अनुसार्यमाणा बहुभी रक्षिभिर्भरतर्षभ ।
ते तस्यावसथे लोप्त्रं दस्यवः कुरुसत्तम ॥ ५ ॥
निधाय च भयाल्लीनास्तत्रैवानागते बले ।
तेषु लीनेष्वथो शीघ्रं ततस्तद् रक्षिणां बलम् ॥ ६ ॥
आजगाम ततोऽपश्यंस्तमृषिं तस्करानुगाः ।
तमपृच्छंस्ततो राजंस्तथावृत्तं तपोधनम् ॥ ७ ॥

कतमेन पथा याता दस्यवो द्विजसत्तम।
तेन गच्छामहे ब्रह्मन् यथा शीघ्रतरं वयम्॥ ८॥

जनमेजय ! उन चोरोंका बहुत-से सैनिक पीछा कर रहे थे। कुरुश्रेष्ठ ! वे दस्यु वह चोरीका माल महर्षिके आश्रममें रखकर भयके मारे प्रजा-रक्षक सेनाके आनेके पहले वहीं कहीं छिप गये। उनके छिप जानेपर रक्षकोंकी सेना शीघ्रतापूर्वक वहाँ आ पहुँची। राजन्! चोरोंका पीछा करनेवाले लोगोंने इस प्रकार तपस्यामें लगे हुए उन महर्षिको जब वहाँ देखा, तो पूछा कि 'द्विजश्रेष्ठ ! बताइये, चोर किस रास्तेसे भगे हैं? जिससे वही मार्ग पकड़कर हम तीव्र गतिसे उनका पीछा करें'॥५-८॥

तथा तु रक्षिणां तेषां ब्रुवतां स तपोधनः।
न किंचिद् वचनं राजन्नब्रवीत् साध्वसाधु वा॥ ९॥

राजन् ! उन रक्षकोंके इस प्रकार पूछनेपर तपस्याके धनी उन महर्षिने भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा॥ ९॥

ततस्ते राजपुरुषा विचिन्वानास्तमाश्रमम्।
ददृशुस्तत्र लीनांस्तांश्चौरांस्तद् द्रव्यमेव च॥ १०॥

तब उन राजपुरुषोंने उस आश्रममें ही चोरोंको खोजना आरम्भ किया और वहीं छिपे हुए चोरों तथा चोरीके मालको भी देख लिया॥ १०॥

ततः शङ्का समभवद् रक्षिणां तं मुनिं प्रति।
संयम्यैनं ततो राज्ञे दस्यूंश्चैव न्यवेदयन्॥ ११॥

फिर तो रक्षकोंको मुनिके प्रति मनमें संदेह उत्पन्न हो गया और वे उन्हें बाँधकर राजाके पास ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने राजासे सब बातें बतायीं और उन चोरोंको भी राजाके हवाले कर दिया॥ ११॥

तं राजा सह तैश्चौरैरन्वशाद् वध्यतामिति।
स रक्षिभिस्तैरज्ञातः शूले प्रोतो महातपाः॥ १२॥

राजाने उन चोरोंके साथ महर्षिको भी प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। रक्षकोंने उन महातपस्वी मुनिको नहीं पहचाना और उन्हें शूलीपर चढ़ा दिया॥ १२॥

ततस्ते शूलमारोप्य तं मुनिं रक्षिणस्तदा।
प्रतिजग्मुर्महीपालं धनान्यादाय तान्यथ॥ १३॥

इस प्रकार वे रक्षक माण्डव्य मुनिको शूलीपर चढ़ाकर वह सारा धन साथ ले राजाके पास लौट गये॥ १३॥

शूलस्थः स तु धर्मात्मा कालेन महता ततः।
निराहारोऽपि विप्रर्षिर्मरणं नाभ्यपद्यत॥ १४॥

धर्मात्मा ब्रह्मर्षि माण्डव्य दीर्घकालतक उस शूलके अग्रभागपर बैठे रहे। वहाँ भोजन न मिलनेपर भी उनकी मृत्यु नहीं हुई॥ १४॥

धारयामास च प्राणानृषींश्च समुपानयत्।
शूलाग्रे तप्यमानेन तपस्तेन महात्मना॥ १५॥
संतापं परमं जग्मुर्मुनयस्तपसान्विताः।
ते रात्रौ शकुना भूत्वा संनिपत्य तु भारत।
दर्शयन्तो यथाशक्ति तमपृच्छन् द्विजोत्तमम्॥ १६॥

वे प्राण धारण किये रहे और स्मरणमात्र करके ऋषियोंको अपने पास बुलाने लगे। शूलीकी नोकपर तपस्या करनेवाले उन महात्मासे प्रभावित होकर सभी तपस्वी मुनियोंको बड़ा संताप हुआ। वे रातमें पक्षियोंका रूप धारण करके वहाँ उड़ते हुए आये और अपनी शक्तिके अनुसार स्वरूपको प्रकाशित करते हुए उन विप्रवर माण्डव्य मुनिसे पूछने लगे—॥

श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् किं पापं कृतवानसि।
येनेह समनुप्राप्तं शूले दुःखभयं महत्॥ १७॥

'ब्रह्मन् ! हम सुनना चाहते हैं कि आपने कौन-सा पाप किया है, जिससे यहाँ शूलपर बैठनेका यह महान् कष्ट आपको प्राप्त हुआ है?'॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने षडधिकशततमोऽध्यायः॥ १०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ छवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १०६॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

माण्डव्यका धर्मराजको शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ततः स मुनिशार्दूलस्तानुवाच तपोधनान्।
दोषतः कं गमिष्यामि न हि मेऽन्योऽपराध्यति॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तब उन मुनिश्रेष्ठने उन तपस्वी मुनियोंसे कहा—'मैं किसपर दोष लगाऊँ; दूसरे किसीने मेरा अपराध नहीं किया है'॥ १॥

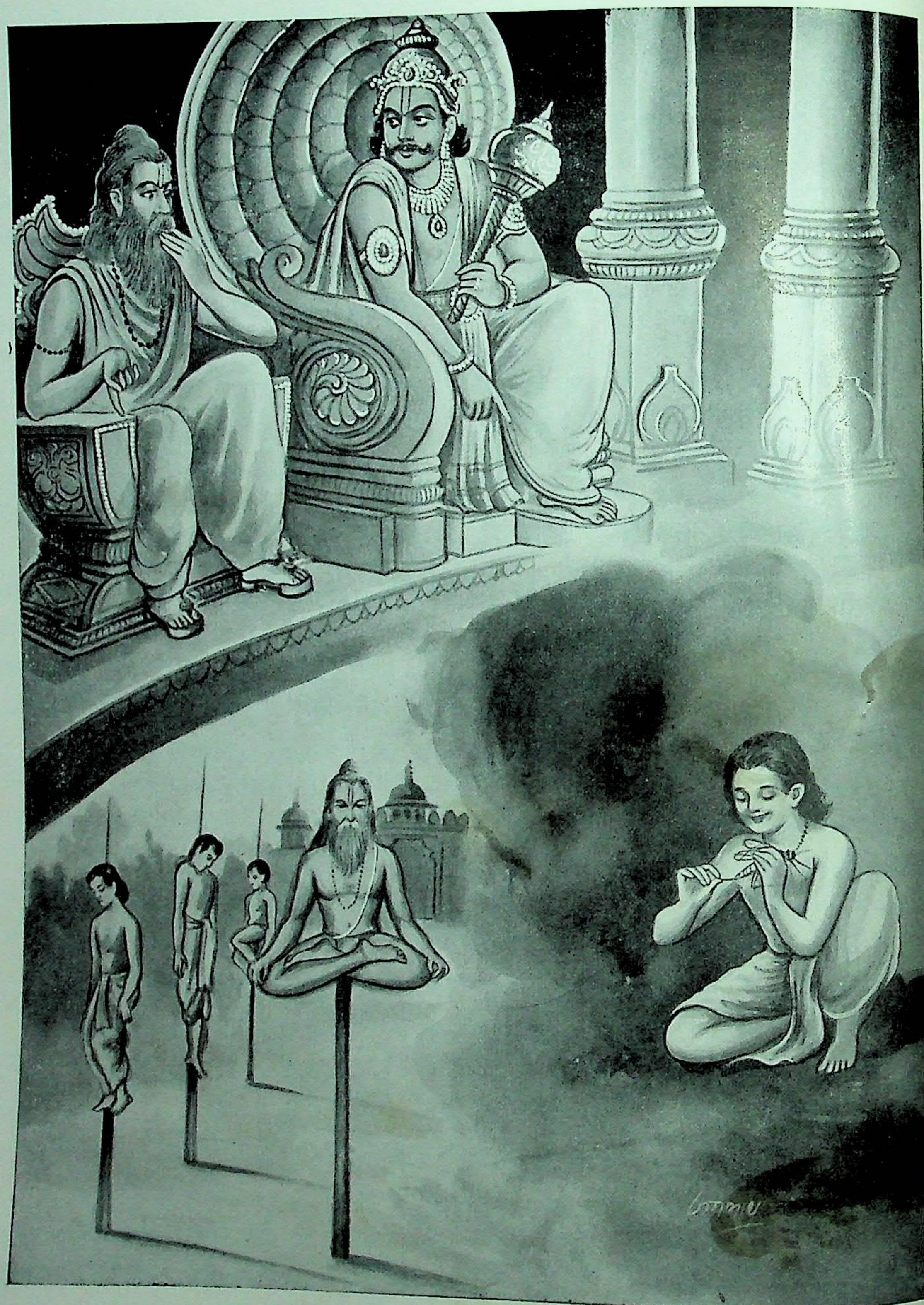
तं दृष्ट्वा रक्षिणस्तत्र तथा बहुतिथेऽहनि।
न्यवेदयंस्तथा राज्ञे यथावृत्तं नराधिप॥ २॥

महाराज ! रक्षकोंने बहुत दिनोंतक उन्हें शूलपर बैठे देख राजाके पास जा वह सब समाचार ज्यों-का-त्यों निवेदन किया॥ २॥

श्रुत्वा च वचनं तेषां निश्चित्य सह मन्त्रिभिः।
प्रसादयामास तथा शूलस्थमृषिसत्तमम्॥ ३॥

उनकी बात सुनकर मन्त्रियोंके साथ परामर्श करके राजाने शूलीपर बैठे हुए उन मुनिश्रेष्ठको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया॥ ३॥

धर्मराज और अणिमाण्डव्य



अणिमाण्डव्य ऋषि शूलीपर

राजोवाच

यन्मयापकृतं मोहादज्ञानादृषिसत्तम।
प्रसादये त्वां तत्राहं न मे त्वं क्रोद्धुमर्हसि॥ ४॥

राजाने कहा—मुनिवर! मैंने मोह अथवा अज्ञानवश जो अपराध किया है, उसके लिये आप मुझपर क्रोध न करें। मैं आपसे प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा प्रसादमकरोन्मुनिः।
कृतप्रसादं राजा तं ततः समवतारयत्॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजाके यों कहनेपर मुनि उनपर प्रसन्न हो गये। राजाने उन्हें प्रसन्न जानकर शूलीसे उतार दिया॥ ५॥

अवतार्य च शूलाग्रात् तच्छूलं निश्चकर्ष ह।
अशक्नुवंश्च निष्क्रष्टुं शूलं मूले स चिच्छिदे॥ ६॥

नीचे उतारकर उन्होंने शूलके अग्रभागके सहारे उनके शरीरके भीतरसे शूलको निकालनेके लिये खींचा। खींचकर निकालनेमें असफल होनेपर उन्होंने उस शूलको मूलभागमें काट दिया॥ ६॥

स तथान्तर्गतेनैव शूलेन व्यचरन्मुनिः।
तेनातितपसा लोकान् विजिग्ये दुर्लभान् परैः॥ ७॥

तबसे वे मुनि शूलाग्रभागको अपने शरीरके भीतर लिये हुए ही विचरने लगे। उस अत्यन्त घोर तपस्याके द्वारा महर्षिने ऐसे पुण्यलोकोंपर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्लभ हैं॥

अणीमाण्डव्य इति च ततो लोकेषु गीयते।
स गत्वा सदनं विप्रो धर्मस्य परमात्मवित्॥ ८॥
आसनस्थं ततो धर्मं दृष्ट्वोपालभत प्रभुः।
किं नु तद् दुष्कृतं कर्म मया कृतमजानता॥ ९॥
यस्येयं फलनिर्वृत्तिरीदृश्यासादिता मया।
शीघ्रमाचक्ष्व मे तत्त्वं पश्य मे तपसो बलम्॥ १०॥

अणी कहते हैं शूलके अग्रभागको, उससे युक्त होनेके कारण वे मुनि तभीसे सभी लोकोंमें 'अणी-माण्डव्य' कहलाने लगे। एक समय परमात्मतत्त्वके ज्ञाता विप्रवर माण्डव्यने धर्मराजके भवनमें जाकर उन्हें दिव्य आसनपर बैठे देखा। उस समय उन शक्तिशाली महर्षिने उन्हें उलाहना देते हुए पूछा—'मैंने अनजानमें कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिसके फलका भोग मुझे इस रूपमें प्राप्त हुआ? मुझे शीघ्र इसका रहस्य बताओ। फिर मेरी तपस्याका बल देखो'॥ ८-१०॥

धर्म उवाच

पतङ्गिकानां पुच्छेषु त्वयेषीका प्रवेशिता।
कर्मणस्तस्य ते प्राप्तं फलमेतत् तपोधन॥ ११॥

धर्मराज बोले—तपोधन! तुमने फतिंगोंके पुच्छ-भागमें सींक घुसेड़ दी थी। उसी कर्मका यह फल तुम्हें प्राप्त हुआ है॥

स्वल्पमेव यथा दत्तं दानं बहुगुणं भवेत्।
अधर्म एवं विप्रर्षे बहुदुःखफलप्रदः॥ १२॥

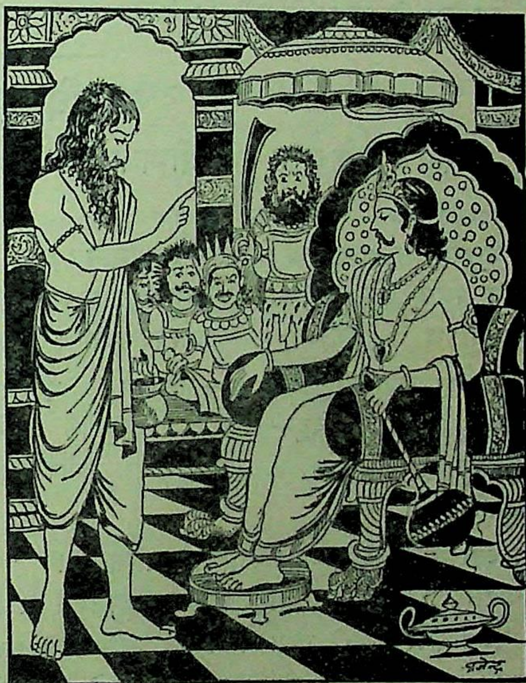
विप्रर्षे! जैसे थोड़ा-सा भी किया हुआ दान कईगुना फल देनेवाला होता है, वैसे ही अधर्म भी बहुत दुःखरूपी फल देनेवाला होता है॥ १२॥

अणीमाण्डव्य उवाच

कस्मिन् काले मया तत् तु कृतं ब्रूहि यथातथम्।
तेनोक्तो धर्मराजेन बालभावे त्वया कृतम्॥ १३॥

अणीमाण्डव्यने पूछा—अच्छा, तो ठीक-ठीक बताओ, मैंने किस समय—किस आयुमें वह पाप किया था?

धर्मराजने उत्तर दिया—'बाल्यावस्थामें तुम्हारे द्वारा यह पाप हुआ था'॥ १३॥



अणीमाण्डव्य उवाच

बालो हि द्वादशाद् वर्षाज्जन्मतो यत् करिष्यति।
न भविष्यत्यधर्मोऽत्र न प्रज्ञास्यन्ति वै दिशः॥ १४॥

अणीमाण्डव्यने कहा—धर्म-शास्त्रके अनुसार जन्मसे लेकर बारह वर्षकी आयुतक बालक जो कुछ भी करेगा, उसमें अधर्म नहीं होगा; क्योंकि उस समयतक बालकको धर्म-शास्त्रके आदेशका ज्ञान नहीं हो सकेगा॥ १४॥

अल्पेऽपराधेऽपि महान् मम दण्डस्त्वया कृतः।
गरीयान् ब्राह्मणवधः सर्वभूतवधादपि॥ १५॥

धर्मराज! तुमने थोड़े-से अपराधके लिये मुझे बहुत बड़ा दण्ड दिया है। ब्राह्मणका वध सम्पूर्ण प्राणियोंके वधसे भी अधिक भयंकर है॥ १५॥

शूद्रयोनावतो धर्म मानुषः सम्भविष्यसि।
मर्यादां स्थापयाम्यद्य लोके धर्मफलोदयाम्॥ १६॥

अतः धर्म ! तुम मनुष्य होकर शूद्रयोनिमें जन्म लोगे। आजसे संसारमें मैं धर्मके फलको प्रकट करनेवाली मर्यादा स्थापित करता हूँ ॥ १६ ॥

आ चतुर्दशकाद् वर्षान्न भविष्यति पातकम्।
परतः कुर्वतामेवं दोष एव भविष्यति ॥ १७ ॥

चौदह वर्षकी उम्रतक किसीको पाप नहीं लगेगा। उससे अधिककी आयुमें पाप करनेवालोंको ही दोष लगेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एतेन त्वपराधेन शापात् तस्य महात्मनः।
धर्मो विदुररूपेण शूद्रयोनावजायत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसी अपराधके कारण महात्मा माण्डव्यके शापसे साक्षात् धर्म ही विदुररूपसे शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

धर्मे चार्थे च कुशलो लोभक्रोधविवर्जितः।
दीर्घदर्शी शमपरः कुरूणां च हिते रतः ॥ १९ ॥

वे धर्म-शास्त्र एवं अर्थशास्त्रके पण्डित, लोभ और क्रोधसे रहित, दीर्घदर्शी, शान्तिपरायण तथा कौरवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि अणीमाण्डव्योपाख्याने सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें अणीमाण्डव्योपाख्यानविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदिके जन्म तथा भीष्मजीके धर्मपूर्ण शासनसे कुरुदेशकी सर्वाङ्गीण उन्नतिका दिग्दर्शन

वैशम्पायन उवाच

(धृतराष्ट्रे च पाण्डौ च विदुरे च महात्मनि ।)
तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम्।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्धत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! धृतराष्ट्र, पाण्डु और महात्मा विदुर—इन तीनों कुमारोंके जन्मसे कुरुवंश, कुरुजाङ्गल देश और कुरुक्षेत्र—इन तीनोंकी बड़ी उन्नति हुई ॥ १ ॥

ऊर्ध्वसस्याभवद् भूमिः सस्यानि रसवन्ति च।
यथर्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥ २ ॥

पृथ्वीपर खेतीकी उपज बहुत बढ़ गयी, सभी अन्न सरस होने लगे, बादल ठीक समयपर वर्षा करते थे, वृक्षोंमें बहुत-से फल और फूल लगने लगे ॥ २ ॥

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥ ३ ॥

घोड़े-हाथी आदि वाहन हृष्ट-पुष्ट रहते थे, मृग और पक्षी बड़े आनन्दसे दिन बिताते थे, फूलों और मालाओंमें अनुपम सुगन्ध होती थी और फलोंमें अनोखा रस होता था ॥ ३ ॥

वणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः।
शूराश्च कृतविद्याश्च सन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥ ४ ॥

सभी नगर व्यापार-कुशल वैश्यों तथा शिल्पकलामें निपुण कारीगरोंसे भरे रहते थे । शूर-वीर, विद्वान् और संत सुखी हो गये ॥ ४ ॥

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः।
प्रदेशेष्वपि राष्ट्राणां कृतं युगमवर्तत ॥ ५ ॥

कोई भी मनुष्य डाकू नहीं था । पापमें रुचि रखनेवाले लोगोंका सर्वथा अभाव था । राष्ट्रके विभिन्न प्रान्तोंमें सत्ययुग छा रहा था ॥ ५ ॥

धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्धन्त प्रजास्तदा ॥ ६ ॥

उस समयकी प्रजा सत्य-व्रतके पालनमें तत्पर हो स्वभावतः यज्ञ-कर्ममें लगी रहती और धर्मानुकूल कर्मोंमें संलग्न रह एक-दूसरेको प्रसन्न रखती हुई सदा उन्नतिके पथपर बढ़ती जाती थी ॥ ६ ॥

मानक्रोधविहीनाश्च नरा लोभविवर्जिताः।
अन्योन्यमभ्यनन्दन्त धर्मोत्तरमवर्तत ॥ ७ ॥

सब लोग अभिमान और क्रोधसे रहित तथा लोभसे दूर रहनेवाले थे; सभी एक-दूसरेको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते थे । लोगोंके आचार-व्यवहारमें धर्मकी ही प्रधानता थी ॥ ७ ॥

तन्महोदधिवत् पूर्णं नगरं वै व्यरोचत।
द्वारतोरणनिर्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ॥ ८ ॥

समुद्रकी भाँति सब प्रकारसे भरा-पूरा कौरवनगर मेघ-समूहोंके समान बड़े-बड़े दरवाजों, फाटकों और गोपुरोंसे सुशोभित था ॥ ८ ॥

प्रासादशतसम्बाधं महेन्द्रपुरसंनिभम्।
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ९ ॥

सैकड़ों महलोंसे संयुक्त वह पुरी देवराज इन्द्रकी अमरावतीके समान शोभा पाती थी । वहाँके लोग नदियों, वनखण्डों, बावलियों, छोटे-छोटे जलाशयों, पर्वतशिखरों तथा रमणीय काननोंमें प्रसन्नतापूर्वक विहार करते थे ॥ ९ ॥

उत्तरैः कुरुभिः सार्धं दक्षिणाः कुरवस्तथा।
विस्पर्धमाना व्यचरंस्तथा देवर्षिचारणैः ॥ १०

उस समय दक्षिणकुरु देशके निवासी उत्तरकुरुमें रहनेवाले लोगों, देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंके साथ होड़-सी लगाते हुए स्वच्छन्द विचरण करते थे ॥ १० ॥

नाभवत् कृपणः कश्चिन्नाभवन् विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्बहुलीकृते ॥ ११ ॥

कौरवोंद्वारा बढ़ाये हुए उस रमणीय जनपदमें न तो कोई कंजूस था और न विधवा स्त्रियाँ देखी जाती थीं ॥ ११ ॥

कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
बभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन् राष्ट्रे सदोत्सवाः ॥ १२ ॥

उस राष्ट्रके कुओं, बगीचों, सभाभवनों, बावलियों तथा ब्राह्मणोंके घरोंमें सब प्रकारकी समृद्धियाँ भरी रहती थीं और वहाँ नित्य-नूतन उत्सव हुआ करते थे ॥ १२ ॥

भीष्मेण धर्मतो राजन् सर्वतः परिरक्षिते ।
बभूव रमणीयश्च चैत्ययूपशताङ्कितः ॥ १३ ॥

जनमेजय ! भीष्मजीके द्वारा सब ओरसे धर्मपूर्वक सुरक्षित भूमण्डलमें वह कुरुदेश सैकड़ों देवस्थानों और यज्ञस्तम्भोंसे चिह्नित होनेके कारण बड़ी शोभा पाता था ॥ १३ ॥

स देशः परराष्ट्राणि विमृज्याभिप्रवर्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ १४ ॥

वह देश दूसरे राष्ट्रोंका भी शोधन करके निरन्तर उन्नतिके पथपर अग्रसर हो रहा था । राष्ट्रमें सब ओर भीष्मजीके द्वारा चलाया हुआ धर्मका शासन चल रहा था ॥ १४ ॥

क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः सततोत्सवाः ॥ १५ ॥

उन महात्मा कुमारोंके यज्ञोपवीतादि संस्कार किये जानेके समय नगर और देशके सभी लोग निरन्तर उत्सव मनाते थे ॥ १५ ॥

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥ १६ ॥

जनमेजय ! कुरुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य नगरनिवासियोंके घरोंमें सदा सब ओर यही बात सुनायी देती थी कि 'दान दो और अतिथियोंको भोजन कराओ' ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत् परिपालिताः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा परम बुद्धिमान् विदुर—इन तीनों भाइयोंका भीष्मजीने जन्मसे ही पुत्रकी भाँति पालन किया ॥

संस्कारैः संस्कृतास्ते तु व्रताध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ १८ ॥

उन्होंने ही उनके सब संस्कार कराये। फिर वे ब्रह्मचर्यव्रतके पालन और वेदोंके स्वाध्यायमें तत्पर हो गये। परिश्रम और व्यायाममें भी उन्होंने बड़ी कुशलता प्राप्त की । फिर धीरे-धीरे वे युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे च गदायुद्धेऽसिचर्मणि ।
तथैव गजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥ १९ ॥

धनुर्वेद, घोड़ेकी सवारी, गदायुद्ध, ढाल-तलवारके प्रयोग, गजशिक्षा तथा नीतिशास्त्रमें वे तीनों भाई पारंगत हो गये ॥ १९ ॥

इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ २० ॥

उन्हें इतिहास, पुराण तथा नाना प्रकारके शिष्टाचारोंका भी ज्ञान कराया गया । वे वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्वज्ञ तथा सर्वत्र एक निश्चित सिद्धान्तके माननेवाले थे ॥ २० ॥

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद् धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ २१ ॥

पाण्डु धनुर्विद्यामें उस समयके मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर पराक्रमी थे । इसी प्रकार राजा धृतराष्ट्र दूसरे लोगोंकी अपेक्षा शारीरिक बलमें बहुत बढ़कर थे ॥ २१ ॥

त्रिषु लोकेषु न त्वासीत् कश्चिद् विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥ २२ ॥

राजन् ! तीनों लोकोंमें विदुरजीके समान दूसरा कोई भी मनुष्य धर्मपरायण तथा धर्ममें ऊँची अवस्थाको प्राप्त (आत्मद्रष्टा)* नहीं था ॥ २२ ॥

प्रणष्टं शान्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्तत ॥ २३ ॥

नष्ट हुए शान्तनुके वंशका पुनः उद्धार हुआ देखकर समस्त राष्ट्रके लोग परस्पर कहने लगे—॥ २३ ॥

वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणां गजसाह्वयम् ॥ २४ ॥
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद् राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारशवत्वाद् विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ २५ ॥

'वीर पुत्रोंको जन्म देनेवाली स्त्रियोंमें काशिराजकी दो पुत्रियाँ सबसे श्रेष्ठ हैं, देशोंमें कुरुजाङ्गल देश सबसे उत्तम है, सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें भीष्मजीका स्थान सबसे ऊँचा है तथा नगरोंमें हस्तिनापुर सर्वोत्तम है ।' धृतराष्ट्र अंधे होनेके कारण और विदुरजी पारशव (शूद्राके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न) होनेसे राज्य न पा सके; अतः सबसे छोटे पाण्डु ही राजा हुए ॥ २४-२५ ॥

---

* 'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्' याज्ञवल्क्य-स्मृतिके इस कथनके अनुसार आत्मदर्शन ही सबसे उत्कृष्ट धर्म है ।

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतां वरः।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥ २६ ॥

एक समयकी बात है, सम्पूर्ण नीतिज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको जाननेवाले विदुरजीसे इस प्रकार न्यायोचित वचन बोले ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुराज्याभिषेकेऽष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुराज्याभिषेकविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१०८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं ।)

नवाधिकशततमोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका विवाह

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम्।
अत्यन्यान् पृथिवीपालान् पृथिव्यामधिराज्यभाक्॥१॥

भीष्मजीने कहा—बेटा विदुर! हमारा यह कुल अनेक सद्गुणोंसे सम्पन्न होकर इस जगत्में विख्यात हो रहा है। यह अन्य भूपालोंको जीतकर इस भूमण्डलके साम्राज्यका अधिकारी हुआ है ॥ १ ॥

रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः।
नोत्सादमगमच्चेदं कदाचिदिह नः कुलम् ॥ २ ॥

पहलेके धर्मज्ञ एवं महात्मा राजाओंने इसकी रक्षा की थी; अतः हमारा यह कुल इस भूतलपर कभी उच्छिन्न नहीं हुआ॥२॥

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥ ३ ॥

(बीचमें संकटकाल उपस्थित हुआ था किंतु) मैंने, माता सत्यवतीने तथा महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने मिलकर पुनः इस कुलको स्थापित किया है। तुम तीनों भाई इस कुलके तंतु हो और तुम्हींपर अब इसकी प्रतिष्ठा है ॥ ३ ॥

तच्चैतद् वर्धते भूयः कुलं सागरवद् यथा।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥ ४ ॥

वत्स! यह हमारा वही कुल आगे भी जिस प्रकार समुद्रकी भाँति बढ़ता रहे, निःसंदेह वही उपाय मुझे और तुम्हें भी करना चाहिये ॥ ४ ॥

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥ ५ ॥

सुना जाता है, यदुवंशी शूरसेनकी कन्या पृथा (जो अब राजा कुन्तिभोजकी गोद ली हुई पुत्री है) भलीभाँति हमारे कुलके अनुरूप है। इसी प्रकार गान्धारराज सुबल और मद्रनरेशके यहाँ भी एक-एक कन्या सुनी जाती है ॥ ५ ॥

कुलीना रूपवत्यश्च ताः कन्याः पुत्र सर्वशः।
उचिताश्चैव सम्बन्धे तेऽस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥ ६ ॥

बेटा! वे सब कन्याएँ बड़ी सुन्दरी तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं। वे श्रेष्ठ क्षत्रियगण हमारे साथ विवाह-सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हैं ॥ ६ ॥

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर।
संतानार्थं कुलस्यास्य यद् वा विदुर मन्यसे ॥ ७ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ विदुर! मेरी राय है कि इस कुलकी संतानपरम्पराको बढ़ानेके लिये उक्त कन्याओंका वरण करना चाहिये अथवा जैसी तुम्हारी सम्मति हो, वैसा किया जाय॥७॥

विदुर उवाच

भवान् पिता भवान् माता भवान् नः परमो गुरुः।
तस्मात् स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥८॥

विदुर बोले—प्रभो! आप हमारे पिता हैं, आप ही माता हैं और आप ही परम गुरु हैं; अतः स्वयं विचार करके जिस बातमें इस कुलका हित हो, वह कीजिये ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ शुश्राव विप्रेभ्यो गान्धारीं सुबलात्मजाम्।
आराध्य वरदं देवं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ९ ॥
गान्धारी किल पुत्राणां शतं लेभे वरं शुभा।
इति शुश्राव तत्त्वेन भीष्मः कुरुपितामहः ॥ १० ॥
ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुबलस्य विचारणा ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसके बाद भीष्मजीने ब्राह्मणोंसे गान्धारराज सुबलकी पुत्री शुभलक्षणा गान्धारीके विषयमें सुना कि वह भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले वरदायक भगवान् शंकरकी आराधना करके अपने लिये सौ पुत्र होनेका वरदान प्राप्त कर चुकी है। भारत! जब इस बातका ठीक-ठीक पता लग गया, तब कुरुपितामह भीष्मने गान्धारराजके पास अपना दूत भेजा। धृतराष्ट्र अंधे हैं, इस बातको लेकर सुबलके मनमें बड़ा विचार हुआ ॥ ९—११॥

कुलं ख्यातिं च वृत्तं च बुद्ध्या तु प्रसमीक्ष्य सः।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ १२ ॥

परंतु उनके कुल, प्रसिद्धि और आचार आदिके विषयमें बुद्धिपूर्वक विचार करके उसने धर्मपरायणा गान्धारीका धृतराष्ट्रके लिये वाग्दान कर दिया ॥ १२ ॥

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्रमचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥ १३ ॥
ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् पतिव्रतपरायणा ॥ १४ ॥
नाभ्यसूयां पतिमहमित्येवं कृतनिश्चया ।
ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ॥ १५ ॥
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् ।
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम् ।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ॥ १६ ॥

जनमेजय ! गान्धारीने जब सुना कि धृतराष्ट्र अंधे हैं और पिता-माता मेरा विवाह उन्हींके साथ करना चाहते हैं, तब उन्होंने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसीसे अपनी आँखें बाँध लीं। राजन् ! गान्धारी बड़ी पतिव्रता थीं। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं (सदा पतिके अनुकूल रहूँगी,) उनके दोष नहीं देखूँगी। तदनन्तर एक दिन गान्धारराजकुमार शकुनि युवावस्था तथा लक्ष्मीके समान मनोहर शोभासे युक्त अपनी बहिन गान्धारीको साथ लेकर कौरवोंके यहाँ गये और उन्होंने बड़े आदर-सत्कारके साथ धृतराष्ट्रको अपनी बहिन सौंप दी। शकुनिने भीष्मजीकी सम्मतिके अनुसार विवाह-कार्य सम्पन्न किया ॥ १३—१६ ॥

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम् ।
पुनरायात् स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥ १७ ॥

वीरवर शकुनिने अपनी बहिनका विवाह करके यथायोग्य दहेज दिया। बदलेमें भीष्मजीने भी उनका बड़ा सम्मान किया। तत्पश्चात् वे अपनी राजधानीको लौट आये ॥ १७ ॥

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥ १८ ॥

भारत ! सुन्दर शरीरवाली गान्धारीने अपने उत्तम स्वभाव, सदाचार तथा सद्व्यवहारोंसे समस्त कौरवोंको प्रसन्न कर लिया ॥ १८ ॥

वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून् पतिपरायणा ।
वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्तयत् ॥ १९ ॥

इस प्रकार सुन्दर बर्तावसे समस्त गुरुजनोंकी प्रसन्नता प्राप्त करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाली पतिपरायणा गान्धारीने कभी दूसरे पुरुषोंका नामतक नहीं लिया ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रविवाहे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रविवाहविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीको दुर्वासासे मन्त्रकी प्राप्ति, सूर्यदेवका आवाहन तथा उनके संयोगसे कर्णका जन्म एवं कर्णके द्वारा इन्द्रको कवच और कुण्डलोंका दान

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ शूरसेन हो गये हैं, जो वसुदेवजीके पिता थे। उन्हें एक कन्या हुई, जिसका नाम पृथा रक्खा गया। इस भूमण्डलमें उसके रूपकी तुलनामें दूसरी कोई स्त्री नहीं थी ॥ १ ॥

पितृष्वस्रीयाय स तामनपत्याय भारत ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥ २ ॥

भारत ! सत्यवादी शूरसेनने अपने फुफेरे भाई संतानहीन कुन्तिभोजसे पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि मैं तुम्हें अपनी पहली संतान भेंट कर दूँगा ॥ २ ॥

अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकाङ्क्षिणे ।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥ ३ ॥

उन्हें पहले कन्या ही उत्पन्न हुई । अतः कृपाकाङ्क्षी महात्मा सखा राजा कुन्तिभोजको उनके मित्र शूरसेनने वह कन्या दे दी ॥ ३ ॥

सा नियुक्ता पितुर्गेहे देवतातिथिपूजने ।
उग्रं पर्यचरत् तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ ४ ॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः ।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥

पिता कुन्तिभोजके घरपर पृथाको देवताओंके पूजन और अतिथियोंके सत्कारका कार्य सौंपा गया था। एक समय वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले तथा धर्मके विषयमें अपने निश्चयको सदा गुप्त रखनेवाले एक ब्राह्मण महर्षि आये, जिन्हें लोग दुर्वासाके नामसे जानते हैं। पृथा उनकी सेवा करने लगी। वे बड़े उग्र स्वभावके थे। उनका हृदय बड़ा कठोर था; फिर भी राजकुमारी पृथाने सब प्रकारके यत्नोंसे उन्हें पूर्ण संतुष्ट कर लिया ॥ ४-५ ॥

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया ।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीचैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

दुर्वासाजीने पृथापर आनेवाले भावी संकटका विचार करके

उनके धर्मकी रक्षाके लिये उसे एक वशीकरण-मन्त्र दिया और उसके प्रयोगकी विधि भी बता दी। तत्पश्चात् वे मुनि उससे बोले—॥ ६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रसादेन पुत्रस्तव भविष्यति ॥ ७ ॥

'शुभे! तुम इस मन्त्रद्वारा जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, उसी-उसीके अनुग्रहसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ॥ ७ ॥

तथोक्ता सा तु विप्रेण कुन्ती कौतूहलान्विता।
कन्या सती देवमर्कमाजुहाव यशस्विनी ॥ ८ ॥

ब्रह्मर्षि दुर्वासाके यों कहनेपर कुन्तीके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ। वह यशस्विनी राजकन्या यद्यपि अभी कुमारी थी, तो भी उसने मन्त्रकी परीक्षाके लिये सूर्यदेवका आवाहन किया ॥ ८ ॥

सा ददर्श तमायान्तं भास्करं लोकभावनम्।
विस्मिता चानवद्याङ्गी दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम् ॥ ९ ॥

आवाहन करते ही उसने देखा, सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और पालन करनेवाले भगवान् भास्कर आ रहे हैं। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्ती चकित हो उठी ॥ ९ ॥

तां समासाद्य देवस्तु विवस्वानिदमब्रवीत्।
अयमस्म्यसितापाङ्गि ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ १० ॥

इधर भगवान् सूर्य उसके पास आकर इस प्रकार बोले—'श्याम नेत्रोंवाली कुन्ती! यह मैं आ गया। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ?' ॥ १० ॥

(आहूतोपस्थितं भद्रे ऋषिमन्त्रेण चोदितम्।
विद्धि मां पुत्रलाभाय देवमर्कं शुचिस्मिते ॥)

'भद्रे! मैं दुर्वासा ऋषिके दिये हुए मन्त्रसे प्रेरित हो तुम्हारे बुलाते ही तुम्हें पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये उपस्थित हुआ हूँ। पवित्र मुसकानवाली कुन्ती! तुम मुझे सूर्यदेव समझो।'

कुन्त्युवाच

कश्चिन्मे ब्राह्मणः प्रादाद् वरं विद्यां च शत्रुहन्।
तद्विजिज्ञासयाऽऽह्वानं कृतवत्यस्मि ते विभो ॥ ११ ॥

कुन्तीने कहा—शत्रुओंका नाश करनेवाले प्रभो! एक ब्राह्मणने मुझे वरदानके रूपमें देवताओंके आवाहनका मन्त्र प्रदान किया है। उसीकी परीक्षाके लिये मैंने आपका आवाहन किया था ॥ ११ ॥

एतस्मिन्नपराधे त्वां शिरसाहं प्रसादये।
योषितो हि सदा रक्ष्याः स्वापराद्धापि नित्यशः ॥ १२ ॥

यद्यपि मुझसे यह अपराध हुआ है, तो भी इसके लिये आपके चरणोंमें मस्तक रखकर मैं यह प्रार्थना करती हूँ कि आप क्षमापूर्वक प्रसन्न हो जाइये। स्त्रियोंसे अपना अपराध हो जाय, तो भी श्रेष्ठ पुरुषोंको सदा उनकी रक्षा ही करनी चाहिये ॥ १२ ॥

सूर्य उवाच

वेदाहं सर्वमेवैतद् यद् दुर्वासा वरं ददौ।
संत्यज्य भयमेवेह क्रियतां संगमो मम ॥ १३ ॥

सूर्यदेव बोले—शुभे! मैं यह सब जानता हूँ कि दुर्वासाने तुम्हें वर दिया है। तुम भय छोड़कर यहाँ मेरे साथ समागम करो ॥ १३ ॥

अमोघं दर्शनं मह्यमाहूतश्चास्मि ते शुभे।
वृथाह्वानेऽपि ते भीरु दोषः स्यान्नात्र संशयः ॥ १४ ॥

शुभे! मेरा दर्शन अमोघ है और तुमने मेरा आवाहन किया है। भीरु! यदि यह आवाहन व्यर्थ हुआ, तो भी निःसंदेह तुम्हें बड़ा दोष लगेगा ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता बहुविधं सान्त्वपूर्वं विवस्वता।
सा तु नैच्छद् वरारोहा कन्याहमिति भारत ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! भगवान् सूर्यने कुन्तीको समझाते हुए इस तरहकी बहुत-सी बातें कहीं; किंतु मैं अभी कुमारी कन्या हूँ, यह सोचकर सुन्दरी कुन्तीने उनसे समागमकी इच्छा नहीं की ॥ १५ ॥

बन्धुपक्षभयाद् भीता लज्जया च यशस्विनी।
तामर्कः पुनरेवेदमब्रवीद् भरतर्षभ ॥ १६ ॥

यशस्विनी कुन्ती भाई-बन्धुओंमें बदनामी फैलनेके डरसे भी डरी हुई थी और नारीसुलभ लज्जासे भी वह विवश थी। भरतश्रेष्ठ! उस समय सूर्यदेवने पुनः उससे कहा— ॥ १६ ॥

(पुत्रस्ते निर्मितः सुभ्रु शृणु यादृक्छुभानने ॥
आदित्ये कुण्डले बिभ्रत् कवचं चैव मामकम्।
शस्त्रास्त्राणामभेद्यं च भविष्यति शुचिस्मिते ॥
न न किंचन देयं तु ब्राह्मणेभ्यो भविष्यति।
चोद्यमानो मया चापि नाक्षमं चिन्तयिष्यति।
दास्यत्येव हि विप्रेभ्यो मानी चैव भविष्यति ॥)

'सुन्दर मुख एवं सुन्दर भौंहोंवाली राजकुमारी! तुम्हारे लिये जैसे पुत्रका निर्माण होगा, वह सुनो—शुचिस्मिते! वह माता अदितिके दिये हुए दिव्य कुण्डलों और मेरे कवचको धारण किये हुए उत्पन्न होगा। उसका वह कवच किन्हीं अस्त्र-शस्त्रोंसे टूट न सकेगा। उसके पास कोई भी वस्तु ब्राह्मणोंके लिये अदेय न होगी। मेरे कहनेपर भी वह कभी अयोग्य कार्य या विचारको अपने मनमें स्थान न देगा। ब्राह्मणोंके याचना करनेपर वह उन्हें सब प्रकारकी वस्तुएँ देगा ही। साथ ही वह बड़ा स्वाभिमानी होगा।'

मत्प्रसादान्न ते राज्ञि भविता दोष इत्युत।
एवमुक्त्वा स भगवान् कुन्तिराजसुतां तदा ॥ १७ ॥
प्रकाशकर्ता तपनः सम्बभूव तया सह।
तत्र वीरः समभवत् सर्वशस्त्रभृतां वरः।
आमुक्तकवचः श्रीमान् देवगर्भः श्रियान्वितः ॥ १८ ॥

'रानी ! मेरी कृपासे तुम्हें दोष भी नहीं लगेगा।' कुन्तिराजकुमारी कुन्तीसे यों कहकर प्रकाश और गरमी उत्पन्न करनेवाले भगवान् सूर्यने उसके साथ समागम किया। इससे उसी समय एक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ था। उसने जन्मसे ही कवच पहन रक्खा था और वह देवकुमारके समान तेजस्वी तथा शोभासम्पन्न था ॥ १७-१८ ॥

सहजं कवचं बिभ्रत् कुण्डलोद्द्योतिताननः।
अजायत सुतः कर्णः सर्वलोकेषु विश्रुतः ॥ १९ ॥

जन्मके साथ ही कवच धारण किये उस बालकका मुख जन्मजात कुण्डलोंसे प्रकाशित हो रहा था। इस प्रकार कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सब लोकोंमें विख्यात है ॥ १९ ॥

प्रादाच्च तस्यै कन्यात्वं पुनः स परमद्युतिः।
दत्त्वा च तपतां श्रेष्ठो दिवमाचक्रमे ततः ॥ २० ॥

उत्तम प्रकाशवाले भगवान् सूर्यने कुन्तीको पुनः कन्यात्व प्रदान किया। तत्पश्चात् तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्य देवलोकमें चले गये ॥ २० ॥

दृष्ट्वा कुमारं जातं सा वार्ष्णेयी दीनमानसा।
एकाग्रं चिन्तयामास किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २१ ॥

उस नवजात कुमारको देखकर वृष्णिवंशकी कन्या कुन्तीके हृदयमें बड़ा दुःख हुआ। उसने एकाग्रचित्तसे विचार किया कि अब क्या करनेसे अच्छा परिणाम निकलेगा ॥

गूहमानापचारं सा बन्धुपक्षभयात् तदा।
उत्ससर्ज कुमारं तं जले कुन्ती महाबलम् ॥ २२ ॥

उस समय कुटुम्बीजनोंके भयसे अपने उस अनुचित कृत्यको छिपाती हुई कुन्तीने महाबली कुमार कर्णको जलमें छोड़ दिया ॥ २२ ॥

तमुत्सृष्टं जले गर्भं राधाभर्ता महायशाः।
पुत्रत्वे कल्पयामास सभार्यः सूतनन्दनः ॥ २३ ॥

जलमें छोड़े हुए उस नवजात शिशुको महायशस्वी सूतपुत्र अधिरथने, जिसकी पत्नीका नाम राधा था, ले लिया। उसने और उसकी पत्नीने उस बालकको अपना पुत्र बना लिया ॥

नामधेयं च चक्राते तस्य बालस्य तावुभौ।
वसुना सह जातोऽयं वसुषेणो भवत्विति ॥ २४ ॥

उन दम्पतिने उस बालकका नामकरण इस प्रकार किया; यह वसु (कवच-कुण्डलादि धन) के साथ उत्पन्न हुआ है, इसलिये वसुषेण नामसे प्रसिद्ध हो ॥ २४ ॥

स वर्धमानो बलवान् सर्वास्त्रेषूद्यतोऽभवत्।
आ पृष्ठतापादादित्यमुपातिष्ठत वीर्यवान् ॥ २५ ॥

वह बलवान् बालक बड़े होनेके साथ ही सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें निपुण हुआ। पराक्रमी कर्ण प्रातःकालसे लेकर जबतक सूर्य पृष्ठभागकी ओर न चले जाते, सूर्योपस्थान करता रहता था ॥ २५ ॥

तस्मिन् काले तु जपतस्तस्य वीरस्य धीमतः।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीत् किंचिद् वसु महीतले ॥ २६ ॥

उस समय मन्त्र-जपमें लगे हुए बुद्धिमान् वीर कर्णके लिये इस पृथ्वीपर कोई ऐसी वस्तु नहीं थी, जिसे वह ब्राह्मणोंके माँगनेपर न दे सके ॥ २६ ॥

(ततः काले तु कस्मिंश्चित् स्वप्नान्ते कर्णमब्रवीत्।
आदित्यो ब्राह्मणो भूत्वा शृणु वीर वचो मम ॥
प्रभातायां रजन्यां त्वामागमिष्यति वासवः।
न तस्य भिक्षा दातव्या विप्ररूपी भविष्यति ॥
निश्चयोऽस्यापहर्तुं ते कवचं कुण्डले तथा।
अतस्त्वां बोधयाम्येष स्मर्तासि वचनं मम ॥

किसी समयकी बात है, सूर्यदेवने ब्राह्मणका रूप धारण करके कर्णको स्वप्नमें दर्शन दिया और इस प्रकार कहा— 'वीर ! मेरी बात सुनो—आजकी रात बीत जानेपर सबेरा होते ही इन्द्र तुम्हारे पास आयेंगे। उस समय वे ब्राह्मणवेषमें होंगे। यहाँ आकर इन्द्र यदि तुमसे भिक्षा माँगें तो उन्हें देना मत। उन्होंने तुम्हारे कवच और कुण्डलोंका अपहरण करनेका निश्चय किया है। अतः मैं तुम्हें सचेत किये देता हूँ। तुम मेरी यह बात याद रखना ॥'

कर्ण उवाच

शक्रो मां विप्ररूपेण यदि वै याचते द्विज।
कथं चास्मै न दास्यामि यथा चास्म्यवबोधितः ॥
विप्राः पूज्यास्तु देवानां सततं प्रियमिच्छताम्।
तं देवदेवं जानन् वै न शक्नोम्यवमन्त्रणे ॥

कर्णने कहा—ब्रह्मन् ! इन्द्र यदि ब्राह्मणका रूप धारण करके सचमुच मुझसे याचना करेंगे, तो मैं आपकी चेतावनीके अनुसार कैसे उन्हें वह वस्तु नहीं दूँगा। ब्राह्मण तो सदा अपना प्रिय चाहनेवाले देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। देवाधिदेव इन्द्र ही ब्राह्मणरूपमें आये हैं, यह जान लेनेपर भी मैं उनकी अवहेलना नहीं कर सकूँगा ॥

सूर्य उवाच

यद्येवं शृणु मे वीर वरं ते सोऽपि दास्यति।
शक्तिं त्वमपि याचेथाः सर्वशत्रुविबाधिनीम् ॥

सूर्य बोले—वीर ! यदि ऐसी बात है तो सुनो, बदलेमें इन्द्र भी तुम्हें वर देंगे। उस समय तुम उनसे सम्पूर्ण शत्रुओंका निराकरण करनेवाली बरछी माँग लेना ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा द्विजः स्वप्ने तत्रैवान्तरधीयत।
कर्णः प्रबुद्धस्तं स्वप्नं चिन्तयानोऽभवत् तदा ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—स्वप्नमें यों कहकर

ब्राह्मण-वेषधारी सूर्य वहीं अन्तर्धान हो गये। तब कर्ण जाग गया और स्वप्नकी बातोंका चिन्तन करने लगा ॥'

तमिन्द्रो ब्राह्मणो भूत्वा भिक्षार्थी समुपागमत्।
कुण्डले प्रार्थयामास कवचं च महाद्युतिः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् एक दिन महातेजस्वी देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर भिक्षाके लिये कर्णके पास आये और उससे उन्होंने कवच और कुण्डलोंको माँगा ॥ २७ ॥

स्वशरीरात् समुत्कृत्य कवचं स्वं निसर्गजम्।
कर्णस्तु कुण्डले छित्त्वा प्रायच्छत् स कृताञ्जलिः ॥२८॥

तब कर्णने हाथ जोड़कर देवराज इन्द्रको अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए कवचको शरीरसे उधेड़कर एवं दोनों कुण्डलोंको भी काटकर दे दिया ॥ २८ ॥

प्रतिगृह्य तु देवेशस्तुष्टस्तेनास्य कर्मणा।
(अहो साहसमित्येवं मनसा वासवो हसन्।
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ॥
न तं पश्यामि को ह्येतत् कर्म कर्ता भविष्यति।
प्रीतोऽस्मि कर्मणा तेन वरं वृणु यमिच्छसि ॥

कवच और कुण्डलोंको लेकर उसके इस कर्मसे संतुष्ट हो इन्द्रने मन-ही-मन हँसते हुए कहा—'अहो ! यह तो बड़े साहसका काम है। देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीको भी मैं ऐसा साहसी नहीं देखता। भला, कौन ऐसा कार्य कर सकता है।' यों कहकर वे स्पष्ट वाणीमें बोले—'वीर ! मैं तुम्हारे इस कर्मसे प्रसन्न हूँ, इसलिये तुम जो चाहो, वही वर मुझसे माँग लो ॥'

कर्ण उवाच

इच्छामि भगवद्दत्तां शक्तिं शत्रुनिबर्हणीम्।

कर्णने कहा—भगवन् ! मैं आपकी दी हुई वह अमोघ बरछी चाहता हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली है ॥

वैशम्पायन उवाच)

ददौ शक्तिं सुरपतिर्वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब देवराज इन्द्रने बदलेमें उसे अपनी ओरसे एक बरछी प्रदान की और कहा—॥२९॥

देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
यमेकं जेतुमिच्छेथाः सोऽनया न भविष्यति ॥ ३० ॥

'वीरवर ! तुम देवता, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, नाग तथा राक्षसोंमेंसे जिस एकको जीतना चाहोगे, वही इस शक्तिके प्रहारसे नष्ट हो जायगा' ॥ ३० ॥

प्राङ् नाम तस्य कथितं वसुषेण इति क्षितौ।
कर्णो वैकर्तनश्चैव कर्मणा तेन सोऽभवत् ॥ ३१ ॥

पहले इस पृथ्वीपर उसका नाम वसुषेण कहा जाता था। तत्पश्चात् अपने शरीरसे कवचको कतर डालनेके कारण वह कर्ण और वैकर्तन नामसे भी प्रसिद्ध हुआ ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कर्णसम्भवे दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कर्णकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १३½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं।)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीद्वारा स्वयंवरमें पाण्डुका वरण और उनके साथ विवाह

वैशम्पायन उवाच

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा कुन्तिभोजकी पुत्री विशाल नेत्रोंवाली पृथा- धर्म, सुन्दर रूप तथा उत्तम गुणोंसे सम्पन्न थी। वह एकमात्र धर्ममें ही रत रहनेवाली और महान् व्रतोंका पालन करनेवाली थी ॥ १ ॥

तां तु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम्।
व्यवृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीव स्त्रीगुणैर्युताम् ॥ २ ॥

स्त्रीजनोचित सर्वोत्तम गुण अधिक मात्रामें प्रकट होकर उसकी शोभा बढ़ा रहे थे। मनोहर रूप तथा युवावस्थासे सुशोभित उस तेजस्विनी राजकन्याके लिये कई राजाओंने महाराज कुन्तिभोजसे याचना की ॥ २ ॥

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाऽऽहूय नराधिपान्।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥ ३ ॥

राजेन्द्र ! तब कन्याके पिता राजा कुन्तिभोजने उन सब राजाओंको बुलाकर अपनी पुत्री पृथाको स्वयंवरमें उपस्थित किया ॥ ३ ॥

ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥ ४ ॥

मनस्विनी कुन्तीने सब राजाओंके बीच रङ्गमञ्चपर बैठे हुए भरतवंशशिरोमणि नृपश्रेष्ठ पाण्डुको देखा ॥ ४ ॥

सिंहदर्पं महोरस्कं वृषभाक्षं महाबलम्।
आदित्यमिव सर्वेषां राज्ञां प्रच्छाद्य वै प्रभाः ॥ ५ ॥

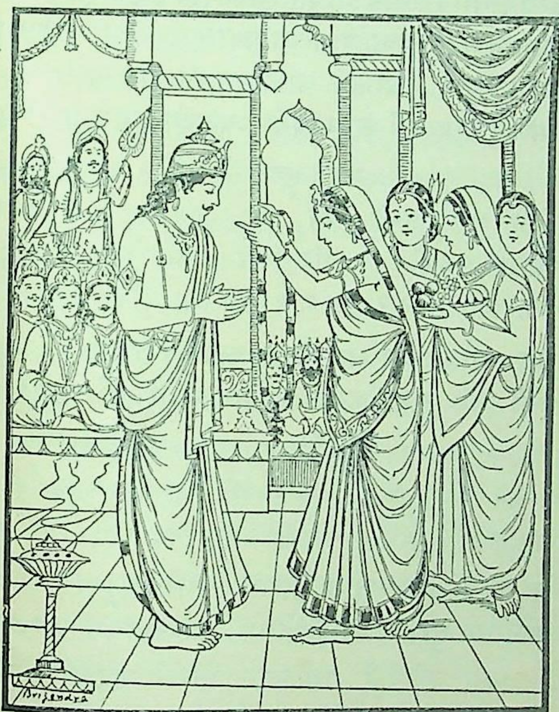
उनमें सिंहके समान अभिमान जाग रहा था। उनकी छाती बहुत चौड़ी थी। उनके नेत्र बैलकी आँखोंके समान बड़े-बड़े थे। उनका बल महान् था। वे सब राजाओंकी

प्रभाको अपने तेजसे आच्छादित करके भगवान् सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥ ५ ॥

तिष्ठन्तं राजसमितौ पुरन्दरमिवापरम् ।
तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ॥ ६ ॥
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ।
ततः कामपरीताङ्गी सकृत् प्रचलमानसा ॥ ७ ॥

उस राजसमाजमें वे द्वितीय इन्द्रके समान विराजमान थे। निर्दोष अङ्गोंवाली कुन्तिभोजकुमारी शुभलक्षणा कुन्ती स्वयंवरकी रंगभूमिमें नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर मन-ही-मन उन्हें पानेके लिये व्याकुल हो उठी। उसके सब अङ्ग कामसे व्याप्त हो गये और चित्त एकबारगी चञ्चल हो उठा ॥ ६-७ ॥

व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धे समासजत् ।
तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ॥ ८ ॥
यथागतं समाजग्मुर्गजैरश्वै रथैस्तथा ।
ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत् प्रभुः ॥ ९ ॥



कुन्तीने लजाते-लजाते राजा पाण्डुके गलेमें जयमाला डाल दी। सब राजाओंने जब सुना कि कुन्तीने महाराज पाण्डुका वरण कर लिया, तब वे हाथी, घोड़े एवं रथों आदि वाहनोंद्वारा जैसे आये थे, वैसे ही अपने-अपने स्थानको लौट गये। राजन्! तब उसके पिताने (पाण्डुके साथ शास्त्रविधिके अनुसार) कुन्तीका विवाह कर दिया ॥ ८-९ ॥

स तया कुन्तिभोजस्य दुहित्रा कुरुनन्दनः ।
युयुजेऽमितसौभाग्यः पौलोम्या मघवानिव ॥ १० ॥

अनन्त सौभाग्यशाली कुरुनन्दन पाण्डु कुन्तिभोज-कुमारी कुन्तीसे संयुक्त हो शचीके साथ इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ १० ॥

कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ।
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ ११ ॥
ततो बलेन महता नानाध्वजपताकिना ।
स्तूयमानः स चाशीर्भिर्ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ॥ १२ ॥
सम्प्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र! महाराज कुन्तिभोजने कुन्ती और पाण्डुका विवाहसंस्कार सम्पन्न करके उस समय उन्हें नाना प्रकारके धन और रत्नोंद्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् पाण्डुको उनकी राजधानीमें भेज दिया। कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! तब कौरवनन्दन राजा पाण्डु नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित विशाल सेनाके साथ चले। उस समय बहुत-से ब्राह्मण एवं महर्षि आशीर्वाद देते हुए उनकी स्तुति करवाते थे। हस्तिनापुरमें आकर उन शक्तिशाली नरेशने अपनी प्यारी पत्नी कुन्तीको राजमहलमें पहुँचा दिया ॥ ११—१३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीविवाहे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीविवाहविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

माद्रीके साथ पाण्डुका विवाह तथा राजा पाण्डुकी दिग्विजय

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान् मतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर शान्तनुनन्दन परम बुद्धिमान् भीष्मजीने यशस्वी राजा पाण्डुके द्वितीय विवाहके लिये विचार किया ॥ १ ॥

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥

वे बूढ़े मन्त्रियों, ब्राह्मणों, महर्षियों तथा चतुरङ्गिणी सेनाके साथ मद्रराजकी राजधानीमें गये ॥ २ ॥

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं वाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥

वाहीकशिरोमणि राजा शल्य भीष्मजीका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये नगरसे बाहर आये और यथोचित स्वागत-सत्कार करके उन्हें राजधानीके भीतर ले गये ॥ ३ ॥

दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं पाद्यमर्घ्यं तथैव च ।
मधुपर्कं च मद्रेशः पप्रच्छागमनेऽर्थिताम् ॥ ४ ॥

वहाँ उनके लिये सुन्दर आसन, पाद्य, अर्घ्य तथा मधुपर्क अर्पण करके मद्रराजने भीष्मजीसे उनके आगमनका प्रयोजन पूछा ॥ ४ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥ ५ ॥

तब कुरुकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजीने मद्रराजसे इस प्रकार कहा—'शत्रुदमन ! तुम मुझे कन्याके लिये आया हुआ समझो ॥ ५ ॥

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥ ६ ॥

'सुना है, तुम्हारी एक यशस्विनी बहिन है, जो बड़े साधु स्वभावकी है; उसका नाम माद्री है। मैं उस यशस्विनी माद्रीका अपने पाण्डुके लिये वरण करता हूँ ॥ ६ ॥

युक्तरूपो हि सम्बन्धे त्वं नो राजन् वयं तव ।
एतत् संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान् यथाविधि ॥ ७ ॥

'राजन् ! तुम हमारे यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा योग्य हो और हम भी तुम्हारे योग्य हैं। मद्रेश्वर ! यों विचारकर तुम हमें विधिपूर्वक अपनाओ' ॥ ७ ॥

तमेवंवादिनं भीष्मं प्रत्यभाषत मद्रपः ।
न हि मेऽन्यो वरस्त्वत्तः श्रेयानिति मतिर्मम ॥ ८ ॥

भीष्मजीके यों कहनेपर मद्रराजने उत्तर दिया—'मेरा विश्वास है कि आपलोगोंसे श्रेष्ठ वर मुझे ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलेगा ॥ ८ ॥

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ॥ ९ ॥

'परंतु इस कुलमें पहलेके श्रेष्ठ राजाओंने कुछ शुल्क लेनेका नियम चला दिया है। वह अच्छा हो या बुरा, मैं उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ९ ॥

व्यक्तं तद् भवतश्चापि विदितं नात्र संशयः ।
न च युक्तं तथा वक्तुं भवान् देहीति सत्तम ॥ १० ॥

'यह बात सबपर प्रकट है, निस्संदेह आप भी इसे जानते होंगे। साधुशिरोमणे ! इस दशामें आपके लिये यह कहना उचित नहीं है कि मुझे कन्या दे दो ॥ १० ॥

कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् ।
तेन त्वां न ब्रवीम्येतदसंदिग्धं वचोऽरिहन् ॥ ११ ॥

'वीर ! वह हमारा कुलधर्म है और हमारे लिये वही परम प्रमाण है। शत्रुदमन ! इसीलिये मैं आपसे निश्चितरूपसे यह नहीं कह पाता कि कन्या दे दूँगा' ॥ ११ ॥

तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं जनाधिपः ।
धर्म एष परो राजन् स्वयमुक्तः स्वयम्भुवा ॥ १२ ॥

यह सुनकर जनेश्वर भीष्मजीने मद्रराजको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजन् ! यह उत्तम धर्म है। स्वयं स्वयम्भू ब्रह्माजीने इसे धर्म कहा है ॥ १२ ॥

नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृतः ।
विदितेयं च ते शल्य मर्यादा साधुसम्मता ॥ १३ ॥

'यदि तुम्हारे पूर्वजोंने इस विधिको स्वीकार कर लिया है तो इसमें कोई दोष नहीं है। शल्य ! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित तुम्हारी यह कुलमर्यादा हम सबको विदित है' ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम् ।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात् सहस्रशः ॥ १४ ॥
गजानश्वान् रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ताप्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम् ॥ १५ ॥

यह कहकर महातेजस्वी भीष्मजीने राजा शल्यको सोना और उसके बने हुए आभूषण तथा सहस्रों विचित्र प्रकारके रत्न भेंट किये। बहुत-से हाथी, घोड़े, रथ, वस्त्र, अलंकार तथा मणि-मोती और मूँगे भी दिये ॥

तत् प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः सम्प्रीतमानसः ।
ददौ तां समलंकृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ १६ ॥

वह सारा धन लेकर शल्यका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपनी बहिनको वस्त्राभूषणोंसे विभूषित करके राजा पाण्डुके लिये कुरुश्रेष्ठ भीष्मजीको सौंप दिया ॥ १६ ॥

स तां माद्रीमुपादाय भीष्मः सागरगासुतः ।
आजगाम पुरीं धीमान् प्रविष्टो गजसाह्वयम् ॥ १७ ॥

परम बुद्धिमान् गङ्गानन्दन भीष्म माद्रीको लेकर हस्तिनापुरमें आये ॥ १७ ॥

तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्ते साधुसम्मते ।
जग्राह विधिवत् पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके द्वारा अनुमोदित शुभ दिन और सुन्दर मुहूर्त आनेपर राजा पाण्डुने माद्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥ १८ ॥

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दनः ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर कुरुनन्दन राजा पाण्डुने अपनी कल्याणमयी भार्याको सुन्दर महलमें ठहराया ॥

स ताभ्यां व्यचरत् सार्धं भार्याभ्यां राजसत्तमः ।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्रो यथाकामं यथासुखम् ॥ २० ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों कुन्ती और माद्रीके साथ आनन्दपूर्वक यथेष्ट विहार करने लगे॥

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत् पुरात् प्रभो ॥ २१ ॥

जनमेजय ! कुरुवंशी राजा पाण्डु तीस रात्रियोंतक विहार करके समूची पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा लेकर राजधानीसे बाहर निकले ॥ २१ ॥

स भीष्मप्रमुखान् वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान् कुरुसत्तमान्।
आमन्त्र्य प्रययौ राजा तैश्चैवाप्यनुमोदितः ॥ २२ ॥
मङ्गलाचारयुक्ताभिराशीर्भिरभिनन्दितः ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमत् ॥ २३ ॥

उन्होंने भीष्म आदि बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें मस्तक झुकाया। कुरुनन्दन धृतराष्ट्र तथा अन्य श्रेष्ठ कुरुवंशियोंको प्रणाम करके उन सबकी आज्ञा ली और उनका अनुमोदन मिलनेपर मङ्गलाचारयुक्त आशीर्वादोंसे अभिनन्दित हो हाथी, घोड़ों तथा रथसमुदायसे युक्त विशाल सेनाके साथ प्रस्थान किया॥

स राजा देवगर्भाभो विजिगीषुर्वसुंधराम्।
हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ॥ २४ ॥

राजा पाण्डु देवकुमारके समान तेजस्वी थे। उन्होंने इस पृथ्वीपर विजय पानेकी इच्छासे हृष्ट-पुष्ट सैनिकोंके साथ अनेक शत्रुओंपर धावा किया ॥ २४ ॥

पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः।
पाण्डुना नरसिंहेन कौरवाणां यशोभृता ॥ २५ ॥

कौरवकुलके सुयशको बढ़ानेवाले, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी राजा पाण्डुने सबसे पहले पूर्वके अपराधी दशार्णोंपर धावा करके उन्हें युद्धमें परास्त किया ॥ २५ ॥

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम्।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसंकुलाम् ॥ २६ ॥
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् वे नाना प्रकारकी ध्वजा-पताकाओंसे युक्त और बहुसंख्यक हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदलोंसे भरी हुई भारी सेना लेकर मगधदेशमें गये। वहाँ राजगृहमें अनेक राजाओंका अपराधी बलाभिमानी मगधराज दीर्घ उनके हाथसे मारा गया ॥ २६-२७ ॥

ततः कोशं समादाय वाहनानि च भूरिशः।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ॥ २८ ॥

उसके बाद भारी खजाना और वाहन आदि लेकर पाण्डुने मिथिलापर चढ़ाई की और विदेहवंशी क्षत्रियोंको युद्धमें परास्त किया ॥ २८ ॥

तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद् यशः ॥ २९ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! इस प्रकार वे पाण्डु काशी, सुह्म तथा पुण्ड्र देशोंपर विजय पाते हुए अपने बाहुबल और पराक्रमसे कुरुकुलके यशका विस्तार करने लगे ॥ २९ ॥

तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम्।
पाण्डुपावकमासाद्य व्यदह्यन्त नराधिपाः ॥ ३० ॥

उस समय शत्रुदमन राजा पाण्डु प्रज्वलित अग्निके समान सुशोभित थे। बाणोंका समुदाय उनकी बढ़ती हुई ज्वालाके समान जान पड़ता था। खड्ग आदि शस्त्र लपटोंके समान प्रतीत होते थे। उनके पास आकर बहुत-से राजा भस्म हो गये ॥ ३० ॥

ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसितबला नृपाः।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरुकर्मसु योजिताः ॥ ३१ ॥

सेनासहित राजा पाण्डुने सामने आये हुए सैन्यसहित नरपतियोंकी सारी सेनाएँ नष्ट कर दीं और उन्हें अपने अधीन करके कौरवोंके आज्ञापालनमें नियुक्त कर दिया॥३१॥

तेन ते निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां सर्वपार्थिवाः।
तमेकं मेनिरे शूरं देवेष्विव पुरंदरम् ॥ ३२ ॥

पाण्डुके द्वारा परास्त हुए समस्त भूपालगण देवताओंमें इन्द्रकी भाँति इस पृथ्वीपर सब मनुष्योंमें एकमात्र उन्हींको शूरवीर मानने लगे ॥ ३२ ॥

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः।
उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥ ३३ ॥

भूतलके समस्त राजाओंने उनके सामने हाथ जोड़कर मस्तक टेक दिये और नाना प्रकारके रत्न एवं धन लेकर उनके पास आये ॥ ३३ ॥

मणिमुक्ताप्रवालं च सुवर्णं रजतं बहु।
गोरत्नान्यश्वरत्नानि रथरत्नानि कुञ्जरान् ॥ ३४ ॥
खरोष्ट्रमहिषीश्चैव यच्च किंचिदजाविकम्।
कम्बलाजिनरत्नानि राङ्कवास्तरणानि च।
तत् सर्वं प्रतिजग्राह राजा नागपुराधिपः ॥ ३५ ॥

राजाओंके दिये हुए ढेर-के-ढेर मणि, मोती, मूँगे, सुवर्ण, चाँदी, गोरत्न, अश्वरत्न, रथरत्न, हाथी, गदहे, ऊँट, भैंसें, बकरे, भेड़ें, कम्बल, मृगचर्म, रत्न, रङ्कु मृगके चर्मसे बने हुए बिछौने आदि जो कुछ भी सामान प्राप्त हुए, उन सबको हस्तिनापुराधीश राजा पाण्डुने ग्रहण कर लिया ॥३४-३५॥

तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः।
हर्षयिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥ ३६ ॥

वह सब लेकर महाराज पाण्डु अपने राष्ट्रके लोगोंका

१. विन्ध्यपर्वतके पूर्व-दक्षिणकी ओर स्थित उस प्रदेशका प्राचीन नाम दशार्ण है, जिससे होकर धसान नदी बहती है। विदिशा (आधुनिक भिलसा) इसी प्रदेशकी राजधानी थी।

हर्ष बढ़ाते हुए पुनः हस्तिनापुर चले आये । उस समय उनकी सवारीके अश्व आदि भी बहुत प्रसन्न थे ॥ ३६ ॥

शन्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रणष्टः कीर्तिजः शब्दः पाण्डुना पुनराहृतः ॥ ३७ ॥

राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी शन्तनु तथा परम बुद्धिमान् भरतकी कीर्ति-कथा जो नष्ट-सी हो गयी थी, उसे महाराज पाण्डुने पुनरुज्जीवित कर दिया ॥ ३७ ॥

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥ ३८ ॥

जिन राजाओंने पहले कुरुदेशके धन तथा कुरुराष्ट्रका अपहरण किया था, उनको हस्तिनापुरके सिंह पाण्डुने करद बना दिया ॥ ३८ ॥

इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च संगताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥ ३९ ॥

बहुत-से राजा तथा राजमन्त्री एकत्र होकर इस तरहकी बातें कर रहे थे । उनके साथ नगर और जनपदके लोग भी इस चर्चामें सम्मिलित थे । उन सबके हृदयमें पाण्डुके प्रति विश्वास तथा हर्षोल्लास छा रहा था ॥ ३९ ॥

प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
ते नदूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥ ४० ॥
आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥ ४१ ॥
हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥ ४२ ॥

राजा पाण्डु जब नगरके निकट आये, तब भीष्म आदि सब कौरव उनकी अगवानीके लिये आगे बढ़ आये । उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक देखा, राजा पाण्डु और उनका दल बड़े उत्साहके साथ आ रहे हैं । उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो वे लोग हस्तिनापुरसे थोड़ी ही दूरतक जाकर वहाँसे लौट रहे हों । उनके साथ भाँति-भाँतिके धन एवं नाना प्रकारके वाहनोंपर लादकर लाये हुए छोटे-बड़े रत्न, श्रेष्ठ हाथी, घोड़े, रथ, गौएँ, ऊँट तथा भेड़ आदि भी थे । भीष्मके साथ कौरवोंने वहाँ जाकर देखा, तो उस धन-वैभवका कहीं अन्त नहीं दिखायी दिया ॥ ४०—४२ ॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौसल्यानन्दवर्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥ ४३ ॥

कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले पाण्डुने निकट आकर पितृव्य भीष्मके चरणोंमें प्रणाम किया और नगर तथा जनपदके लोगोंका भी यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४३ ॥

प्रमृद्य परराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४४ ॥

शत्रुओंके राज्योंको धूलमें मिलाकर कृतकृत्य होकर लौटे हुए अपने पुत्र पाण्डुका आलिङ्गन करके भीष्मजी हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ ४४ ॥

स तूर्यशतशङ्खानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन् सर्वशः पौरान् विवेश गजसाह्वयम् ॥ ४५ ॥

सैकड़ों शङ्ख, तुरही एवं नगारोंकी तुमुल ध्वनिसे समस्त पुरवासियोंको आनन्दित करते हुए पाण्डुने हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदिग्विजये द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुदिग्विजयविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुका पत्नियोंसहित वनमें निवास तथा विदुरका विवाह

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बड़े भाई धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर राजा पाण्डुने अपने बाहुबलसे जीते हुए धनको भीष्म, सत्यवती तथा माता अम्बिका और अम्बालिकाको भेंट किया ॥ १ ॥

विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद् धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन समतर्पयत् ॥ २ ॥

उन्होंने विदुरजीके लिये भी वह धन भेजा । धर्मात्मा पाण्डुने अन्य सुहृदोंको भी उस धनसे तृप्त किया ॥ २ ॥

ततः सत्यवती भीष्मं कौसल्यां च यशस्विनीम् ।
शुभैः पाण्डुजितैरर्थैस्तोषयामास भारत ॥ ३ ॥
ननन्द माता कौसल्या तमप्रतिमतेजसम् ।
जयन्तमिव पौलोमी परिष्वज्य नरर्षभम् ॥ ४ ॥

भारत ! तत्पश्चात् सत्यवतीने पाण्डुद्वारा जीतकर लाये हुए शुभ धनके द्वारा भीष्म और यशस्विनी कौसल्याको[1] भी संतुष्ट किया । माता कौसल्याने अनुपम तेजस्वी नरश्रेष्ठ पाण्डुको उसी प्रकार हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया, जैसे शची अपने पुत्र जयन्तका अभिनन्दन करती हैं ॥ ३-४ ॥

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्रशतदक्षिणैः ।
अश्वमेधशतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥ ५ ॥

वीरवर पाण्डुके पराक्रमसे धृतराष्ट्रने बड़े-बड़े सौ अश्वमेध यज्ञ किये तथा प्रत्येक यज्ञमें एक-एक लाख स्वर्णमुद्राओंकी दक्षिणा दी ॥ ५ ॥

१. काशिराज कोसलकी कन्या होनेसे अम्बिका और अम्बालिका दोनों ही कौसल्या कहलाती थीं ।

सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रीस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूव मृगयापरः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा पाण्डुने आलस्यको जीत लिया था । वे कुन्ती और माद्रीकी प्रेरणासे राजमहलोंका निवास और सुन्दर शय्याएँ छोड़कर वनमें रहने लगे । पाण्डु सदा वनमें रहकर शिकार खेला करते थे ॥ ६-७ ॥

स चरन् दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशालवनेषु च ॥ ८ ॥

वे हिमालयके दक्षिण भागकी रमणीय भूमिमें विचरते हुए पर्वतके शिखरोंपर तथा ऊँचे शालवृक्षोंसे सुशोभित वनोंमें निवास करते थे ॥ ८ ॥

रराज कुन्त्या माद्र्या च पाण्डुः सह वने चरन् ।
करेण्वोरिव मध्यस्थः श्रीमान् पौरंदरो गजः ॥ ९ ॥

कुन्ती और माद्रीके साथ वनमें विचरते हुए महाराज पाण्डु दो हथिनियोंके बीचमें स्थित ऐरावत हाथीकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ९ ॥

भारतं सह भार्याभ्यां खड्गबाणधनुर्धरम् ।
विचित्रकवचं वीरं परमास्त्रविदं नृपम् ।
देवोऽयमित्यमन्यन्त चरन्तं वनवासिनः ॥ १० ॥

तलवार, बाण, धनुष और विचित्र कवच धारण करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ भ्रमण करनेवाले महान् अस्त्रवेत्ता भरतवंशी राजा पाण्डुको देखकर वनवासी मनुष्य यह समझते थे कि ये कोई देवता हैं ॥ १० ॥

तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्यमतन्द्रिताः ।
उपाजहुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रेरित हो बहुत-से मनुष्य आलस्य छोड़कर वनमें महाराज पाण्डुके लिये इच्छानुसार भोगसामग्री पहुँचाया करते थे ॥ ११ ॥

अथ पारशवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगासुतः ॥ १२ ॥

एक समय गङ्गानन्दन भीष्मजीने सुना कि राजा देवकके यहाँ एक कन्या है, जो शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे ब्राह्मणद्वारा उत्पन्न की गयी है । वह सुन्दर रूप और युवावस्थासे सम्पन्न है ॥ १२ ॥

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभः ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महामतेः ॥ १३ ॥

तब इन भरतश्रेष्ठने उसका वरण किया और उसे अपने यहाँ ले आकर उसके साथ परम बुद्धिमान् विदुरजीका विवाह कर दिया ॥ १३ ॥

तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान् विनयसम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन विदुरने उसके गर्भसे अपने ही समान गुणवान् और विनयशील अनेक पुत्र उत्पन्न किये ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि विदुरपरिणये त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें विदुरविवाहविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके गान्धारीसे एक सौ पुत्र तथा एक कन्याकी तथा सेवा करनेवाली वैश्यजातीय युवतीसे युयुत्सु नामक एक पुत्रकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामेकश्चापि शतात् परः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रके उनकी पत्नी गान्धारीके गर्भसे एक सौ पुत्र उत्पन्न हुए । धृतराष्ट्रकी एक दूसरी पत्नी वैश्यजातिकी कन्या थी । उससे भी एक पुत्रका जन्म हुआ । यह पूर्वोक्त सौ पुत्रोंसे भिन्न था ॥ १ ॥

पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः ।
देवेभ्यः समपद्यन्त संतानाय कुलस्य वै ॥ २ ॥

पाण्डुके कुन्ती और माद्रीके गर्भसे पाँच महारथी पुत्र उत्पन्न हुए । वे सब कुरुकुलकी संतानपरम्पराकी रक्षाके लिये देवताओंके अंशसे प्रकट हुए थे ॥ २ ॥

जनमेजय उवाच

कथं पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां द्विजसत्तम ।
कियता चैव कालेन तेषामायुश्च किं परम् ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! गान्धारीसे सौ पुत्र किस प्रकार और कितने समयमें उत्पन्न हुए ? और उन सबकी पूरी आयु कितनी थी ? ॥ ३ ॥

कथं चैकः स वैश्यायां धृतराष्ट्रसुतोऽभवत् ।
कथं च सदृशीं भार्यां गान्धारीं धर्मचारिणीम् ॥ ४ ॥

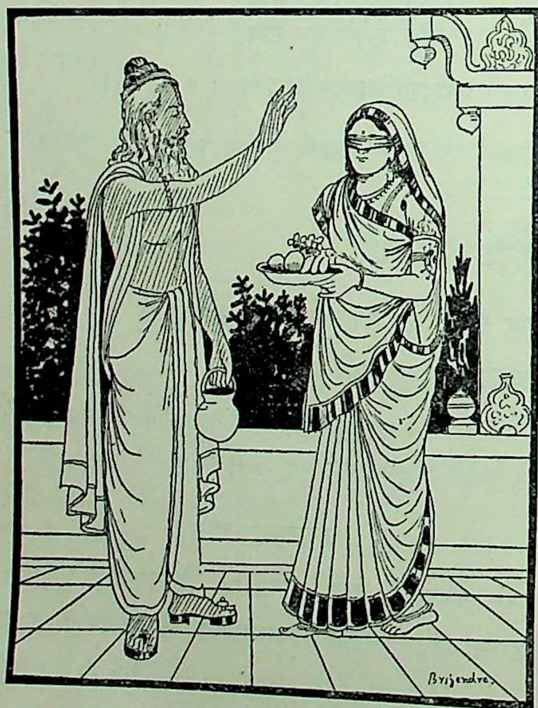
आनुकूल्ये वर्तमानां धृतराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ।
कथं च शप्तस्य सतः पाण्डोस्तेन महात्मना ॥ ५ ॥
समुत्पन्ना दैवतेभ्यः पुत्राः पञ्च महारथाः ।
एतद् विद्वन् यथान्यायं विस्तरेण तपोधन ॥ ६ ॥
कथयस्व न मे तृप्तिः कथ्यमानेषु बन्धुषु ।

वैश्यजातीय स्त्रीके गर्भसे धृतराष्ट्रका वह एक पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? राजा धृतराष्ट्र सदा अपने अनुकूल चलनेवाली योग्य पत्नी धर्मपरायणा गान्धारीके साथ कैसा बर्ताव करते थे ? महात्मा मुनिद्वारा शापको प्राप्त हुए राजा पाण्डुके वे पाँचों महारथी पुत्र देवताओंके अंशसे कैसे उत्पन्न हुए ? विद्वान् तपोधन ! ये सब बातें यथोचित रूपसे विस्तारपूर्वक कहिये। अपने बन्धुजनोंकी यह चर्चा सुनकर मुझे तृप्ति नहीं होती ॥ ४–६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

क्षुच्छ्रमाभिपरिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम् ॥ ७ ॥
तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ ।
सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है, महर्षि व्यास भूख और परिश्रमसे खिन्न होकर धृतराष्ट्रके यहाँ आये । उस समय गान्धारीने भोजन और विश्रामकी व्यवस्थाद्वारा उन्हें



संतुष्ट किया । तब व्यासजीने गान्धारीको वर देनेकी इच्छा प्रकट की । गान्धारीने अपने पतिके समान ही सौ पुत्र माँगे ।७-८।

ततः कालेन सा गर्भं धृतराष्ट्रादथाग्रहीत् ।
संवत्सरद्वयं तं तु गान्धारी गर्भमाहितम् ॥ ९ ॥
अप्रजा धारयामास ततस्तां दुःखमाविशत् ।
श्रुत्वा कुन्तीसुतं जातं बालार्कसमतेजसम् ॥ १० ॥

तदनन्तर समयानुसार गान्धारीने धृतराष्ट्रसे गर्भ धारण किया । दो वर्ष व्यतीत हो गये, तबतक गान्धारी उस गर्भको धारण किये रही । फिर भी प्रसव नहीं हुआ । इसी बीचमें गान्धारीने जब यह सुना कि कुन्तीके गर्भसे प्रातःकालीन सूर्यके समान तेजस्वी पुत्रका जन्म हुआ है, तब उसे बड़ा दुःख हुआ ॥ ९-१० ॥

उदरस्यात्मनः स्थैर्यमुपलभ्यान्वचिन्तयत् ।
अज्ञातं धृतराष्ट्रस्य यत्नेन महता ततः ॥ ११ ॥
सोदरं घातयामास गान्धारी दुःखमूर्च्छिता ।
ततो जज्ञे मांसपेशी लोहाष्ठीलेव संहता ॥ १२ ॥

उसे अपने उदरकी स्थिरतापर बड़ी चिन्ता हुई । गान्धारी दुःखसे मूर्च्छित हो रही थी । उसने धृतराष्ट्रकी अनजानमें ही महान् प्रयत्न करके अपने उदरपर आघात किया । तब उसके गर्भसे एक मांसका पिण्ड प्रकट हुआ, जो लोहेके पिण्डके समान कड़ा था ॥ ११-१२ ॥

द्विवर्षसम्भृतां कुक्षौ तामुत्स्रष्टुं प्रचक्रमे ।
अथ द्वैपायनो ज्ञात्वा त्वरितः समुपागमत् ॥ १३ ॥

उसने दो वर्षोंतक उसे पेटमें धारण कियां था, तो भी उसने उसे इतना कड़ा देखकर फेंक देनेका विचार किया । इधर यह बात महर्षि व्यासको मालूम हुई । तब वे बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आये ॥ १३ ॥

तां स मांसमयीं पेशीं ददर्श जपतां वरः ।
ततोऽब्रवीत् सौबलेयीं किमिदं ते चिकीर्षितम् ॥ १४ ॥

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ व्यासजीने उस मांसपिण्डको देखा और गान्धारीसे पूछा—'तुम इसका क्या करना चाहती थीं ?' ॥ १४ ॥

सा चात्मनो मतं सत्यं शशंस परमर्षये ।

और उसने महर्षिको अपने मनकी बात सच-सच बता दी ।

गान्धार्युवाच

ज्येष्ठं कुन्तीसुतं जातं श्रुत्वा रविसमप्रभम् ॥ १५ ॥
दुःखेन परमेणेदमुदरं घातितं मया ।
शतं च किल पुत्राणां वितीर्णं मे त्वया पुरा ॥ १६ ॥
इयं च मे मांसपेशी जाता पुत्रशताय वै ।

गान्धारीने कहा—मुने ! मैंने सुना है, कुन्तीके एक ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ है, जो सूर्यके समान तेजस्वी है । यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखके कारण मैंने अपने उदरपर आघात करके गर्भ गिराया है । आपने पहले मुझे ही सौ पुत्र होनेका वरदान दिया था; परंतु आज इतने दिनों बाद मेरे गर्भसे सौ पुत्रोंकी जगह यह मांसपिण्ड पैदा हुआ है ॥ १५-१६½ ॥

व्यास उवाच

एवमेतत् सौबलेयि नैतज्जात्वन्यथा भवेत् ॥ १७ ॥

व्यासजीने कहा—सुबलकुमारी! यह सब मेरे वरदानके अनुसार ही हो रहा है; वह कभी अन्यथा नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा।
घृतपूर्णं कुण्डशतं क्षिप्रमेव विधीयताम् ॥ १८ ॥

मैंने कभी हास-परिहासके समय भी झूठी बात मुँहसे नहीं निकाली है। फिर वरदान आदि अन्य अवसरोंपर कही हुई मेरी बात झूठी कैसे हो सकती है। तुम शीघ्र ही सौ मटके (कुण्ड) तैयार कराओ और उन्हें घीसे भरवा दो ॥ १८ ॥

सुगुप्तेषु च देशेषु रक्षा चैव विधीयताम्।
शीताभिरद्भिरष्ठीलामिमां च परिषेचय ॥ १९ ॥

फिर अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रखकर उनकी रक्षाकी भी पूरी व्यवस्था करो। इस मांसपिण्डको ठंडे जलसे सींचो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा सिच्यमाना त्वष्ठीला बभूव शतधा तदा।
अङ्गुष्ठपर्वमात्राणां गर्भाणां पृथगेव तु ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय सींचे जानेपर उस मांसपिण्डके सौ टुकड़े हो गये। वे अलग-अलग अँगूठेके पोरुवे बराबर सौ गर्भोंके रूपमें परिणत हो गये ॥ २० ॥

एकाधिकशतं पूर्णं यथायोगं विशाम्पते।
मांसपेश्यास्तदा राजन् क्रमशः कालपर्ययात् ॥ २१ ॥

राजन्! कालके परिवर्तनसे क्रमशः उस मांसपिण्डके यथायोग्य पूरे एक सौ एक भाग हुए ॥ २१ ॥

ततस्तांस्तेषु कुण्डेषु गर्भानवदधे तदा।
स्वनुगुप्तेषु देशेषु रक्षां वै व्यदधात् ततः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् गान्धारीने उन सभी गर्भोंको उन पूर्वोक्त कुण्डोंमें रक्खा। वे सभी कुण्ड अत्यन्त गुप्त स्थानोंमें रक्खे हुए थे। उनकी रक्षाकी ठीक-ठीक व्यवस्था कर दी गयी ॥ २२ ॥

शशंस चैव भगवान् कालेनैतावता पुनः।
उद्घाटनीयान्येतानि कुण्डानीति च सौबलीम् ॥ २३ ॥

तब भगवान् व्यासने गान्धारीसे कहा—'इतने ही दिन अर्थात् पूरे दो वर्षोंतक प्रतीक्षा करनेके बाद इन कुण्डोंका ढक्कन खोल देना चाहिये' ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् व्यासस्तथा प्रतिनिधाय च।
जगाम तपसे धीमान् हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ २४ ॥

यों कहकर और पूर्वोक्त प्रकारसे रक्षाकी व्यवस्था कराकर परम बुद्धिमान् भगवान् व्यास हिमालय पर्वतपर तपस्याके लिये चले गये ॥ २४ ॥

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥

तदनन्तर दो वर्ष बीतनेपर जिस क्रमसे वे गर्भ उन कुण्डोंमें स्थापित किये गये थे, उसी क्रमसे उनमें सबसे पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ। जन्मकालके प्रमाणसे राजा युधिष्ठिर उससे भी ज्येष्ठ थे ॥ २५ ॥

तदाख्यातं तु भीष्माय विदुराय च धीमते।
यस्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ॥ २६ ॥
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान्।
स जातमात्र एवाथ धृतराष्ट्रसुतो नृप ॥ २७ ॥
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च।
तं खराः प्रत्यभाषन्त गृध्रगोमायुवायसाः ॥ २८ ॥

दुर्योधनके जन्मका समाचार परम बुद्धिमान् भीष्म तथा विदुरजीको बताया गया। जिस दिन दुर्धर्ष वीर दुर्योधनका जन्म हुआ, उसी दिन परम पराक्रमी महाबाहु भीमसेन भी उत्पन्न हुए। राजन्! धृतराष्ट्रका वह पुत्र जन्म लेते ही गदहेके रेंकनेकी-सी आवाजमें रोने-चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर बदलेमें दूसरे गदहे भी रेंकने लगे। गीध, गीदड़ और कौए भी कोलाहल करने लगे ॥ २६—२८ ॥

वाताश्च प्रववुश्चापि दिग्दाहश्चाभवत् तदा।
ततस्तु भीतवद् राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ २९ ॥
समानीय बहून् विप्रान् भीष्मं विदुरमेव च।
अन्यांश्च सुहृदो राजन् कुरून् सर्वांस्तथैव च ॥ ३० ॥

बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। सम्पूर्ण दिशाओंमें दाह-सा होने लगा। राजन्! तब राजा धृतराष्ट्र भयभीत-से हो उठे और बहुत-से ब्राह्मणोंको, भीष्मजी और विदुरजीको, दूसरे-दूसरे सुहृदों तथा समस्त कुरुवंशियोंको अपने समीप बुलवाकर उन-से इस प्रकार बोले—॥ २९-३० ॥

युधिष्ठिरो राजपुत्रो ज्येष्ठो नः कुलवर्धनः।
प्राप्तः स्वगुणतो राज्यं न तस्मिन् वाच्यमस्ति नः ॥ ३१ ॥

'आदरणीय गुरुजनो! हमारे कुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले राजकुमार युधिष्ठिर सबसे ज्येष्ठ हैं। वे अपने गुणोंसे राज्यको पानेके अधिकारी हो चुके हैं। उनके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना है ॥ ३१ ॥

अयं त्वनन्तरस्तस्मादपि राजा भविष्यति।
एतद् विब्रूत मे तथ्यं यदत्र भविता ध्रुवम् ॥ ३२ ॥

'किंतु उनके बाद मेरा यह पुत्र ही ज्येष्ठ है। क्या यह भी राजा बन सकेगा? इस बातपर विचार करके आपलोग ठीक-ठीक बतायें। जो बात अवश्य होनेवाली है, उसे स्पष्ट कहें' ॥ ३२ ॥

वाक्यस्यैतस्य निधने दिक्षु सर्वासु भारत ।
क्रव्यादाः प्राणदन् घोराः शिवाश्चाशिवशंसिनः ॥ ३३ ॥

जनमेजय ! धृतराष्ट्रकी यह बात समाप्त होते ही चारों दिशाओंमें भयंकर मांसाहारी जीव गर्जना करने लगे । गीदड़ अमङ्गलसूचक बोली बोलने लगे ॥ ३३ ॥

लक्षयित्वा निमित्तानि तानि घोराणि सर्वशः ।
तेऽब्रुवन् ब्राह्मणा राजन् विदुरश्च महामतिः ॥ ३४ ॥
यथेमानि निमित्तानि घोराणि मनुजाधिप ।
उत्थितानि सुते जाते ज्येष्ठे ते पुरुषर्षभ ॥ ३५ ॥
व्यक्तं कुलान्तकरणो भवितैष सुतस्तव ।
तस्य शान्तिः परित्यागे गुप्तावपनयो महान् ॥ ३६ ॥

राजन् ! सब ओर होनेवाले उन भयानक अपशकुनोंको लक्ष्य करके ब्राह्मणलोग तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी इस प्रकार बोले—'नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! आपके ज्येष्ठ पुत्रके जन्म लेनेपर जिस प्रकार ये भयंकर अपशकुन प्रकट हो रहे हैं, उनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि आपका यह पुत्र समूचे कुलका संहार करनेवाला होगा । यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो सब विघ्नोंकी शान्ति हो जायगी और यदि इसकी रक्षा की गयी तो आगे चलकर बड़ा भारी उपद्रव खड़ा होगा ॥ ३४–३६ ॥

शतमेकोनमप्यस्तु पुत्राणां ते महीपते ।
त्यजैनमेकं शान्तिं चेत् कुलस्येच्छसि भारत ॥ ३७ ॥

'महीपते ! आपके निन्यानबे पुत्र ही रहें; भारत ! यदि आप अपने कुलकी शान्ति चाहते हैं तो इस एक पुत्रको त्याग दें ॥ ३७ ॥

एकेन कुरु वै क्षेमं कुलस्य जगतस्तथा ।
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥ ३८ ॥
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।
स तथा विदुरेणोक्तस्तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ ३९ ॥
न चकार तथा राजा पुत्रस्नेहसमन्वितः ।
ततः पुत्रशतं पूर्णं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ॥ ४० ॥

'केवल एक पुत्रके त्यागद्वारा इस सम्पूर्ण कुलका तथा समस्त जगत्का कल्याण कीजिये । नीति कहती है कि समूचे कुलके हितके लिये एक व्यक्तिको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशके हितके लिये एक गाँवका परित्याग कर दे और आत्माके कल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे ।' विदुर तथा उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके यों कहनेपर भी पुत्रस्नेहके बन्धनमें बँधे हुए राजा धृतराष्ट्रने वैसा नहीं किया । जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रके पूरे सौ पुत्र हुए ॥ ३८–४० ॥

मासमात्रेण संजज्ञे कन्या चैका शताधिका ।
गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता ॥ ४१ ॥
धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल ।
तस्मिन् संवत्सरे राजन् धृतराष्ट्रान्महायशाः ॥ ४२ ॥
जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप ।
एवं पुत्रशतं जज्ञे धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ ४३ ॥
महारथानां वीराणां कन्या चैका शताधिका ।
युयुत्सुश्च महातेजा वैश्यापुत्रः प्रतापवान् ॥ ४४ ॥

तदनन्तर एक ही मासमें गान्धारीसे एक कन्या उत्पन्न हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी । जिन दिनों गर्भ धारण करनेके कारण गान्धारीका पेट बढ़ गया था और वह क्लेशमें पड़ी रहती थी, उन दिनों महाराज धृतराष्ट्रकी सेवामें एक वैश्यजातीय स्त्री रहती थी । राजन् ! उस वर्ष धृतराष्ट्रके अंशसे उस वैश्यजातीय भार्याके द्वारा महायशस्वी बुद्धिमान् युयुत्सुका जन्म हुआ । जनमेजय ! युयुत्सु करण कहे जाते थे । इस प्रकार बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके एक सौ वीर महारथी पुत्र हुए । तत्पश्चात् एक कन्या हुई, जो सौ पुत्रोंके अतिरिक्त थी । इन सबके सिवा महातेजस्वी परम प्रतापी वैश्यापुत्र युयुत्सु भी थे ॥ ४१–४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि गान्धारीपुत्रोत्पत्तौ चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें गान्धारीपुत्रोत्पत्तिविषयक एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥



पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

दुःशलाके जन्मकी कथा

जनमेजय उवाच

धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामादितः कथितं त्वया ।
ऋषेः प्रसादात् तु शतं न च कन्या प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! महर्षि व्यासके प्रसादसे धृतराष्ट्रके सौ पुत्र हुए, यह बात आपने मुझे पहले ही बता दी थी । परंतु उस समय यह नहीं कहा था कि उन्हें कन्या भी हुई ॥ १ ॥

वैश्यापुत्रो युयुत्सुश्च कन्या चैका शताधिका ।
गान्धारराजदुहिता शतपुत्रेति चानघ ॥ २ ॥
उक्ता महर्षिणा तेन व्यासेनामिततेजसा ।
कथं त्विदानीं भगवन् कन्यां त्वं तु ब्रवीषि मे ॥ ३ ॥

अनघ ! इस समय आपने वैश्यापुत्र युयुत्सु तथा सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक कन्याकी भी चर्चा की है। अमिततेजस्वी महर्षि व्यासने गान्धारराजकुमारीको सौ पुत्र होनेका ही वरदान दिया था। भगवन् ! फिर आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि एक कन्या भी हुई ॥ २-३ ॥

यदि भागशतं पेशी कृता तेन महर्षिणा।
न प्रजास्यति चेद् भूयः सौबलेयी कथंचन ॥ ४ ॥
कथं तु सम्भवस्तस्या दुःशलाया वदस्व मे।
यथावदिह विप्रर्षे परं मेऽत्र कुतूहलम् ॥ ५ ॥

यदि महर्षिने उक्त मांसपिण्डके सौ भाग किये और यदि सुबलपुत्री गान्धारीने किसी प्रकार फिर गर्भ धारण या प्रसव नहीं किया, तो उस दुःशला नामवाली कन्याका जन्म किस प्रकार हुआ ? ब्रह्मर्षे ! यह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये। मुझे इस विषयमें बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ४-५ ॥

वैशम्पायन उवाच

साध्वयं प्रश्न उद्दिष्टः पाण्डवेय ब्रवीमि ते।
तां मांसपेशीं भगवान् स्वयमेव महातपाः ॥ ६ ॥
शीताभिरद्भिरासिच्य भागं भागमकल्पयत्।
यो यथा कल्पितो भागस्तं तं धात्र्या तथा नृप ॥ ७ ॥
घृतपूर्णेषु कुण्डेषु एकैकं प्राक्षिपत् तदा।
एतस्मिन्नन्तरे साध्वी गान्धारी सुदृढव्रता ॥ ८ ॥
दुहितुः स्नेहसंयोगमनुध्याय वराङ्गना।
मनसाचिन्तयद् देवी एतत् पुत्रशतं मम ॥ ९ ॥
भविष्यति न संदेहो न ब्रवीत्यन्यथा मुनिः।
ममेयं परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद् यदि ॥ १० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—पाण्डवनन्दन ! तुमने यह बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ। महातपस्वी भगवान् व्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डको शीतल जलसे सींचकर उसके सौ भाग किये। राजन् ! उस समय जो भाग जैसा बना, उसे धायद्वारा वे एक-एक करके घीसे भरे हुए कुण्डोंमें डलवाते गये। इसी बीचमें पूर्ण दृढ़तासे सतीव्रतका पालन करनेवाली साध्वी एवं सुन्दरी गान्धारी कन्याके स्नेह-सम्बन्धका विचार करके मन-ही-मन सोचने लगी—इसमें संदेह नहीं कि इस मांसपिण्डसे मेरे सौ पुत्र उत्पन्न होंगे; क्योंकि व्यासमुनि कभी झूठ नहीं बोलते; परंतु मुझे अधिक संतोष तो तब होता, यदि एक पुत्री भी हो जाती ॥ ६—१० ॥

एका शताधिका बाला भविष्यति कनीयसी।
ततो दौहित्रजाल्लोकादबाह्योऽसौ पतिर्मम ॥ ११ ॥

यदि सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक छोटी कन्या हो जायगी तो मेरे ये पति दौहित्रके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले उत्तम लोकोंसे भी वञ्चित नहीं रहेंगे ॥ ११ ॥

अधिका किल नारीणां प्रीतिर्जामातृजा भवेत्।
यदि नाम ममापि स्याद् दुहितैका शताधिका ॥ १२ ॥
कृतकृत्या भवेयं वै पुत्रदौहित्रसंवृता।
यदि सत्यं तपस्तप्तं दत्तं वाप्यथवा हुतम् ॥ १३ ॥
गुरवस्तोषिता वापि तथास्तु दुहिता मम।
एतस्मिन्नेव काले तु कृष्णद्वैपायनः स्वयम् ॥ १४ ॥
व्यभजत् स तदा पेशीं भगवानृषिसत्तमः।
गणयित्वा शतं पूर्णमंशानामाह सौबलीम् ॥ १५ ॥

कहते हैं, स्त्रियोंका दामादमें पुत्रसे भी अधिक स्नेह होता है। यदि मुझे भी सौ पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्री प्राप्त हो जाय तो मैं पुत्र और दौहित्र दोनोंसे घिरी रहकर कृतकृत्य हो जाऊँ। यदि मैंने सचमुच तप, दान अथवा होम किया हो तथा गुरुजनोंको सेवाद्वारा प्रसन्न कर लिया हो, तो मुझे पुत्री अवश्य प्राप्त हो। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासने स्वयं ही उस मांसपिण्डके विभाग कर दिये और पूरे सौ अंशोंकी गणना करके गान्धारीसे कहा ॥ १२—१५ ॥

व्यास उवाच

पूर्णं पुत्रशतं त्वेतन्न मिथ्या वागुदाहृता।
दौहित्रयोगाय भाग एकः शिष्टः शतात् परः।
एषा ते सुभगा कन्या भविष्यति यथेप्सिता ॥ १६ ॥

व्यासजी बोले—गान्धारी ! मैंने झूठी बात नहीं कही थी; ये पूरे सौ पुत्र हैं। सौके अतिरिक्त एक भाग और बचा है, जिससे दौहित्रका योग होगा। इस अंशसे तुम्हें अपने मनके अनुरूप एक सौभाग्यशालिनी कन्या प्राप्त होगी ॥ १६ ॥

ततोऽन्यं घृतकुम्भं च समानाय्य महातपाः।
तं चापि प्राक्षिपत् तत्र कन्याभागं तपोधनः ॥ १७ ॥
एतत् ते कथितं राजन् दुःशलाजन्म भारत।
ब्रूहि राजेन्द्र किं भूयो वर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ १८ ॥

यों कहकर महातपस्वी व्यासजीने घीसे भरा हुआ एक और घड़ा मँगाया और उन तपोधन मुनिने उस कन्याभागको उसीमें डाल दिया। भरतवंशी नरेश ! इस प्रकार मैंने तुम्हें दुःशलाके जन्मका प्रसङ्ग सुना दिया। अनघ ! बोलो, अब पुनः और क्या कहूँ ? ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि दुःशलोत्पत्तौ पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें दुःशलाकी उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी नामावली

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्यात् प्रकीर्तय ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें सबसे ज्येष्ठ कौन था ? फिर उससे छोटा और उससे भी छोटा कौन था ? उन सबके अलग-अलग नाम क्या थे ? इन सब बातोंका क्रमशः वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजन् दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसंधः समः सहः ॥ २ ॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥ ३ ॥
विविंशतिर्विकर्णश्च शलः सत्त्वः सुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रशरासनः ॥ ४ ॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥ ५ ॥
चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विरोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्राङ्गश्चित्रकुण्डलः ॥ ६ ॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्धनः ।
उग्रायुधः सुषेणश्च कुण्डोदरमहोदरौ ॥ ७ ॥
चित्रायुधो निषङ्गी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढवर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्तिरनूदरः ॥ ८ ॥
दृढसंधो जरासंधः सत्यसंधः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ ९ ॥
अपराजितः पण्डितको विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्चसौ ॥ १० ॥
आदित्यकेतुर्बह्वाशी नागदत्तोऽग्रयाय्यपि ।
कवची क्रथनः दण्डी दण्डधारो धनुर्ग्रहः ॥ ११ ॥
उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १२ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥
दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—(जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंके नाम क्रमशः ये हैं—) १ दुर्योधन, २ युयुत्सु, ३ दुश्शासन, ४ दुस्सह, ५ दुश्शल, ६ जलसंध, ७ सम, ८ सह, ९ विन्द, १० अनुविन्द, ११ दुर्धर्ष, १२ सुबाहु, १३ दुष्प्रधर्षण, १४ दुर्मर्षण, १५ दुर्मुख, १६ दुष्कर्ण, १७ कर्ण, १८ विविंशति, १९ विकर्ण, २० शल, २१ सत्त्व, २२ सुलोचन, २३ चित्र, २४ उपचित्र, २५ चित्राक्ष, २६ चारुचित्रशरासन (चित्र-चाप), २७ दुर्मद, २८ दुर्विगाह, २९ विवित्सु, ३० विकटानन (विकट), ३१ ऊर्णनाभ, ३२ सुनाभ (पद्मनाभ), ३३ नन्द, ३४ उपनन्द, ३५ चित्रबाण (चित्रबाहु), ३६ चित्रवर्मा, ३७ सुवर्मा, ३८ दुर्विरोचन, ३९ अयोबाहु, ४० महाबाहु चित्राङ्ग (चित्राङ्गद), ४१ चित्रकुण्डल (सुकुण्डल), ४२ भीमवेग, ४३ भीमबल, ४४ बलाकी, ४५ बलवर्धन (विक्रम), ४६ उग्रायुध, ४७ सुषेण, ४८ कुण्डोदर, ४९ महोदर, ५० चित्रायुध (दृढ़ायुध), ५१ निषङ्गी, ५२ पाशी, ५३ वृन्दारक, ५४ दृढ़वर्मा, ५५ दृढ़क्षत्र, ५६ सोमकीर्ति, ५७ अनूदर, ५८ दृढ़संध, ५९ जरासंध, ६० सत्यसंध, ६१ सदःसुवाक् (सहस्रवाक्), ६२ उग्रश्रवा, ६३ उग्रसेन, ६४ सेनानी (सेनापति), ६५ दुष्पराजय, ६६ अपराजित, ६७ पण्डितक, ६८ विशालाक्ष, ६९ दुराधर (दुराधन), ७० दृढहस्त, ७१ सुहस्त, ७२ वातवेग, ७३ सुवर्चा, ७४ आदित्यकेतु, ७५ बह्वाशी, ७६ नागदत्त, ७७ अग्रयायी (अनुयायी), ७८ कवची, ७९ क्रथन, ८० दण्डी, ८१ दण्डधार, ८२ धनुर्ग्रह, ८३ उग्र, ८४ भीमरथ, ८५ वीरबाहु, ८६ अलोलुप, ८७ अभय, ८८ रौद्रकर्मा, ८९ दृढ़रथाश्रय (दृढ़रथ), ९० अनाधृष्य, ९१ कुण्डभेदी, ९२ विरावी, ९३ विचित्र कुण्डलोंसे सुशोभित प्रमथ, ९४ प्रमाथी, ९५ वीर्यवान् दीर्घरोमा (दीर्घलोचन), ९६ दीर्घबाहु, ९७ महाबाहु व्यूढोरु, ९८ कनकध्वज (कनकाङ्गद), ९९ कुण्डाशी (कुण्डज) तथा १०० विरजा—धृतराष्ट्रके ये सौ पुत्र थे । इनके सिवा दुःशला नामक एक कन्या थी, जो सौसे अधिक थी* ॥ २—१४ ॥

इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥ १५ ॥

राजन् ! इस प्रकार धृतराष्ट्रके सौ पुत्र और उन सौके अतिरिक्त एक कन्या बतायी गयी । राजन् ! जिस क्रमसे इनके नाम लिये गये हैं, उसी क्रमसे इनका जन्म हुआ समझो ॥ १५ ॥

* आदिपर्वके सरसठवें अध्यायमें भी धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंके नाम आये हैं । वहाँ जो नाम दिये गये हैं, उनमेंसे अधिकांश नाम इस अध्यायमें भी ज्यों-के-त्यों हैं । कुछ नामोंमें साधारण अन्तर है, जिन्हें यहाँ कोष्ठकमें दे दिया गया है । इस प्रकार यहाँ और वहाँ

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १६ ॥

ये सभी अतिरथी शूरवीर थे । सबने युद्धविद्यामें निपुणता प्राप्त कर ली थी । सब-के-सब वेदोंके विद्वान् तथा सम्पूर्ण अस्त्रविद्याके मर्मज्ञ थे ॥ १६ ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते।
धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ १७ ॥

दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ १८ ॥

जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्रने समयपर भलीभाँति जाँच-पड़ताल करके अपने सभी पुत्रोंका उनके योग्य स्त्रियोंके साथ विवाह कर दिया । भरतश्रेष्ठ ! महाराज धृतराष्ट्रने विवाहके योग्य समय आनेपर अपनी पुत्री दुःशलाका राजा जयद्रथके साथ विधिपूर्वक विवाह किया ॥ १७-१८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि धृतराष्ट्रपुत्रनामकथने षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें धृतराष्ट्रपुत्रनामवर्णनविषयक एक सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुके द्वारा मृगरूपधारी मुनिका वध तथा उनसे शापकी प्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथितो धार्तराष्ट्राणामार्षः सम्भव उत्तमः।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—भगवन् ! आपने धृतराष्ट्रके पुत्रोंके जन्मका उत्तम प्रसंग सुनाया है, जो महर्षि व्यासकी कृपासे सम्भव हुआ था । आप ब्रह्मवादी हैं । आपने यद्यपि यह मनुष्योंके जन्मका वृत्तान्त बताया है, तथापि यह दूसरे मनुष्योंमें कभी नहीं देखा गया ॥ १ ॥

नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन् पाण्डवानां च कीर्तय ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंके पृथक्-पृथक् नाम भी जो आपने कहे हैं, वे मैंने अच्छी तरह सुन लिये । अब पाण्डवोंके जन्मका वर्णन कीजिये ॥ २ ॥

ते हि सर्वे महात्मानो देवराजपराक्रमाः।
त्वयैवांशावतरणे देवभागाः प्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

वे सब महात्मा पाण्डव देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी थे । आपने ही अंशावतरणके प्रसंगमें उन्हें देवताओंका अंश बताया था ॥ ३ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुमतिमानुषकर्मणाम्।
तेषामाजननं सर्वं वैशम्पायन कीर्तय ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी ! वे ऐसे पराक्रम कर दिखाते थे, जो मनुष्योंकी शक्तिके परे हैं; अतः मैं उनके जन्मसम्बन्धी वृत्तान्तको सम्पूर्णतासे सुनना चाहता हूँ; कृपा करके कहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

राजा पाण्डुर्महारण्ये मृगव्यालनिषेविते।
चरन् मैथुनधर्मस्थं ददर्श मृगयूथपम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! एक समय राजा पाण्डु मृगों और सर्पोंसे सेवित विशाल वनमें विचर रहे थे । उन्होंने मृगोंके एक यूथपतिको देखा, जो मृगीके साथ मैथुन कर रहा था ॥ ५ ॥

ततस्तां च मृगीं तं च रुक्मपुङ्खैः सुपत्रिभिः।
निर्बिभेद शरैस्तीक्ष्णैः पाण्डुः पञ्चभिराशुगैः ॥ ६ ॥

उसे देखते ही राजा पाण्डुने पाँच सुन्दर एवं सुनहरे पंखोंसे युक्त तीखे तथा शीघ्रगामी बाणोंद्वारा, उस मृगी और मृगको भी बींध डाला ॥ ६ ॥

स च राजन् महातेजा ऋषिपुत्रस्तपोधनः।
भार्यया सह तेजस्वी मृगरूपेण संगतः ॥ ७ ॥

राजन् ! उस मृगके रूपमें एक महातेजस्वी तपोधन ऋषिपुत्र थे, जो अपनी मृगीरूपधारिणी पत्नीके साथ तेजस्वी मृग बनकर समागम कर रहे थे ॥ ७ ॥

संसक्तश्च तया मृग्या मानुषीमीरयन् गिरम्।
क्षणेन पतितो भूमौ विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ८ ॥

वे उस मृगीसे सटे हुए ही मनुष्योंकी-सी बोली बोलते हुए क्षणभरमें पृथ्वीपर गिर पड़े । उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे विलाप करने लगे ॥ ८ ॥

नामोंकी एकता की गयी है । थोड़े-से नाम ऐसे भी हैं, जिनका मेल नहीं मिलता । नामोंके क्रममें भी दोनों स्थलोंमें अन्तर है । सम्भव है, उनके दो-दो नाम रहे हों और दोनों स्थलोंमें भिन्न-भिन्न नामोंका उल्लेख हो ।



मृग उवाच

काममन्युपरीता हि बुद्ध्या विरहिता अपि।
वर्जयन्ति नृशंसानि पापेष्वपि रता नराः ॥ ९ ॥
न विधिं ग्रसते प्रज्ञा प्रज्ञां तु ग्रसते विधिः।
विधिपर्यागतानर्थान् प्राज्ञो न प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

मृगने कहा—राजन्! जो मनुष्य काम और क्रोधसे घिरे हुए, बुद्धिशून्य तथा पापोंमें संलग्न रहनेवाले हैं, वे भी ऐसे क्रूरतापूर्ण कर्मको त्याग देते हैं। बुद्धि प्रारब्धको नहीं ग्रसती (नहीं लाँघ सकती); प्रारब्ध ही बुद्धिको अपना ग्रास बना लेता है (भ्रष्ट कर देता है)। प्रारब्धसे प्राप्त होनेवाले पदार्थोंको बुद्धिमान् पुरुष भी नहीं जान पाता ॥ ९-१० ॥

शश्वद्धर्मात्मनां मुख्ये कुले जातस्य भारत।
कामलोभाभिभूतस्य कथं ते चलिता मतिः ॥ ११ ॥

भारत! सदा धर्ममें मन लगानेवाले क्षत्रियोंके प्रधान कुलमें तुम्हारा जन्म हुआ है, तो भी काम और लोभके वशीभूत होकर तुम्हारी बुद्धि धर्मसे कैसे विचलित हुई? ॥ ११ ॥

पाण्डुरुवाच

शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥ १२ ॥

पाण्डु बोले—शत्रुओंके वधमें राजाओंकी जैसी वृत्ति बतायी गयी है, वैसी ही मृगोंके वधमें भी मानी गयी है; अतः मृग! तुम्हें मोहवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥

अच्छद्मना मायया च मृगाणां वध इष्यते।
स एव धर्मो राज्ञां तु तद्धि त्वं किं नु गर्हसे ॥ १३ ॥

प्रकट या अप्रकट रूपसे मृगोंका वध हमारे लिये अभीष्ट है। वह राजाओंके लिये धर्म है, फिर तुम उसकी निन्दा कैसे करते हो? ॥ १३ ॥

अगस्त्यः सत्रमासीनश्चकार मृगयामृषिः।
आरण्यान् सर्वदेवेभ्यो मृगान् प्रेषन् महावने ॥ १४ ॥
प्रमाणदृष्टधर्मेण कथमस्मान् विगर्हसे।
अगस्त्यस्याभिचारेण युष्माकं विहितो वधः ॥ १५ ॥

महर्षि अगस्त्य एक सत्रमें दीक्षित थे, तब उन्होंने भी मृगया की थी। सभी देवताओंके हितके लिये उन्होंने सत्रमें विघ्न करनेवाले पशुओंको महान् वनमें खदेड़ दिया था। अगस्त्य ऋषिके उक्त हिंसाकर्मके अनुसार (मुझ क्षत्रियके लिये तो) तुम्हारा वध करना ही उचित है। मैं प्रमाणसिद्ध धर्मके अनुकूल बर्ताव करता हूँ, तो भी तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो? ॥ १४-१५ ॥

मृग उवाच

न रिपून् वै समुद्दिश्य विमुञ्चन्ति नराः शरान्।
रन्ध्र एषां विशेषेण वधः काले प्रशस्यते ॥ १६ ॥

मृगने कहा—मनुष्य अपने शत्रुओंपर भी, विशेषतः जब वे संकटकालमें हों, बाण नहीं छोड़ते। उपयुक्त अवसर (संग्राम आदि) में ही शत्रुओंके वधकी प्रशंसा की जाती है ॥

पाण्डुरुवाच

प्रमत्तमप्रमत्तं वा विवृतं घ्नन्ति चौजसा।
उपायैर्विविधैस्तीक्ष्णैः कस्मान्मृग विगर्हसे ॥ १७ ॥

पाण्डु बोले—मृग! राजालोग नाना प्रकारके तीक्ष्ण उपायोंद्वारा बलपूर्वक खुले-आम मृगका वध करते हैं; चाहे वह सावधान हो या असावधान। फिर तुम मेरी निन्दा क्यों करते हो? ॥ १७ ॥

मृग उवाच

नाहं घ्नन्तं मृगान् राजन् विगर्हे चात्मकारणात्।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्यानृशंस्यतः ॥ १८ ॥

मृगने कहा—राजन्! मैं अपने मारे जानेके कारण इस बातके लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता कि तुम मृगोंको मारते हो। मुझे तो इतना ही कहना है कि तुम्हें दयाभावका आश्रय लेकर मेरे मैथुनकर्मसे निवृत्त होनेतक प्रतीक्षा करनी चाहिये थी ॥ १८ ॥

सर्वभूतहिते काले सर्वभूतेप्सिते तथा।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरन्तं मैथुनं वने ॥ १९ ॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके लिये हितकर और अभीष्ट है, उस समय वनके भीतर मैथुन करनेवाले किसी मृगको कौन विवेकशील पुरुष मार सकता है? ॥ १९ ॥

अस्यां मृग्यां च राजेन्द्र हर्षान्मैथुनमाचरम्।
पुरुषार्थफलं कर्तुं तत् त्वया विफलीकृतम् ॥ २० ॥

राजेन्द्र! मैं बड़े हर्ष और उल्लासके साथ अपने कामरूपी पुरुषार्थको सफल करनेके लिये इस मृगीके साथ मैथुन कर रहा था; किंतु तुमने उसे निष्फल कर दिया ॥ २० ॥

पौरवाणां महाराज तेषामक्लिष्टकर्मणाम्।
वंशे जातस्य कौरव्य नानुरूपमिदं तव ॥ २१ ॥

महाराज! क्लेशरहित कर्म करनेवाले कुरुवंशियोंके कुलमें जन्म लेकर तुमने जो यह कार्य किया है, यह तुम्हारे अनुरूप नहीं है ॥ २१ ॥

नृशंसं कर्म सुमहत् सर्वलोकविगर्हितम्।
अस्वर्ग्यमयशस्यं चाप्यधर्मिष्ठं च भारत ॥ २२ ॥

भारत! अत्यन्त कठोरतापूर्ण कर्म सम्पूर्ण लोकोंमें निन्दित है। वह स्वर्ग और यशको हानि पहुँचानेवाला है। इसके सिवा वह महान् पापकृत्य है ॥ २२ ॥

स्त्रीभोगानां विशेषज्ञः शास्त्रधर्मार्थतत्त्ववित्।
नार्हस्त्वं सुरसंकाश कर्तुमस्वर्ग्यमीदृशम् ॥ २३ ॥

देवतुल्य महाराज! तुम स्त्री-भोगोंके विशेषज्ञ तथा शास्त्रीय धर्म एवं अर्थके तत्त्वको जाननेवाले हो। तुम्हें ऐसा नरकप्रद पापकार्य नहीं करना चाहिये था ॥ २३ ॥

त्वया नृशंसकर्तारः पापाचाराश्च मानवाः।
निग्राह्याः पार्थिवश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिवर्जिताः ॥ २४ ॥

नृपशिरोमणे! तुम्हारा कर्तव्य तो यह है कि धर्म, अर्थ और कामसे हीन जो पापाचारी मनुष्य कठोरतापूर्ण कर्म करनेवाले हों, उन्हें दण्ड दो ॥ २४ ॥

किं कृतं ते नरश्रेष्ठ मामिहानागसं घ्नता।
मुनिं मूलफलाहारं मृगवेषधरं नृप ॥ २५ ॥
वसमानमरण्येषु नित्यं शमपरायणम्।
त्वयाहं हिंसितो यस्मात् तस्मात् त्वामप्यहं शपे ॥ २६ ॥

नरश्रेष्ठ! मैं तो फल-मूलका आहार करनेवाला एक मुनि हूँ और मृगका रूप धारण करके शम-दमके पालनमें तत्पर हो सदा जंगलोंमें ही निवास करता हूँ। मुझ निरपराधको मारकर यहाँ तुमने क्या लाभ उठाया? तुमने मेरी हत्या की है, इसलिये बदलेमें मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ ॥ २५-२६ ॥

द्वयोर्नृशंसकर्तारमवशं काममोहितम्।
जीवितान्तकरो भाव एवमेवागमिष्यति ॥ २७ ॥

तुमने मैथुन-धर्ममें आसक्त दो स्त्री-पुरुषोंका निष्ठुरतापूर्वक वध किया है। तुम अजितेन्द्रिय एवं कामसे मोहित हो; अतः इसी प्रकार मैथुनमें आसक्त होनेपर जीवनका अन्त करनेवाली मृत्यु निश्चय ही तुमपर आक्रमण करेगी ॥ २७ ॥

अहं हि किंदमो नाम तपसा भावितो मुनिः।
व्यपत्रपन्मनुष्याणां मृग्यां मैथुनमाचरम् ॥ २८ ॥
मृगो भूत्वा मृगैः सार्धं चरामि गहने वने।
न तु ते ब्रह्महत्येयं भविष्यत्यविजानतः ॥ २९ ॥

मेरा नाम किंदम है। मैं तपस्यामें संलग्न रहनेवाला मुनि हूँ, अतः मनुष्योंमें—मानव-शरीरसे यह काम करनेमें मुझे लज्जाका अनुभव हो रहा था। इसीलिये मृग बनकर अपनी मृगीके साथ मैथुन कर रहा था। मैं प्रायः इसी रूपमें मृगोंके साथ घने वनमें विचरता रहता हूँ। तुम्हें मुझे मारनेसे ब्रह्महत्या तो नहीं लगेगी; क्योंकि तुम यह बात नहीं जानते थे (कि यह मुनि है) ॥ २८-२९ ॥

मृगरूपधरं हत्वा मामेवं काममोहितम्।
अस्य तु त्वं फलं मूढ प्राप्स्यसीदृशमेव हि ॥ ३० ॥

परंतु जब मैं मृगरूप धारण करके कामसे मोहित था, उस अवस्थामें तुमने अत्यन्त क्रूरताके साथ मुझे मारा है; अतः मूढ़! तुम्हें अपने इस कर्मका ऐसा ही फल अवश्य मिलेगा ॥ ३० ॥

प्रियया सह संवासं प्राप्य कामविमोहितः।
त्वमप्यस्यामवस्थायां प्रेतलोकं गमिष्यसि ॥ ३१ ॥

तुम भी जब कामसे सर्वथा मोहित होकर अपनी प्यारी पत्नीके साथ समागम करने लगोगे, तब इस—मेरी अवस्थामें ही यमलोक सिधारोगे ॥ ३१ ॥

अन्तकाले हि संवासं यया गन्तासि कान्तया।
प्रेतराजपुरं प्राप्तं सर्वभूतदुरत्ययम्।
भक्त्या मतिमतां श्रेष्ठ सैव त्वानुगमिष्यति ॥ ३२ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! अन्तकाल आनेपर तुम जिस प्यारी पत्नीके साथ समागम करोगे, वही समस्त प्राणियोंके लिये दुर्गम यमलोकमें जानेपर भक्तिभावसे तुम्हारा अनुसरण करेगी ॥ ३२ ॥

वर्तमानः सुखे दुःखं यथाहं प्रापितस्त्वया।
तथा त्वां च सुखं प्राप्तं दुःखमभ्यागमिष्यति ॥ ३३ ॥

मैं सुखमें मग्न था, तथापि तुमने जिस प्रकार मुझे दुःखमें डाल दिया, उसी प्रकार तुम भी जब प्रेयसी पत्नीके संयोग-सुखका अनुभव करोगे, उसी समय तुम्हारे ऊपर दुःख टूट पड़ेगा ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो जीवितात् स व्यमुच्यत।
मृगः पाण्डुश्च दुःखार्तः क्षणेन समपद्यत ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर वे मृगरूपधारी मुनि अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उनका देहान्त हो गया तथा राजा पाण्डु भी क्षणभरमें दुःखसे आतुर हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुमृगशापे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुको मृगका शाप नामक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका अनुताप, संन्यास लेनेका निश्चय तथा पत्नियोंके अनुरोधसे वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

तं व्यतीतमतिक्रम्य राजा स्वमिव बान्धवम् ।
सभार्यः शोकदुःखार्तः पर्यदेवयदातुरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन मृगरूपधारी मुनिको मरा हुआ छोड़कर राजा पाण्डु जब आगे बढ़े, तब पत्नीसहित शोक और दुःखसे आतुर हो अपने सगे भाई-बन्धुकी भाँति उनके लिये विलाप करने लगे तथा अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे ॥ १ ॥

पाण्डुरुवाच

सतामपि कुले जाताः कर्मणा बत दुर्गतिम् ।
प्राप्नुवन्त्यकृतात्मानः कामजालविमोहिताः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—खेदकी बात है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्य भी अपने अन्तःकरणपर वश न होनेके कारण कामके फंदेमें फँसकर विवेक खो बैठते हैं और अनुचित कर्म करके उसके द्वारा भारी दुर्गतिमें पड़ जाते हैं ॥ २ ॥

शश्वद्धर्मात्मना जातो बाल एव पिता मम ।
जीवितान्तमनुप्राप्तः कामात्मैवेति नः श्रुतम् ॥ ३ ॥

हमने सुना है, सदा धर्ममें मन लगाये रहनेवाले महाराज शन्तनुसे जिनका जन्म हुआ था, वे मेरे पिता विचित्रवीर्य भी कामभोगमें आसक्तचित्त होनेके कारण ही छोटी अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त हुए थे ॥ ३ ॥

तस्य कामात्मनः क्षेत्रे राज्ञः संयतवागृषिः ।
कृष्णद्वैपायनः साक्षाद् भगवान् मामजीजनत् ॥ ४ ॥

उन्हीं कामासक्त नरेशकी पत्नीसे वाणीपर संयम रखनेवाले ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनने मुझे उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

तस्याद्य व्यसने बुद्धिः संजातेयं ममाधमा ।
त्यक्तस्य देवैरनयान्मृगयां परिधावतः ॥ ५ ॥

मैं शिकारके पीछे दौड़ता रहता हूँ; मेरी इसी अनीतिके कारण जान पड़ता है देवताओंने मुझे त्याग दिया है । इसीलिये तो ऐसे विशुद्ध वंशमें उत्पन्न होनेपर भी आज व्यसनमें फँसकर मेरी यह बुद्धि इतनी नीच हो गयी ॥ ५ ॥

मोक्षमेव व्यवस्यामि बन्धो हि व्यसनं महत् ।
सुवृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ६ ॥

अतः अब मैं इस निश्चयपर पहुँच रहा हूँ कि मोक्षके मार्गपर चलनेसे ही अपना कल्याण है । स्त्री-पुत्र आदिका बन्धन ही सबसे महान् दुःख है । आजसे मैं अपने पिता वेदव्यासजीकी उस उत्तम वृत्तिका आश्रय लूँगा, जिससे पुण्यका कभी नाश नहीं होता ॥ ६ ॥

अतीव तपसाऽऽत्मानं योजयिष्याम्यसंशयम् ।
तस्मादेकोऽहमेकाकी एकैकस्मिन् वनस्पतौ ॥ ७ ॥
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डश्चरिष्याम्याश्रमानिमान् ।
पांसुना समवच्छन्नः शून्यागारकृतालयः ॥ ८ ॥

मैं अपने शरीर और मनको निःसंदेह अत्यन्त कठोर तपस्यामें लगाऊँगा । इसलिये अब अकेला (स्त्रीरहित) और एकाकी (सेवक आदिसे भी अलग) रहकर एक-एक वृक्षके नीचे फलकी भिक्षा माँगूँगा । सिर मुँड़ाकर मौनी संन्यासी हो इन वानप्रस्थियोंके आश्रमोंमें विचरूँगा । उस समय मेरा शरीर धूलसे भरा होगा और निर्जन एकान्त स्थानमें मेरा निवास होगा ॥ ७-८ ॥

वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ।
न शोचन् न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ ९ ॥

अथवा वृक्षोंका तल ही मेरा निवासगृह होगा । मैं प्रिय एवं अप्रिय सब प्रकारकी वस्तुओंको त्याग दूँगा । न मुझे किसीके वियोगका शोक होगा और न किसीकी प्राप्ति या संयोगसे हर्ष ही होगा । निन्दा और स्तुति दोनों मेरे लिये समान होंगी ॥ ९ ॥

निराशीर्निर्नमस्कारो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ।
न चाप्यवहसन् कंचिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीं क्वचित् ॥ १० ॥

न मुझे आशीर्वादकी इच्छा होगी न नमस्कारकी । मैं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे रहित और संग्रह-परिग्रहसे दूर रहूँगा । न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न क्रोधसे किसीपर भौंहें टेढ़ी करूँगा ॥ १० ॥

प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वभूतहिते रतः ।
जङ्गमाजङ्गमं सर्वमविहिंसंश्चतुर्विधम् ॥ ११ ॥

मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी तथा सदा सब भूतोंके हित-साधनमें मैं संलग्न रहूँगा । (स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज, जरायुज—) चार प्रकारके जो चराचर प्राणी हैं, उनमेंसे किसीकी भी मैं हिंसा नहीं करूँगा ॥ ११ ॥

स्वासु प्रजास्विव सदा समः प्राणभृतां प्रति ।
एककालं चरन् भैक्ष्यं कुलानि दश पञ्च वा ॥ १२ ॥

जैसे पिता अपनी अनेक संतानोंमें सर्वदा समभाव रखता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियोंके प्रति मेरा सदा समान भाव होगा । (पहले कहे अनुसार) मैं केवल एक समय वृक्षोंसे भिक्षा माँगूँगा अथवा यह सम्भव न हुआ तो दस-पाँच घरोंमें घूमकर (थोड़ी-थोड़ी) भिक्षा ले लूँगा ॥ १२ ॥

असम्भवे वा भैक्ष्यस्य चरन्ननशनान्यपि।
अल्पमल्पं च भुञ्जानः पूर्वालाभे न जातुचित्॥ १३॥
अन्यान्यपि चरँल्लोभादलाभे सप्त पूरयन्।
अलाभे यदि वा लाभे समदर्शी महातपाः॥ १४॥

अथवा यदि भिक्षा मिलनी असम्भव हो जाय, तो कई दिनतक उपवास ही करता चलूँगा। (भिक्षा मिल जानेपर भी) भोजन थोड़ा-थोड़ा ही करूँगा। ऊपर बताये हुए एक प्रकारसे भिक्षा न मिलनेपर ही दूसरे प्रकारका आश्रय लूँगा। ऐसा तो कभी न होगा कि लोभवश दूसरे-दूसरे बहुत-से घरोंमें जाकर भिक्षा लूँ। यदि कहीं कुछ न मिला तो भिक्षाकी पूर्तिके लिये सात घरोंपर फेरी लगा लूँगा। यदि मिला तो और न मिला तो, दोनों ही दशाओंमें समान दृष्टि रखते हुए भारी तपस्यामें लगा रहूँगा॥ १३-१४॥

वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः॥ १५॥
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्।
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन् न च द्विषन्॥ १६॥

एक आदमी वसूलेसे मेरी एक बाँह काटता हो और दूसरा मेरी दूसरी बाँहपर चन्दन छिड़कता हो तो उन दोनोंमेंसे एकके अकल्याणका और दूसरेके कल्याणका चिन्तन नहीं करूँगा। जीने अथवा मरनेकी इच्छावाले मनुष्य जैसी चेष्टाएँ करते हैं, वैसी कोई चेष्टा मैं नहीं करूँगा। न जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष॥ १५-१६॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः।
ताः सर्वाः समतिक्रम्य निमेषादिव्यवस्थिताः॥ १७॥
तासु चाप्यनवस्थासु त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः।
सम्परित्यक्तधर्मार्थः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः॥ १८॥

जीवित पुरुषोंद्वारा अपने अभ्युदयके लिये जो-जो कर्म किये जा सकते हैं, उन समस्त सकाम कर्मोंको मैं त्याग दूँगा; क्योंकि वे सब कालसे सीमित हैं। अनित्य फल देनेवाली क्रियाओंके लिये जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंद्वारा चेष्टा की जाती है, उस चेष्टाको भी मैं सर्वथा त्याग दूँगा; धर्मके फलको भी छोड़ दूँगा। अपने अन्तःकरणके मलको सर्वथा धोकर शुद्ध हो जाऊँगा॥ १७-१८॥

निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः।
न वशे कस्यचित् तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः॥ १९॥

मैं सब पापोंसे सर्वथा मुक्त हो अविद्याजनित समस्त बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके वशमें न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा॥ १९॥

एतया सततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः॥ २०॥

सदा इस प्रकारकी धृति (धारणा) द्वारा उक्त रूपसे व्यवहार करता हुआ भयरहित मोक्षमार्गमें स्थित होकर इस देहका विसर्जन करूँगा॥ २०॥

नाहं सुकृपणे मार्गे स्ववीर्यक्षयशोचिते।
स्वधर्मात् सततापेते चरेयं वीर्यवर्जितः॥ २१॥

मैं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो गया हूँ। मेरा गृहस्थाश्रम संतानोत्पादन आदि धर्मसे सर्वथा शून्य है और मेरे लिये अपने वीर्यक्षयके कारण सर्वथा शोचनीय हो रहा है; अतः इस अत्यन्त दीनतापूर्ण मार्गपर अब मैं नहीं चल सकता॥ २१॥

सत्कृतोऽसत्कृतो वापि योऽन्यं कृपणचक्षुषा।
उपैति वृत्तिं कामात्मा स शुनां वर्तते पथि॥ २२॥

जो सत्कार या तिरस्कार पाकर दीनतापूर्ण दृष्टिसे देखता हुआ किसी दूसरे पुरुषके पास जीविकाकी आशासे जाता है, वह कामात्मा मनुष्य तो कुत्तोंके मार्गपर चलता है॥ २२॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निःश्वासपरमो नृपः।
अवेक्षमाणः कुन्तीं च माद्रीं स समभाषत॥ २३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यों कहकर राजा पाण्डु अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस खींचते और कुन्ती-माद्रीकी ओर देखते हुए उन दोनोंसे इस प्रकार बोले—॥ २३॥

कौसल्या विदुरः क्षत्ता राजा च सह बन्धुभिः।
आर्या सत्यवती भीष्मस्ते च राजपुरोहिताः॥ २४॥
ब्राह्मणाश्च महात्मानः सोमपाः संशितव्रताः।
पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रयाः।
प्रसाद्य सर्वे वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम्॥ २५॥

'(देवियो! तुम दोनों हस्तिनापुरको लौट जाओ और) माता अम्बिका, अम्बालिका, भाई विदुर, संजय, बन्धुओंसहित राजा धृतराष्ट्र, दादी सत्यवती, चाचा भीष्मजी, राजपुरोहितगण, कठोरव्रतका पालन तथा सोमपान करनेवाले महात्मा ब्राह्मण तथा वृद्ध पुरवासीजन आदि जो लोग वहाँ हमलोगोंके आश्रित होकर निवास करते हैं, उन सबको प्रसन्न करके कहना, 'राजा पाण्डु संन्यासी होकर वनमें चले गये'॥ २४-२५॥

निशम्य वचनं भर्तुर्वनवासे धृतात्मनः।
तत्समं वचनं कुन्ती माद्री च समभाषताम्॥ २६॥

वनवासके लिये दृढ़ निश्चय करनेवाले पतिदेवका यह वचन सुनकर कुन्ती और माद्रीने उनके योग्य बात कही—॥ २६॥



अन्येऽपि ह्याश्रमाः सन्ति ये शक्या भरतर्षभ ।
आवाभ्यां धर्मपत्नीभ्यां सह तप्तुं तपो महत् ॥ २७ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! संन्यासके सिवा और भी तो आश्रम हैं, जिनमें आप हम धर्मपत्नियोंके साथ रहकर भारी तपस्या कर सकते हैं ॥ २७ ॥

शरीरस्यापि मोक्षाय स्वर्ग्यं प्राप्य महाफलम् ।
त्वमेव भविता भर्ता स्वर्गस्यापि न संशयः ॥ २८ ॥

'आपकी वह तपस्या स्वर्गदायक महान् फलकी प्राप्ति कराकर इस शरीरसे भी मुक्ति दिलानेमें समर्थ हो सकती है। इसमें संदेह नहीं कि उस तपके प्रभावसे आप ही स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र भी हो सकते हैं ॥ २८ ॥

प्रणिधायेन्द्रियग्रामं भर्तृलोकपरायणे ।
त्यक्तकामसुखे ह्यावां तप्स्यावो विपुलं तपः ॥ २९ ॥

'हम दोनों कामसुखका परित्याग करके पतिलोककी प्राप्तिका ही परम लक्ष्य लेकर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखती हुई भारी तपस्या करेंगी ॥ २९ ॥

यदि चावां महाप्राज्ञ त्यक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
अद्यैवावां प्रहास्यावो जीवितं नात्र संशयः ॥ ३० ॥

'महाप्राज्ञ नरेश्वर ! यदि आप हम दोनोंको त्याग देंगे तो आज ही हम अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३० ॥

पाण्डुरुवाच

यदि व्यवसितं ह्येतद् युवयोर्धर्मसंहितम् ।
स्ववृत्तिमनुवर्तिष्ये तामहं पितुरव्ययाम् ॥ ३१ ॥

पाण्डुने कहा—देवियो ! यदि तुम दोनोंका यही धर्मयुक्त निश्चय है तो (ठीक है, मैं संन्यास न लेकर वानप्रस्थाश्रममें ही रहूँगा तथा) आजसे अपने पिता वेदव्यासजीकी अक्षय फलवाली जीवनचर्याका अनुसरण करूँगा ॥ ३१ ॥

त्यक्त्वा ग्राम्यसुखाहारं तप्यमानो महत् तपः ।
वल्कली फलमूलाशी चरिष्यामि महावने ॥ ३२ ॥

भोगियोंके सुख और आहारका परित्याग करके भारी तपस्यामें लग जाऊँगा । वल्कल पहनकर फल-मूलका भोजन करते हुए महान् वनमें विचरूँगा ॥ ३२ ॥

अग्नौ जुह्वन्नुभौ कालावुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चीरचर्मजटाधरः ॥ ३३ ॥

दोनों समय स्नान-संध्या और अग्निहोत्र करूँगा। चिथड़े, मृगचर्म और जटा धारण करूँगा । बहुत थोड़ा आहार ग्रहण करके शरीरसे दुर्बल हो जाऊँगा ॥ ३३ ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासानवेक्षकः ।
तपसा दुश्चरेणेदं शरीरमुपशोषयन् ॥ ३४ ॥
एकान्तशीली विमृशन् पक्कापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ ३५ ॥

सर्दी, गरमी और आँधीका वेग सहूँगा । भूख-प्यासकी परवा नहीं करूँगा तथा दुष्कर तपस्या करके इस शरीरको सुखा डालूँगा । एकान्तमें रहकर आत्मचिन्तन करूँगा । कच्चे (कन्द-मूल आदि) और पक्के (फल आदि) से जीवन-निर्वाह करूँगा । देवताओं और पितरोंको जंगली फल-मूल, जल तथा मन्त्रपाठद्वारा तृप्त करूँगा ॥ ३४-३५ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ३६ ॥

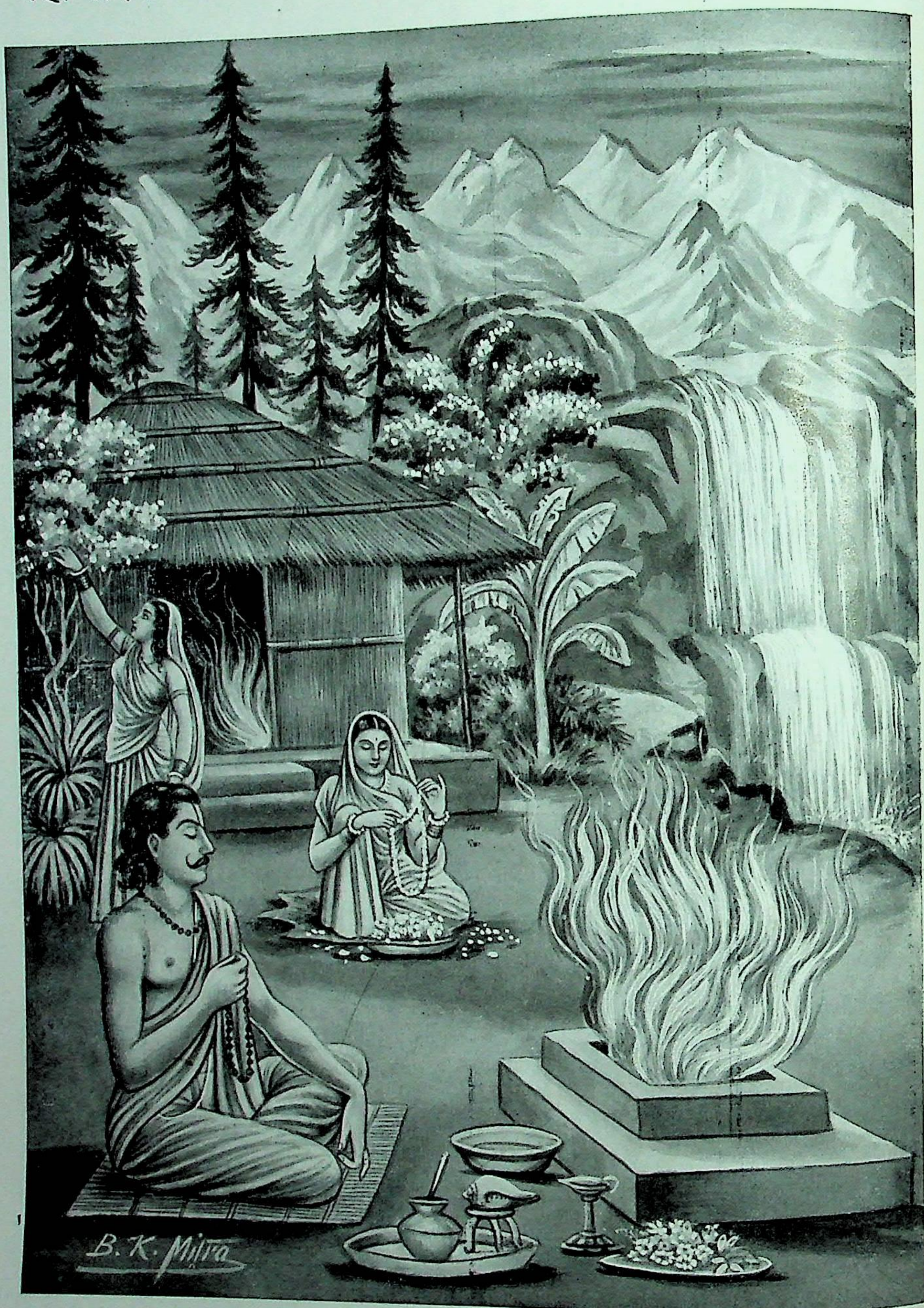
मैं वानप्रस्थ आश्रममें रहनेवालोंका तथा कुटुम्बीजनोंका भी दर्शन और अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ३६ ॥

एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
काङ्क्षमाणोऽहमास्स्ये देहस्यास्या समापनात् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार मैं वानप्रस्थ-आश्रमसम्बन्धी शास्त्रोंकी कठोर-से-कठोर विधियोंके पालनकी आकाङ्क्षा करता हुआ तबतक वानप्रस्थ-आश्रममें स्थित रहूँगा जबतक कि शरीरका अन्त न हो जाय ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा भार्ये ते राजा कौरवनन्दनः ।
ततश्चूडामणिं निष्कमङ्गदे कुण्डलानि च ॥ ३८ ॥
वासांसि च महार्हाणि स्त्रीणामाभरणानि च ।
प्रदाय सर्वं विप्रेभ्यः पाण्डुः पुनरभाषत ॥ ३९ ॥



शतशृङ्ग पर्वतपर पाण्डुका तप

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले राजा पाण्डुने अपनी दोनों पत्नियोंसे यों कहकर अपने सिरपेंच, निष्क (वक्षःस्थलके आभूषण), बाजूबंद, कुण्डल और बहुमूल्य वस्त्र तथा माद्री और कुन्तीके भी शरीरके गहने उतारकर सब ब्राह्मणोंको दे दिये। फिर सेवकोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३९ ॥

गत्वा नागपुरं वाच्यं पाण्डुः प्रव्रजितो वनम्।
अर्थं कामं सुखं चैव रतिं च परमात्मिकाम् ॥ ४० ॥
प्रतस्थे सर्वमुत्सृज्य सभार्यः कुरुनन्दनः।

'तुमलोग हस्तिनापुरमें जाकर कह देना कि कुरुनन्दन राजा पाण्डु अर्थ, काम, विषयसुख और स्त्रीविषयक रति आदि सब कुछ छोड़कर अपनी पत्नियोंके साथ वानप्रस्थ हो गये हैं' ॥ ४०½ ॥

ततस्तस्यानुयातारस्ते चैव परिचारकाः ॥ ४१ ॥
श्रुत्वा भरतसिंहस्य विविधाः करुणा गिरः।
भीममार्तस्वरं कृत्वा हाहेति परिचुक्रुशुः ॥ ४२ ॥

भरतसिंह पाण्डुकी यह करुणायुक्त चित्र-विचित्र वाणी सुनकर उनके अनुचर और सेवक सभी हाय-हाय करके भयंकर आर्तनाद करने लगे ॥ ४१-४२ ॥

उष्णमश्रु विमुञ्चन्तस्तं विहाय महीपतिम्।
ययुर्नागपुरं तूर्णं सर्वमादाय तद् धनम् ॥ ४३ ॥

उस समय नेत्रोंसे गरम-गरम आँसुओंकी धारा बहाते हुए वे सेवक राजा पाण्डुको छोड़कर और बचा हुआ सारा धन लेकर तुरंत हस्तिनापुरको चले गये ॥ ४३ ॥

ते गत्वा नगरं राज्ञो यथावृत्तं महात्मनः।
कथयांचक्रिरे राज्ञस्तद् धनं विविधं ददुः ॥ ४४ ॥

उन्होंने हस्तिनापुरमें जाकर महात्मा राजा पाण्डुका सारा समाचार राजा धृतराष्ट्रसे ज्यों-का-त्यों कह सुनाया और वह नाना प्रकारका धन धृतराष्ट्रको ही सौंप दिया ॥ ४४ ॥

श्रुत्वा तेभ्यस्ततः सर्वं यथावृत्तं महावने।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठः पाण्डुमेवान्वशोचत ॥ ४५ ॥

फिर उन सेवकोंसे उस महान् वनमें पाण्डुके साथ घटित हुई सारी घटनाओंको यथावत् सुनकर नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र सदा पाण्डुकी ही चिन्तामें दुखी रहने लगे ॥ ४५ ॥

न शय्यासनभोगेषु रतिं विन्दति कर्हिचित्।
भ्रातृशोकसमाविष्टस्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥ ४६ ॥

शय्या, आसन और नाना प्रकारके भोगोंमें कभी उनकी रुचि नहीं होती थी। वे भाईके शोकमें मग्न हो सदा उन्हींकी बात सोचते रहते थे ॥ ४६ ॥

राजपुत्रस्तु कौरव्य पाण्डुर्मूलफलाशनः।
जगाम सह पत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ॥ ४७ ॥

जनमेजय ! राजकुमार पाण्डु फल-मूलका आहार करते हुए अपनी दोनों पत्नियोंके साथ वहाँसे नागशत नामक पर्वतपर चले गये ॥ ४७ ॥

स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् चैत्ररथ नामक वनमें जाकर कालकूट और हिमालय पर्वतको लाँघते हुए वे गन्धमादनपर चले गये ॥ ४८ ॥

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ॥ ४९ ॥
इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च।
शतशृङ्गे महाराज तापसः समतप्यत ॥ ५० ॥

महाराज! उस समय महाभूत, सिद्ध और महर्षिगण उनकी रक्षा करते थे। वे ऊँची-नीची जमीनपर सो लेते थे। इन्द्रद्युम्न सरोवरपर पहुँचकर तथा उसके बाद हंसकूटको लाँघते हुए वे शतशृङ्ग पर्वतपर जा पहुँचे। जनमेजय! वहाँ वे तपस्वी-जीवन बिताते हुए भारी तपस्यामें संलग्न हो गये ॥ ४९-५० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुचरितेऽष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुचरितविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको पुत्र-प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

तत्रापि तपसि श्रेष्ठे वर्तमानः स वीर्यवान्।
सिद्धचारणसङ्घानां बभूव प्रियदर्शनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ भी श्रेष्ठ तपस्यामें लगे हुए पराक्रमी राजा पाण्डु सिद्ध और चारणोंके समुदायको अत्यन्त प्रिय लगने लगे—इन्हें देखते ही वे प्रसन्न हो जाते थे ॥ १ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी संयतात्मा जितेन्द्रियः।
स्वर्गं गन्तुं पराक्रान्तः स्वेन वीर्येण भारत ॥ २ ॥

भारत ! वे ऋषि-मुनियोंकी सेवा करते, अहंकारसे दूर रहते और मनको वशमें रखते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियों-को जीत लिया था। वे अपनी ही शक्तिसे स्वर्गलोकमें जानेके लिये सदा सचेष्ट रहने लगे ॥ २ ॥

केषांचिदभवद् भ्राता केषांचिदभवत् सखा ।
ऋषयस्त्वपरे चैनं पुत्रवत् पर्यपालयन् ॥ ३ ॥

कितने ही ऋषियोंका उनपर भाईके समान प्रेम था। कितनोंके वे मित्र हो गये थे और दूसरे बहुत-से महर्षि उन्हें अपने पुत्रके समान मानकर सदा उनकी रक्षा करते थे॥ ३॥

स तु कालेन महता प्राप्य निष्कल्मषं तपः ।
ब्रह्मर्षिसदृशः पाण्डुर्बभूव भरतर्षभ ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा पाण्डु दीर्घकालतक पापरहित तपस्याका अनुष्ठान करके ब्रह्मर्षियोंके समान प्रभावशाली हो गये थे॥ ४॥

अमावास्यां तु सहिता ऋषयः संशितव्रताः ।
ब्रह्माणं द्रष्टुकामास्ते सम्प्रतस्थुर्महर्षयः ॥ ५ ॥

एक दिन अमावास्या तिथिको कठोर व्रतका पालन करनेवाले बहुत-से ऋषि-महर्षि एकत्र हो ब्रह्माजीके दर्शनकी इच्छासे ब्रह्मलोकके लिये प्रस्थित हुए॥ ५॥

सम्प्रयातानृषीन् दृष्ट्वा पाण्डुर्वचनमब्रवीत् ।
भवन्तः क्व गमिष्यन्ति ब्रूत मे वदतां वराः ॥ ६ ॥

ऋषियोंको प्रस्थान करते देख पाण्डुने उनसे पूछा—'वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वरो! आपलोग कहाँ जायँगे ? यह मुझे बताइये'॥

ऋषय ऊचुः

समवायो महानद्य ब्रह्मलोके महात्मनाम् ।
देवानां च ऋषीणां च पितॄणां च महात्मनाम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो द्रष्टुकामाः स्वयम्भुवम् ॥ ७ ॥

ऋषि बोले—राजन् ! आज ब्रह्मलोकमें महात्मा देवताओं, ऋषि-मुनियों तथा महामना पितरोंका बहुत बड़ा समूह एकत्र होनेवाला है। अतः हम वहीं स्वयम्भू ब्रह्माजीका दर्शन करनेके लिये जायँगे॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डुरुत्थाय सहसा गन्तुकामो महर्षिभिः ।
स्वर्गपारं तितीर्षुः स शतशृङ्गादुदङ्मुखः ॥ ८ ॥
प्रतस्थे सह पत्नीभ्यामब्रुवंस्तं च तापसाः ।
उपर्युपरि गच्छन्तः शैलराजमुदङ्मुखाः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर महाराज पाण्डु भी महर्षियोंके साथ जानेके लिये सहसा उठ खड़े हुए। उनके मनमें स्वर्गके पार जानेकी इच्छा जाग उठी और वे उत्तरकी ओर मुँह करके अपनी दोनों पत्नियोंके साथ शतशृङ्ग पर्वतसे चल दिये। यह देख गिरिराज हिमालयके ऊपर-ऊपर उत्तराभिमुख यात्रा करनेवाले तपस्वी मुनियोंने कहा—॥

दृष्टवन्तो गिरौ रम्ये दुर्गान् देशान् बहून् वयम् ।
विमानशतसम्बाधां गीतस्वरनिनादिताम् ॥ १० ॥
आक्रीडभूमिं देवानां गन्धर्वाप्सरसां तथा ।
उद्यानानि कुबेरस्य समानि विषमाणि च ॥ ११ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! इस रमणीय पर्वतपर हमने बहुत-से ऐसे प्रदेश देखे हैं, जहाँ जाना बहुत कठिन है। वहाँ देवताओं, गन्धर्वों तथा अप्सराओंकी क्रीडाभूमि है, जहाँ सैकड़ों विमान खचाखच भरे रहते हैं और मधुर गीतोंके स्वर गूँजते रहते हैं। इसी पर्वतपर कुबेरके अनेक उद्यान हैं, जहाँकी भूमि कहीं समतल है और कहीं नीची-ऊँची॥१०-११॥

महानदीनितम्बांश्च गहनान् गिरिगह्वरान् ।
सन्ति नित्यहिमा देशा निर्वृक्षमृगपक्षिणः ॥ १२ ॥

'इस मार्गमें हमने कई बड़ी-बड़ी नदियोंके दुर्गम तट और कितनी ही पर्वतीय घाटियाँ देखी हैं। यहाँ बहुत-से ऐसे स्थल हैं, जहाँ सदा बर्फ जमी रहती है तथा जहाँ वृक्ष, पशु और पक्षियोंका नाम भी नहीं है॥ १२॥

सन्ति क्वचिन्महादर्यो दुर्गाः काश्चिद् दुरासदाः ।
नातिक्रामेत पक्षी यान् कुत एवेतरे मृगाः ॥ १३ ॥

'कहीं-कहीं बहुत बड़ी गुफाएँ हैं, जिनमें प्रवेश करना अत्यन्त कठिन है। कइयोंके तो निकट भी पहुँचना कठिन है। ऐसे स्थलोंको पक्षी भी नहीं पार कर सकता, फिर मृग आदि अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है ?॥ १३॥

वायुरेको हि यात्यत्र सिद्धाश्च परमर्षयः ।
गच्छन्त्यौ शैलराजेऽस्मिन् राजपुत्र्यौ कथं त्विमे ॥१४॥
न सीदेतामदुःखार्हे मा गमो भरतर्षभ ।

'इस मार्गपर केवल वायु चल सकती है तथा सिद्ध महर्षि भी जा सकते हैं। इस पर्वतराजपर चलती हुई ये दोनों राजकुमारियाँ कैसे कष्ट न पायेंगी ? भरतवंश-शिरोमणे ! ये दोनों रानियाँ दुःख सहन करनेके योग्य नहीं हैं; अतः आप न चलिये'॥ १४½॥

पाण्डुरुवाच

अप्रजस्य महाभागा न द्वारं परिचक्षते ॥ १५ ॥
स्वर्गे तेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तु ब्रवीमि वः ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्तस्तेन तप्ये तपोधनाः ॥ १६ ॥

पाण्डुने कहा—महाभाग महर्षिगण ! संतानहीनके लिये स्वर्गका दरवाजा बंद रहता है, ऐसा लोग कहते हैं। मैं भी संतानहीन हूँ, इसलिये दुःखसे संतप्त होकर आपलोगोंसे कुछ निवेदन करता हूँ। तपोधनो ! मैं पितरोंके ऋणसे अबतक छूट नहीं सका हूँ, इसलिये चिन्तासे संतप्त हो रहा हूँ॥

देहनाशे ध्रुवो नाशः पितॄणामेष निश्चयः ।
ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ॥ १७ ॥

निःसंतान-अवस्थामें मेरे इस शरीरका नाश होनेपर

मेरे पितरोंका पतन अवश्य हो जायगा । मनुष्य इस पृथ्वीपर चार प्रकारके ऋणोंसे युक्त होकर जन्म लेते हैं ॥ १७ ॥

पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ।
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ॥ १८ ॥
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ।
यज्ञैस्तु देवान् प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ॥ १९ ॥

(उन ऋणोंके नाम ये हैं—) पितृ-ऋण, देव-ऋण, ऋषि-ऋण और मनुष्य-ऋण । उन सबका ऋण धर्मतः हमें चुकाना चाहिये । जो मनुष्य यथासमय इन ऋणोंका ध्यान नहीं रखता, उसके लिये पुण्यलोक सुलभ नहीं होते । यह मर्यादा धर्मज्ञ पुरुषोंने स्थापित की है । यज्ञोंद्वारा मनुष्य देवताओंको तृप्त करता है, स्वाध्याय और तपस्याद्वारा मुनियोंको संतोष दिलाता है ॥ १८-१९ ॥

पुत्रैः श्राद्धैः पितॄंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ।
ऋषिदेवमनुष्याणां परिमुक्तोऽस्मि धर्मतः ॥ २० ॥
त्रयाणामितरेषां तु नाश आत्मनि नश्यति ।
पित्र्यादृणादनिर्मुक्त इदानीमस्मि तापसाः ॥ २१ ॥

पुत्रोत्पादन और श्राद्धकर्मोंद्वारा पितरोंको तथा दयापूर्ण बर्तावद्वारा वह मनुष्योंको संतुष्ट करता है । मैं धर्मकी दृष्टिसे ऋषि, देव तथा मनुष्य—इन तीनों ऋणोंसे मुक्त हो चुका हूँ । अन्य अर्थात् पितरोंके ऋणका नाश तो इस शरीरके नाश होनेपर भी शायद ही हो सके । तपस्वी मुनियो ! मैं अबतक पितृ-ऋणसे मुक्त न हो सका ॥ २०-२१ ॥

इह तस्मात् प्रजाहेतोः प्रजायन्ते नरोत्तमाः ।
यथैवाहं पितुः क्षेत्रे जातस्तेन महर्षिणा ॥ २२ ॥
तथैवास्मिन् मम क्षेत्रे कथं वै सम्भवेत् प्रजा ।

इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुष पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पत्तिका प्रयत्न करते और स्वयं ही पुत्ररूपमें जन्म लेते हैं । जैसे मैं अपने पिताके क्षेत्रमें महर्षि व्यासद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, उसी प्रकार मेरे इस क्षेत्रमें भी कैसे संतानकी उत्पत्ति हो सकती है ? ॥ २२½ ॥

ऋषय ऊचुः

अस्ति वै तव धर्मात्मन् विद्मो देवोपमं शुभम् ॥ २३ ॥
अपत्यमनघं राजन् वयं दिव्येन चक्षुषा ।
दैवोदिष्टं नरव्याघ्र कर्मणेहोपपादय ॥ २४ ॥

ऋषि बोले—धर्मात्मा नरेश ! तुम्हें पापरहित देवोपम शुभ संतान होनेका योग है, यह हम दिव्यदृष्टिसे जानते हैं । नरव्याघ्र ! भाग्यने जिसे दे रक्खा है, उस फलको प्रयत्नद्वारा प्राप्त कीजिये ॥ २३-२४ ॥

अक्लिष्टं फलमव्यग्रो विन्दते बुद्धिमान् नरः ।
तस्मिन् दृष्टे फले राजन् प्रयत्नं कर्तुमर्हसि ॥ २५ ॥
अपत्यं गुणसम्पन्नं लब्धा प्रीतिकरं ह्यसि ।

बुद्धिमान् मनुष्य व्यग्रता छोड़कर बिना क्लेशके ही अभीष्ट फलको प्राप्त कर लेता है । राजन् ! आपको उस दृष्ट फलके लिये प्रयत्न करना चाहिये । आप निश्चय ही गुणवान् और हर्षोत्पादक संतान प्राप्त करेंगे ॥ २५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तापसवचः पाण्डुश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तपस्वी मुनियोंका यह वचन सुनकर राजा पाण्डु बड़े सोच-विचारमें पड़ गये ॥ २६ ॥

आत्मनो मृगशापेन जानन्नुपहतां क्रियाम् ।
सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं धर्मपत्नीं यशस्विनीम् ।
अपत्योत्पादने यत्नमापदि त्वं समर्थय ॥ २७ ॥

वे जानते थे कि मृगरूपधारी मुनिके शापसे मेरा संतानोत्पादन-विषयक पुरुषार्थ नष्ट हो चुका है । एक दिन वे अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी कुन्तीसे एकान्तमें इस प्रकार बोले—'देवि ! यह हमारे लिये आपत्तिकाल है, इस समय संतानोत्पादनके लिये जो आवश्यक प्रयत्न हो, उसका तुम समर्थन करो ॥ २७ ॥

अपत्यं नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसंहिता ।
इति कुन्ति विदुर्धीराः शाश्वतं धर्मवादिनः ॥ २८ ॥
इष्टं दत्तं तपस्तप्तं नियमश्च स्वनुष्ठितः ।
सर्वमेवानपत्यस्य न पावनमिहोच्यते ॥ २९ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंमें संतान ही धर्ममयी प्रतिष्ठा है—कुन्ती ! सदा धर्मका प्रतिपादन करनेवाले धीर पुरुष ऐसा ही मानते हैं । संतानहीन मनुष्य इस लोकमें यज्ञ, दान, तप और नियमोंका भलीभाँति अनुष्ठान कर ले, तो भी उसके किये हुए सब कर्म पवित्र नहीं कहे जाते ॥ २८-२९ ॥

सोऽहमेवं विदित्वैतत् प्रपश्यामि शुचिस्मिते ।
अनपत्यः शुभाँल्लोकान् न प्राप्स्यामीति चिन्तयन् ॥ ३० ॥

'पवित्र मुसकानवाली कुन्तिभोजकुमारी ! इस प्रकार सोच-समझकर मैं तो यही देख रहा हूँ कि संतानहीन होनेके कारण मुझे शुभ लोकोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । मैं निरन्तर इसी चिन्तामें डूबा रहता हूँ ॥ ३० ॥

मृगाभिशापान्नष्टं मे जननं ह्यकृतात्मनः ।
नृशंसकारिणो भीरु यथैवोपहतं पुरा ॥ ३१ ॥

'मेरा मन अपने वशमें नहीं, मैं क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाला हूँ । भीरु ! इसीलिये मृगके शापसे मेरी संतानोत्पादन-शक्ति उसी प्रकार नष्ट हो गयी है, जिस प्रकार मैंने उस मृगका वध करके उसके मैथुनमें बाधा डाली थी ॥ ३१ ॥

इमे वै बन्धुदायादाः षट् पुत्रा धर्मदर्शने ।
षडेवाबन्धुदायादाः पुत्रास्ताञ्छृणु मे पृथे ॥ ३२ ॥

'पृथे ! धर्मशास्त्रमें ये आगे बताये जानेवाले छः पुत्र 'बन्धुदायाद' कहे गये हैं, जो कुटुम्बी होनेसे सम्पत्तिके उत्तराधिकारी होते हैं; और छः प्रकारके पुत्र 'अबन्धुदायाद' हैं, जो कुटुम्बी न होनेपर भी उत्तराधिकारी बताये गये हैं ।* इन सबका वर्णन मुझसे सुनो ॥ ३२ ॥

स्वयंजातः प्रणीतश्च तत्समः पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः भगिन्यां यश्च जायते ॥ ३३ ॥

'पहला पुत्र वह है, जो विवाहिता पत्नीसे अपने द्वारा उत्पन्न किया गया हो; उसे 'स्वयं-जात' कहते हैं । दूसरा प्रणीत कहलाता है, जो अपनी ही पत्नीके गर्भसे किसी उत्तम पुरुषके अनुग्रहसे उत्पन्न होता है। तीसरा जो अपनी पुत्रीका पुत्र हो, वह भी उसके ही समान माना गया है । चौथे प्रकारके पुत्रकी पौनर्भव संज्ञा है, † जो दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न हुआ हो । पाँचवें प्रकारके पुत्रकी कानीन संज्ञा है (विवाहसे पहले ही जिस कन्याको इस शर्तके साथ दिया जाता है कि इसके गर्भसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र मेरा पुत्र समझा जायगा उस कन्याके पुत्रको 'कानीन' कहते हैं) ।‡ जो बहिनका पुत्र (भानजा) है, वह छठा कहा गया है ॥ ३३ ॥

दत्तः क्रीतः कृत्रिमश्च उपगच्छेत् स्वयं च यः ।
सहोढो ज्ञातिरेताश्च हीनयोनिधृतश्च यः ॥ ३४ ॥

'अब छः प्रकारके अबन्धुदायाद पुत्र कहे जाते हैं— दत्त (जिसे माता-पिताने स्वयं समर्पित कर दिया हो), क्रीत (जिसे धन आदि देकर खरीद लिया गया हो), कृत्रिम—जो स्वयं मैं आपका पुत्र हूँ, यों कहकर समीप आया हो, सहोढ (जो कन्यावस्थामें ही गर्भवती होकर ब्याही गयी हो, उसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र सहोढ कहलाता है), ज्ञातिरेता (अपने कुलका पुत्र) तथा अपनेसे हीन जातिकी स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र। ये सभी अबन्धुदायाद हैं ॥ ३४ ॥

पूर्वपूर्वतमाभावं मत्वा लिप्सेत वै सुतम् ।
उत्तमादवराः पुंसः काङ्क्षन्ते पुत्रमापदि ॥ ३५ ॥

'इनमेंसे पूर्व-पूर्वके अभावमें ही दूसरे-दूसरे पुत्रकी अभिलाषा करे । आपत्तिकालमें नीची जातिके पुरुष श्रेष्ठ पुरुषसे भी पुत्रोत्पत्तिकी इच्छा कर सकते हैं ॥ ३५ ॥

अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

'पृथे ! अपने वीर्यके बिना भी मनुष्य किसी श्रेष्ठ पुरुषके सम्बन्धसे श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त कर लेते हैं और वह धर्मका फल देनेवाला होता है, यह बात स्वायम्भुव मनुने कही है ॥ ३६ ॥

तस्मात् प्रहेष्याम्यद्य त्वां हीनः प्रजननात् स्वयम् ।
सदृशाच्छ्रेयसो वा त्वं विद्ध्यपत्यं यशस्विनि ॥ ३७ ॥

'अतः यशस्विनी कुन्ती ! मैं स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित होनेके कारण तुम्हें आज दूसरेके पास भेजूँगा। तुम मेरे सदृश अथवा मेरी अपेक्षा भी श्रेष्ठ पुरुषसे संतान प्राप्त करो' ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुपृथासंवादे ऊनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डु-पृथा-संवादविषयक एक सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥११९॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका पाण्डुको व्युषिताश्वके मृत शरीरसे उसकी पतिव्रता पत्नी भद्राके द्वारा पुत्र-प्राप्तिका कथन

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महाराज कुन्ती पाण्डुमभाषत ।
कुरूणामृषभं वीरं तदा भूमिपतिं पतिम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! इस प्रकार कहे जानेपर कुन्ती अपने पति कुरुश्रेष्ठ वीरवर राजा पाण्डुसे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

न मामर्हसि धर्मज्ञ वक्तुमेवं कथंचन ।
धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने ॥ २ ॥

'धर्मज्ञ ! आप मुझसे किसी तरह ऐसी बात न कहें;

* बन्धु शब्दका अर्थ संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभमें आत्मबन्धु, पितृबन्धु, मातृबन्धु माना गया है, इसलिये बन्धुका अर्थ कुटुम्बी किया है । दायादका अर्थ उसी कोषमें 'उत्तराधिकारी' है । इसीलिये बन्धुदायादका अर्थ 'कुटुम्बी' होनेसे 'उत्तराधिकारी' किया है । इसके विपरीत, अबन्धुदायादका अर्थ अबन्धु यानी कुटुम्बी न होनेपर उत्तराधिकारी किया है ।

† 'पौनर्भव'का अर्थ पद्मचन्द्रकोषके अनुसार दूसरी बार ब्याही हुई स्त्रीसे उत्पन्न पुत्र लिया गया है ।

‡ कानीन—यह अर्थ नीलकण्ठजीने अपनी टीकामें किया है ।

मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ और कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले आपमें ही अनुराग रखती हूँ ॥ २ ॥

त्वमेव तु महाबाहो मय्यपत्यानि भारत ।
वीर वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि ॥ ३ ॥

'महाबाहु वीर भारत ! आप ही मेरे गर्भसे धर्मपूर्वक अनेक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करेंगे ॥ ३ ॥

स्वर्गं मनुजशार्दूल गच्छेयं सहिता त्वया ।
अपत्याय च मां गच्छ त्वमेव कुरुनन्दन ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं आपके साथ ही स्वर्गलोकमें चलूँगी । कुरुनन्दन ! पुत्रकी उत्पत्तिके लिये आप ही मेरे साथ समागम कीजिये ॥ ४ ॥

न ह्यहं मनसाप्यन्यं गच्छेयं त्वदृते नरम् ।
त्वत्तः प्रतिविशिष्टश्च कोऽन्योऽस्ति भुवि मानवः ॥ ५ ॥

'मैं आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषसे समागम करनेकी बात मनमें भी नहीं ला सकती । फिर इस पृथ्वीपर आपसे श्रेष्ठ दूसरा मनुष्य है भी कौन ॥ ५ ॥

इमां च तावद् धर्मात्मन् पौराणीं शृणु मे कथाम् ।
परिश्रुतां विशालाक्ष कीर्तयिष्यामि यामहम् ॥ ६ ॥

'धर्मात्मन् ! पहले आप मेरे मुँहसे यह पौराणिक कथा सुन लीजिये । विशालाक्ष ! यह जो कथा मैं कहने जा रही हूँ, सर्वत्र विख्यात है ॥ ६ ॥

व्युषिताश्व इति ख्यातो बभूव किल पार्थिवः ।
पुरा परमधर्मिष्ठः पूरोर्वंशविवर्धनः ॥ ७ ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें एक परम धर्मात्मा राजा हो गये हैं। उनका नाम था व्युषिताश्व । वे पूरुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे ॥

तस्मिंश्च यजमाने वै धर्मात्मनि महाभुजे ।
उपागमंस्ततो देवाः सेन्द्रा देवर्षिभिः सह ॥ ८ ॥

'एक समय वे महाबाहु धर्मात्मा नरेश जब यज्ञ करने लगे, उस समय इन्द्र आदि देवता देवर्षियोंके साथ उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ८ ॥

अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
व्युषिताश्वस्य राजर्षेस्ततो यज्ञे महात्मनः ॥ ९ ॥
देवा ब्रह्मर्षयश्चैव चक्रुः कर्म स्वयं तदा ।
व्युषिताश्वस्ततो राजन्नति मर्त्यान् व्यरोचत ॥ १० ॥

'उसमें देवराज इन्द्र सोमपान करके उन्मत्त हो उठे थे तथा ब्राह्मणलोग पर्याप्त दक्षिणा पाकर हर्षसे फूल उठे थे । महामना राजर्षि व्युषिताश्वके यज्ञमें उस समय देवता और ब्रह्मर्षि स्वयं सब कार्य कर रहे थे । राजन् ! इससे व्युषिताश्व सब मनुष्योंसे ऊँची स्थितिमें पहुँचकर बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ९-१० ॥

सर्वभूतान् प्रति यथा तपनः शिशिरात्यये ।
स विजित्य गृहीत्वा च नृपतीन् राजसत्तमः ॥ ११ ॥
प्राच्यानुदीच्यान् पाश्चात्यान् दाक्षिणात्यानकालयत् ।
अश्वमेधे महायज्ञे व्युषिताश्वः प्रतापवान् ॥ १२ ॥

'राजा व्युषिताश्व समस्त भूतोंके प्रीतिपात्र थे । राजाओंमें श्रेष्ठ प्रतापी व्युषिताश्वने अश्वमेध नामक महान् यज्ञमें पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिण--चारों दिशाओंके राजाओंको जीतकर अपने वशमें कर लिया--ठीक जिस प्रकार शिशिर-कालके अन्तमें भगवान् सूर्यदेव सभी प्राणियोंपर विजय कर लेते हैं--सबको तपाने लगते हैं ॥ ११-१२ ॥

बभूव स हि राजेन्द्रो दशनागबलान्वितः ।
अप्यत्र गाथां गायन्ति ये पुराणविदो जनाः ॥ १३ ॥
व्युषिताश्वे यशोवृद्धे मनुष्येन्द्रे कुरूत्तम ।
व्युषिताश्वः समुद्रान्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १४ ॥
अपालयत् सर्ववर्णान् पिता पुत्रानिवौरसान् ।
यजमानो महायज्ञैर्ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ॥ १५ ॥

'उन महाराजमें दस हाथियोंका बल था । कुरुश्रेष्ठ ! पुराणवेत्ता विद्वान् यशमें बढ़े-चढ़े हुए नरेन्द्र व्युषिताश्वके विषयमें यह यशोगाथा गाते हैं—'राजा व्युषिताश्व समुद्र-पर्यन्त इस सारी पृथ्वीको जीतकर जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार सभी वर्णके लोगोंका पालन करते थे । उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको बहुत धन दिया ॥ १३-१५ ॥

अनन्तरत्नान्यादाय स जहार महाक्रतून् ।
सुषाव च बहून् सोमान् सोमसंस्थास्ततान च ॥ १६ ॥

'अनन्त रत्नोंकी भेंट लेकर उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये । अनेक सोमयागोंका आयोजन करके उनमें बहुत-सा सोमरस संग्रह करके अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम आदि सात प्रकारकी सोम-याग-संस्थाओंका भी अनुष्ठान किया ॥ १६ ॥

आसीत् काक्षीवती चास्य भार्या परमसम्मता ।
भद्रा नाम मनुष्येन्द्र रूपेणासदृशी भुवि ॥ १७ ॥

'नरेन्द्र ! राजा कक्षीवान्की पुत्री भद्रा उनकी अत्यन्त प्यारी पत्नी थी । उन दिनों इस पृथ्वीपर उसके रूपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री न थी ॥ १७ ॥

कामयामासतुस्तौ च परस्परमिति श्रुतम् ।
स तस्यां कामसम्पन्नो यक्ष्मणा समपद्यत ॥ १८ ॥

'मैंने सुना है, वे दोनों पति-पत्नी एक दूसरेको बहुत चाहते थे । पत्नीके प्रति अत्यन्त कामासक्त होनेके कारण राजा व्युषिताश्व राजयक्ष्माके शिकार हो गये ॥ १८ ॥

तेनाचिरेण कालेन जगामास्तमिवांशुमान् ।
तस्मिन् प्रेते मनुष्येन्द्रे भार्यास्य भृशदुःखिता ॥ १९ ॥

'इस कारण वे थोड़े ही समयमें सूर्यकी भाँति अस्त हो गये । उन महाराजके परलोकवासी हो जानेपर उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ ॥ १९ ॥

अपुत्रा पुरुषव्याघ्र विललापेति नः श्रुतम्।
भद्रा परमदुःखार्ता तन्निबोध जनाधिप ॥ २० ॥

'नरव्याघ्र जनेश्वर! हमने सुना है कि भद्राके तबतक कोई पुत्र नहीं हुआ था। इस कारण वह अत्यन्त दुःखसे आतुर होकर विलाप करने लगी; वह विलाप सुनिये' ॥ २० ॥

भद्रोवाच

नारी परमधर्मज्ञ सर्वा भर्तृविनाकृता।
पतिं विना जीवति या न सा जीवति दुःखिता ॥ २१ ॥

भद्रा बोली—परमधर्मज्ञ महाराज! जो कोई भी विधवा स्त्री पतिके बिना जीवन धारण करती है, वह निरन्तर दुःखमें डूबी रहनेके कारण वास्तवमें जीती नहीं, अपितु मृततुल्या है ॥ २१ ॥

पतिं विना मृतं श्रेयो नार्याः क्षत्रियपुङ्गव।
त्वद्गतिं गन्तुमिच्छामि प्रसीदस्व नयस्व माम् ॥ २२ ॥
त्वया हीना क्षणमपि नाहं जीवितुमुत्सहे।
प्रसादं कुरु मे राजन्नितस्तूर्णं नयस्व माम् ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! पतिके न रहनेपर नारीकी मृत्यु हो जाय, इसीमें उसका कल्याण है। अतः मैं भी आपके ही मार्गपर चलना चाहती हूँ, प्रसन्न होइये और मुझे अपने साथ ले चलिये। आपके बिना एक क्षण भी जीवित रहनेका मुझमें उत्साह नहीं है। राजन्! कृपा कीजिये और यहाँसे शीघ्र मुझे ले चलिये ॥ २२-२३ ॥

पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि समेषु विषमेषु च।
त्वामहं नरशार्दूल गच्छन्तमनिवर्तितुम् ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ! आप जहाँ कभी न लौटनेके लिये गये हैं, वहाँका मार्ग समतल हो या विषम, मैं आपके पीछे-पीछे अवश्य चली चलूँगी ॥ २४ ॥

छायेवानुगता राजन् सततं वशवर्तिनी।
भविष्यामि नरव्याघ्र नित्यं प्रियहिते रता ॥ २५ ॥

राजन्! मैं छायाकी भाँति आपके पीछे लगी रहूँगी एवं सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी। नरव्याघ्र! मैं सदा आपके प्रिय और हितमें लगी रहूँगी ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति मां राजन् कष्टा हृदयशोषणाः।
आधयोऽभिभविष्यन्ति त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २६ ॥

कमलके समान नेत्रोंवाले महाराज! आपके बिना आजसे हृदयको सुखा देनेवाले कष्ट और मानसिक चिन्ताएँ मुझे सताती रहेंगी ॥ २६ ॥

अभाग्यया मया नूनं वियुक्ताः सहचारिणः।
तेन मे विप्रयोगोऽयमुपपन्नस्त्वया सह ॥ २७ ॥

मुझ अभागिनीने निश्चय ही कितने ही जीवनसङ्गियों (स्त्री-पुरुषों)में विछोह कराया होगा। इसीलिये आज आपके साथ मेरा वियोग घटित हुआ है ॥ २७ ॥

विप्रयुक्ता तु या पत्या मुहूर्तमपि जीवति।
दुःखं जीवति सा पापा नरकस्थेव पार्थिव ॥ २८ ॥

महाराज! जो स्त्री पतिसे बिछुड़ जानेपर दो घड़ी भी जीवन धारण करती है, वह पापिनी नरकमें पड़ी हुई-सी दुःखमय जीवन बिताती है ॥ २८ ॥

संयुक्ता विप्रयुक्ताश्च पूर्वदेहे कृता मया।
तदिदं कर्मभिः पापैः पूर्वदेहेषु संचितम् ॥ २९ ॥
दुःखं मामनुसम्प्राप्तं राजंस्त्वद्विप्रयोगजम्।
अद्यप्रभृत्यहं राजन् कुशसंस्तरशायिनी।
भविष्याम्यसुखाविष्टा त्वद्दर्शनपरायणा ॥ ३० ॥

राजन्! पूर्वजन्मके शरीरमें स्थित रहकर मैंने एक साथ रहनेवाले कुछ स्त्री-पुरुषोंमें अवश्य वियोग कराया है। उन्हीं पापकर्मोंद्वारा मेरे पूर्वशरीरोंमें जो बीजरूपसे संचित हो रहा था, वही यह आपके वियोगका दुःख आज मुझे प्राप्त हुआ है। महाराज! मैं दुःखमें डूबी हुई हूँ, अतः आजसे आपके दर्शनकी इच्छा रखकर मैं कुशके बिछौनेपर सोऊँगी ॥ २९-३० ॥

दर्शयस्व नरव्याघ्र शाधि मामसुखान्विताम्।
कृपणां चाथ करुणं विलपन्तीं नरेश्वर ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ नरेश्वर! करुण विलाप करती हुई मुझ दीन-दुखिया अबलाको आज अपना दर्शन और कर्तव्यका आदेश दीजिये ॥ ३१ ॥

कुन्त्युवाच

एवं बहुविधं तस्यां विलपन्त्यां पुनः पुनः।
तं शवं सम्परिष्वज्य वाक् किलान्तर्हिताब्रवीत् ॥ ३२ ॥

कुन्तीने कहा—महाराज! इस प्रकार जब राजाके शवका आलिङ्गन करके वह बार-बार अनेक प्रकारसे विलाप करने लगी, तब आकाशवाणी बोली— ॥ ३२ ॥

उत्तिष्ठ भद्रे गच्छ त्वं ददानीह वरं तव।
जनयिष्याम्यपत्यानि त्वय्यहं चारुहासिनि ॥ ३३ ॥

'भद्रे! उठो और जाओ, इस समय मैं तुम्हें वर देता हूँ। चारुहासिनि! मैं तुम्हारे गर्भसे कई पुत्रोंको जन्म दूँगा ॥ ३३ ॥

आत्मकीये वरारोहे शयनीये चतुर्दशीम्।
अष्टमीं वा ऋतुस्नाता संविशेथा मया सह ॥ ३४ ॥

'वरारोहे! तुम ऋतुस्नाता होनेपर चतुर्दशी या अष्टमीकी रातमें अपनी शय्यापर मेरे इस शवके साथ सो जाना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ता तु सा देवी तथा चक्रे पतिव्रता।
यथोक्तमेव तद्वाक्यं भद्रा पुत्रार्थिनी तदा ॥ ३५ ॥

आकाशवाणीके यों कहनेपर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली

पतिव्रता भद्रादेवीने पतिकी पूर्वोक्त आज्ञाका अक्षरशः पालन किया ॥ ३५ ॥

सा तेन सुषुवे देवी शवेन भरतर्षभ।
त्रीन् शाल्वांश्चतुरो मद्रान् सुतान् भरतसत्तम ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रानी भद्राने उस शवके द्वारा सात पुत्र उत्पन्न किये, जिनमें तीन शाल्वदेशके और चार मद्रदेशके शासक हुए ॥ ३६ ॥

तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ।
शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगबलान्वितः ॥ ३७ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! इसी प्रकार आप भी मेरे गर्भसे मानसिक संकल्पद्वारा अनेक पुत्र उत्पन्न कर सकते हैं; क्योंकि आप तपस्या और योगबलसे सम्पन्न हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि व्युषिताश्वोपाख्याने विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें व्युषिताश्वोपाख्यानविषयक एक सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२० ॥

एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डुका कुन्तीको समझाना और कुन्तीका पतिकी आज्ञासे पुत्रोत्पत्तिके लिये धर्मदेवताका आवाहन करनेके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया राजा तां देवीं पुनरब्रवीत्।
धर्मविद् धर्मसंयुक्तमिदं वचनमुत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके यों कहनेपर धर्मज्ञ राजा पाण्डुने देवी कुन्तीसे पुनः यह धर्मयुक्त बात कही ॥

पाण्डुरुवाच

एवमेतत् पुरा कुन्ति व्युषिताश्वश्चकार ह।
यथा त्वयोक्तं कल्याणि स ह्यासीदमरोपमः ॥ २ ॥

पाण्डु बोले—कुन्ती ! तुम्हारा कहना ठीक है । पूर्वकालमें राजा व्युषिताश्वने जैसा तुमने कहा है, वैसा ही किया था। कल्याणी ! वे देवताओंके समान तेजस्वी थे ॥ २ ॥

अथ त्विदं प्रवक्ष्यामि धर्मतत्त्वं निबोध मे।
पुराणमृषिभिर्दृष्टं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

अब मैं तुम्हें यह धर्मका तत्त्व बतलाता हूँ, सुनो। यह पुरातन धर्मतत्त्व धर्मज्ञ महात्मा ऋषियोंने प्रत्यक्ष किया है ॥ ३ ॥

धर्ममेवं जनाः सन्तः पुराणं परिचक्षते।
भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाधर्म्यमेव वा ॥ ४ ॥
यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः।
विशेषतः पुत्रगृध्नी हीनः प्रजननात् स्वयम् ॥ ५ ॥
यथाहमनवद्याङ्गि पुत्रदर्शनलालसः।
तथा रक्ताङ्गुलितलः पद्मपत्रनिभः शुभे ॥ ६ ॥
प्रसादार्थं मया तेऽयं शिरस्यभ्युद्यतोऽञ्जलिः।
मन्नियोगात् सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात्॥ ७ ॥
पुत्रान् गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि।
त्वत्कृतेऽहं पृथुश्रोणि गच्छेयं पुत्रिणां गतिम् ॥ ८ ॥

साधु पुरुष इसीको प्राचीन धर्म कहते हैं। राजकन्ये ! पति अपनी पत्नीसे जो बात कहे, वह धर्मके अनुकूल हो या प्रतिकूल, उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिये—ऐसा वेदज्ञ पुरुषोंका कथन है। विशेषतः ऐसा पति, जो पुत्रकी अभिलाषा रखता हो और स्वयं संतानोत्पादनकी शक्तिसे रहित हो, जो बात कहे, वह अवश्य माननी चाहिये । निर्दोष अङ्गोंवाली शुभलक्षणे ! मैं चूँकि पुत्रका मुँह देखनेके लिये लालायित हूँ, अतएव तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मस्तकके समीप यह अञ्जलि धारण करता हूँ, जो लाल-लाल अङ्गुलियोंसे युक्त तथा कमलदलके समान सुशोभित है। सुन्दर केशोंवाली प्रिये ! तुम मेरे आदेशसे तपस्यामें बढ़े-चढ़े हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणके साथ समागम करके गुणवान् पुत्र उत्पन्न करो। सुश्रोणि ! तुम्हारे प्रयत्नसे मैं पुत्रवानोंकी गति प्राप्त करूँ, ऐसी मेरी अभिलाषा है ॥ ४-८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः कुन्ती पाण्डुं परपुरंजयम्।
प्रत्युवाच वरारोहा भर्तुः प्रियहिते रता ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार कही जानेपर पतिके प्रिय और हितमें लगी रहनेवाली सुन्दराङ्गी कुन्ती शत्रुओंकी राजधानीपर विजय पानेवाले महाराज पाण्डुसे इस प्रकार बोली—॥ ९ ॥

(अधर्मः सुमहानेष स्त्रीणां भरतसत्तम।
यत् प्रसादयते भर्ता प्रसाद्यः क्षत्रियर्षभ ॥
शृणु चेदं महाबाहो मम प्रीतिकरं वचः ॥)

'भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रियशिरोमणे ! स्त्रियोंके लिये यह बड़े अधर्मकी बात है कि पति ही उनसे प्रसन्न होनेके लिये बार-बार अनुरोध करे; क्योंकि नारीका ही यह कर्तव्य है कि वह पतिको प्रसन्न रखे। महाबाहो ! आप मेरी यह बात सुनिये । इससे आपको बड़ी प्रसन्नता होगी।

पितृवेश्मन्यहं बाला नियुक्तातिथिपूजने।
उग्रं पर्यचरं तत्र ब्राह्मणं संशितव्रतम्॥ १०॥
निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमहं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयम्॥ ११॥

'बाल्यावस्थामें जब मैं पिताके घर थी, मुझे अतिथियोंके सत्कारका काम सौंपा गया था। वहाँ कठोर व्रतका पालन



करनेवाले एक उग्रस्वभावके ब्राह्मणकी, जिनका धर्मके विषयमें निश्चय दूसरोंको अज्ञात है तथा जिन्हें लोग दुर्वासा कहते हैं, मैंने बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। अपने मनको संयममें रखनेवाले उन महात्माको मैंने सब प्रकारके यत्नोंद्वारा संतुष्ट किया॥१०-११॥

स मेऽभिचारसंयुक्तमाचष्ट भगवान् वरम्।
मन्त्रं त्विमं च मे प्रादादब्रवीच्चैव मामिदम्॥ १२॥

'तब भगवान् दुर्वासाने वरदानके रूपमें मुझे प्रयोगविधि-सहित एक मन्त्रका उपदेश दिया और मुझसे इस प्रकार कहा—॥ १२॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
अकामो वा सकामो वा वशं ते समुपैष्यति॥ १३॥

'तुम इस मन्त्रसे जिस-जिस देवताका आवाहन करोगी, वह निष्काम हो या सकाम, निश्चय ही तुम्हारे अधीन हो जायगा॥ १३॥

तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि पुत्रो भविष्यति।
इत्युक्ताहं तदानेन पितृवेश्मनि भारत॥ १४॥

'राजकुमारी! उस देवताके प्रसादसे तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' भारत! इस प्रकार मेरे पिताके घरमें उस ब्राह्मणने उस समय मुझसे यह बात कही थी॥ १४॥

ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तस्य कालोऽयमागतः।
अनुज्ञाता त्वया देवमाह्वयेयमहं नृप।
तेन मन्त्रेण राजर्षे यथास्यान्नौ प्रजा हिता॥ १५॥

'उस ब्राह्मणकी बात सत्य ही होगी। उसके उपयोगका यह अवसर आ गया है। महाराज! आपकी आज्ञा होनेपर मैं उस मन्त्रद्वारा किसी देवताका आवाहन कर सकती हूँ। जिससे राजर्षे! हम दोनोंके लिये हितकर संतान प्राप्त हो॥ १५॥

(यां मे विद्यां महाराज अददात् स महायशाः।
तयाहूतः सुरः पुत्रं प्रदास्यति सुरोपमम्।
अनपत्यकृतं यस्ते शोकं हि व्यपनेष्यति॥
अपत्यकाम एवं स्यान्ममापत्यं भवेदिति।)

'महाराज! उन महायशस्वी महर्षिने जो विद्या मुझे दी थी, उसके द्वारा आवाहन करनेपर कोई भी देवता आकर देवोपम पुत्र प्रदान करेगा, जो आपके संतानहीनताजनित शोकको दूर कर देगा; इस प्रकार मुझे संतान प्राप्त होगी और आपकी पुत्रकामना सफल हो जायगी॥

आवाहयामि कं देवं ब्रूहि सत्यवतां वर।
त्वत्तोऽनुज्ञाप्रतीक्षां मां विद्ध्यस्मिन् कर्मणि स्थिताम्॥

'सत्यवानोंमें श्रेष्ठ नरेश! बताइये, मैं किस देवताका आवाहन करूँ। आप समझ लें, मैं (आपके संतोषार्थ) इस कार्यके लिये तैयार हूँ। केवल आपसे आज्ञा मिलनेकी प्रतीक्षामें हूँ'॥ १६॥

पाण्डुरुवाच

(धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि त्वं नो धात्री कुलस्य हि।
नमो महर्षये तस्मै येन दत्तो वरस्तव॥
न चाधर्मेण धर्मज्ञे शक्याः पालयितुं प्रजाः॥)
अद्यैव त्वं वरारोहे प्रयतस्व यथाविधि।
धर्ममावाहय शुभे स हि लोकेषु पुण्यभाक्॥ १७॥

पाण्डु बोले—प्रिये! मैं धन्य हूँ, तुमने मुझपर महान् अनुग्रह किया। तुम्हीं मेरे कुलको धारण करनेवाली हो। उन महर्षिको नमस्कार है, जिन्होंने तुम्हें वैसा वर दिया। धर्मज्ञे! अधर्मसे प्रजाका पालन नहीं हो सकता। इसलिये वरारोहे! तुम आज ही विधिपूर्वक इसके लिये प्रयत्न करो। शुभे! सबसे पहले धर्मका आवाहन करो; क्योंकि वे ही सम्पूर्ण लोकोंमें धर्मात्मा हैं॥ १७॥

अधर्मेण न नो धर्मः संयुज्यति कथंचन।
लोकश्चायं वरारोहे धर्मोऽयमिति मन्यते॥ १८॥
धार्मिकश्च कुरूणां स भविष्यति न संशयः।
धर्मेण चापि दत्तस्य नाधर्मे रंस्यते मनः॥ १९॥
तस्माद् धर्मं पुरस्कृत्य नियता त्वं शुचिस्मिते।
उपचाराभिचाराभ्यां धर्ममावाहयस्व वै॥ २०॥

(इस प्रकार करनेपर) हमारा धर्म कभी किसी तरह अधर्मसे संयुक्त नहीं हो सकता। वरारोहे! लोक भी उनको

साक्षात् धर्मका स्वरूप मानता है। धर्मसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र कुरुवंशियोंमें सबसे अधिक धर्मात्मा होगा—इसमें संशय नहीं है। धर्मके द्वारा दिया हुआ जो पुत्र होगा, उसका मन अधर्ममें नहीं लगेगा। अतः शुचिस्मिते! तुम मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर धर्मको भी सामने रखते हुए उपचार (पूजा) और अभिचार (प्रयोग-विधि) के द्वारा धर्मदेवताका आवाहन करो॥ १८—२०॥

वैशम्पायन उवाच

सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा तेन भर्त्रा वराङ्गना।
अभिवाद्याभ्यनुज्ञाता प्रदक्षिणमवर्तत॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने पति पाण्डुके यों कहनेपर नारियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीने 'तथास्तु' कहकर उन्हें प्रणाम किया और आज्ञा लेकर उनकी परिक्रमा की॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि कुन्तीपुत्रोत्पत्त्यनुज्ञाने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें कुन्तीको पुत्रोत्पत्तिके लिये आदेशविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२१

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

संवत्सरधृते गर्भे गान्धार्या जनमेजय।
आह्वयामास वै कुन्ती गर्भार्थं धर्ममच्युतम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब गान्धारीको गर्भ धारण किये एक वर्ष बीत गया, उस समय कुन्तीने गर्भ धारण करनेके लिये अच्युतस्वरूप भगवान् धर्मका आवाहन किया॥ १॥

सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह।
जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा॥ २॥

देवी कुन्तीने बड़ी उतावलीके साथ धर्मदेवताके लिये पूजाके उपहार अर्पित किये। तत्पश्चात् पूर्वकालमें महर्षि दुर्वासाने जो मन्त्र दिया था, उसका विधिपूर्वक जप किया॥ २॥

आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात् ततः।
विमाने सूर्यसंकाशे कुन्ती यत्र जपस्थिता॥ ३॥

तब मन्त्रबलसे आकृष्ट हो भगवान् धर्म सूर्यके समान तेजस्वी विमानपर बैठकर उस स्थानपर आये, जहाँ कुन्तीदेवी जपमें लगी हुई थीं॥ ३॥

विहस्य तां ततो ब्रूयाः कुन्ति किं ते ददाम्यहम्।
सा तं विहस्यमानापि पुत्रं देह्यब्रवीदिदम्॥ ४॥

तब धर्मने हँसकर कहा—'कुन्ती! बोलो, तुम्हें क्या दूँ?' धर्मके द्वारा हास्यपूर्वक इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती बोली—'मुझे पुत्र दीजिये'॥ ४॥

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह।
लेभे पुत्रं वरारोहा सर्वप्राणभृतां हितम्॥ ५॥

तदनन्तर योगमूर्ति धारण किये हुए धर्मके साथ समागम करके सुन्दराङ्गी कुन्तीने एक ऐसा पुत्र प्राप्त किया, जो समस्त प्राणियोंका हित करनेवाला था॥ ५॥

ऐन्द्रे चन्द्रसमायुक्ते मुहूर्तेऽभिजितेऽष्टमे।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पूर्णेऽतिपूजिते॥ ६॥

समृद्धयशसं कुन्ती सुषाव प्रवरं सुतम्।
जातमात्रे सुते तस्मिन् वागुवाचाशरीरिणी॥ ७॥

तदनन्तर जब चन्द्रमा ज्येष्ठा नक्षत्रपर थे, सूर्य तुलाराशिपर विराजमान थे, शुक्ल पक्षकी 'पूर्णा' नामवाली पञ्चमी तिथि थी और अत्यन्त श्रेष्ठ अभिजित् नामक आठवाँ मुहूर्त विद्यमान था; उस समय कुन्तीदेवीने एक उत्तम पुत्रको जन्म दिया, जो महान् यशस्वी था। उस पुत्रके जन्म लेते ही आकाशवाणी हुई—॥ ६-७॥

एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति नरोत्तमः।
विक्रान्तः सत्यवाक् चैव राजा पृथ्व्यां भविष्यति॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः।
भविता प्रथितो राजा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ ९॥
यशसा तेजसा चैव वृत्तेन च समन्वितः।

'यह श्रेष्ठ पुरुष धर्मात्माओंमें अग्रगण्य होगा और इस पृथ्वीपर पराक्रमी एवं सत्यवादी राजा होगा। पाण्डुका यह प्रथम पुत्र 'युधिष्ठिर' नामसे विख्यात हो तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि एवं ख्याति प्राप्त करेगा; यह यशस्वी, तेजस्वी तथा सदाचारी होगा'॥ ८-९½॥

धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा पाण्डुस्तां पुनरब्रवीत्॥ १०॥

उस धर्मात्मा पुत्रको पाकर राजा पाण्डुने पुनः (आग्रहपूर्वक) कुन्तीसे कहा—॥ १०॥

प्राहुः क्षत्रं बलज्येष्ठं बलज्येष्ठं सुतं वृणु।
(अश्वमेधः क्रतुश्रेष्ठो ज्योतिश्श्रेष्ठो दिवाकरः।
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो बलश्रेष्ठस्तु मारुतः॥
मारुतं मरुतां श्रेष्ठं सर्वप्राणिभिरीडितम्।
आवाहय त्वं नियमात् पुत्रार्थं वरवर्णिनि॥
स नो यं दास्यति सुतं स प्राणबलवान् नृषु।)
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमेवाजुहाव सा॥ ११॥

'प्रिये! क्षत्रियको बलसे ही बड़ा कहा गया है। अतः एक ऐसे पुत्रका वरण करो जो बलमें सबसे श्रेष्ठ हो।

जैसे अश्वमेध सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है, सूर्यदेव सम्पूर्ण प्रकाश करनेवालोंमें प्रधान हैं और ब्राह्मण मनुष्योंमें श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वायुदेव बलमें सबसे बढ़-चढ़कर हैं। अतः सुन्दरी ! अबकी बार तुम पुत्र-प्राप्तिके उद्देश्यसे समस्त प्राणियोंद्वारा प्रशंसित देवश्रेष्ठ वायुका विधिपूर्वक आवाहन करो। वे हमलोगोंके लिये जो पुत्र देंगे, वह मनुष्योंमें सबसे अधिक प्राणशक्तिसे सम्पन्न और बलवान् होगा।'

स्वामीके इस प्रकार कहनेपर कुन्तीने तब वायुदेवका ही आवाहन किया ॥ ११ ॥

ततस्तामागतो वायुर्मृगारूढो महाबलः।
किं ते कुन्ति ददाम्यद्य ब्रूहि यत् ते हृदि स्थितम् ॥ १२ ॥

तब महाबली वायु मृगपर आरूढ़ हो कुन्तीके पास आये और यों बोले—'कुन्ती ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, वह कहो। मैं तुम्हें क्या दूँ ?' ॥ १२ ॥

सा सलज्जा विहस्याह पुत्रं देहि सुरोत्तम।
बलवन्तं महाकायं सर्वदर्पप्रभञ्जनम् ॥ १३ ॥

कुन्तीने लज्जित होकर मुसकराते हुए कहा—'सुरश्रेष्ठ ! मुझे एक ऐसा पुत्र दीजिये, जो महाबली और विशालकाय होनेके साथ ही सबके घमंडको चूर करनेवाला हो' ॥ १३ ॥

तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः।
तमप्यतिबलं जातं वागुवाचाशरीरिणी ॥ १४ ॥
सर्वेषां बलिनां श्रेष्ठो जातोऽयमिति भारत।
इदमत्यद्भुतं चासीज्जातमात्रे वृकोदरे ॥ १५ ॥
यदङ्कात् पतितो मातुः शिलां गात्रैर्व्यचूर्णयत्।
(कुन्ती तु सह पुत्रेण यात्वा सुरुचिरं सरः।
स्नात्वा तु सुतमादाय दशमेऽहनि यादवी ॥
दैवतान्यर्चयिष्यन्ती निर्जगामाश्रमात् पृथा।
शैलाभ्याशेन गच्छन्त्यास्तदा भरतसत्तम ॥
निश्चक्राम महान् व्याघ्रो जिघांसन् गिरिगह्वरात्॥
तमापतन्तं शार्दूलं विकृष्याथ कुरूत्तमः।
निर्बिभेद शरैः पाण्डुस्त्रिभिस्त्रिदशविक्रमः॥
नादेन महता तां तु पूरयन्तं गिरेर्गुहाम्।)
कुन्ती व्याघ्रभयोद्विग्ना सहसोत्पतिता किल ॥ १६ ॥

वायुदेवसे भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमका जन्म हुआ। जनमेजय ! उस महाबली पुत्रको लक्ष्य करके आकाशवाणीने कहा—'यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है।' भीमसेनके जन्म लेते ही एक अद्भुत घटना यह हुई कि अपनी माताकी गोदसे गिरनेपर उन्होंने अपने अङ्गोंसे एक पर्वतकी चट्टानको चूर-चूर कर दिया। बात यह थी कि यदुकुलनन्दिनी कुन्ती प्रसवके दसवें दिन पुत्रको गोदमें लिये उसके साथ एक सुन्दर सरोवरके निकट गयी और स्नान करके लौटकर देवताओंकी पूजा करनेके लिये कुटियासे बाहर निकली। भरतनन्दन ! वह पर्वतके समीप होकर जा रही थी कि इतनेमें ही उसको मार डालनेकी इच्छासे एक बहुत बड़ा व्याघ्र उस पर्वतकी कन्दरासे बाहर निकल आया। देवताओंके समान पराक्रमी कुरुश्रेष्ठ पाण्डुने उस व्याघ्रको दौड़कर आते देख धनुष खींच लिया और तीन बाणोंसे मारकर उसे विदीर्ण कर दिया। उस समय वह अपनी विकट गर्जनासे पर्वतकी सारी गुफाको प्रतिध्वनित कर रहा था। कुन्ती बाघके भयसे सहसा उछल पड़ी ॥ १४–१६ ॥

नान्वबुध्यत संसुप्तमुत्सङ्गे स्वे वृकोदरम्।
ततः स वज्रसंघातः कुमारो न्यपतद् गिरौ ॥ १७ ॥

उस समय उसे इस बातका ध्यान नहीं रहा कि मेरी गोदमें भीमसेन सोया हुआ है। उतावलीमें वह वज्रके समान शरीरवाला कुमार पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

पतता तेन शतधा शिला गात्रैर्विचूर्णिता।
तां शिलां चूर्णितां दृष्ट्वा पाण्डुर्विस्मयमागतः ॥ १८ ॥

गिरते समय उसने अपने अङ्गोंसे उस पर्वतकी शिलाको चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। पत्थरकी चट्टानको चूर-चूर हुआ देख महाराज पाण्डु बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ १८ ॥

(मघे चन्द्रमसा युक्ते सिंहे चाभ्युदिते गुरौ।
दिवामध्यगते सूर्ये तिथौ पुण्ये त्रयोदशे ॥
मैत्रे मुहूर्ते सा कुन्ती सुषुवे भीममच्युतम् ॥)
यस्मिन्नहनि भीमस्तु जज्ञे भरतसत्तम।
दुर्योधनोऽपि तत्रैव प्रजज्ञे वसुधाधिप ॥ १९ ॥

जब चन्द्रमा मघा नक्षत्रपर विराजमान थे, बृहस्पति सिंह लग्नमें सुशोभित थे, सूर्यदेव दोपहरके समय आकाशके मध्यभागमें तप रहे थे, उस समय पुण्यमयी त्रयोदशी तिथिको मैत्र मुहूर्तमें कुन्तीदेवीने अविचल शक्तिवाले भीमसेनको जन्म दिया था। भरतश्रेष्ठ भूपाल ! जिस दिन भीमसेनका जन्म हुआ था, उसी दिन हस्तिनापुरमें दुर्योधनकी भी उत्पत्ति हुई ॥ १९ ॥

जाते वृकोदरे पाण्डुरिदं भूयोऽन्वचिन्तयत्।
कथं नु मे वरः पुत्रो लोकश्रेष्ठो भवेदिति ॥ २० ॥

भीमसेनके जन्म लेनेपर पाण्डुने फिर इस प्रकार विचार किया कि मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे मुझे सब लोगोंसे श्रेष्ठ उत्तम पुत्र प्राप्त हो ॥ २० ॥

दैवे पुरुषकारे च लोकोऽयं सम्प्रतिष्ठितः।
तत्र दैवं तु विधिना कालयुक्तेन लभ्यते ॥ २१ ॥

यह संसार दैव तथा पुरुषार्थपर अवलम्बित है। इनमें दैव तभी सुलभ (सफल) होता है, जब समयपर उद्योग किया जाय ॥ २१ ॥

इन्द्रो हि राजा देवानां प्रधान इति नः श्रुतम्।
अप्रमेयबलोत्साहो वीर्यवानमितद्युतिः ॥ २२ ॥
तं तोषयित्वा तपसा पुत्रं लप्स्ये महाबलम्।
यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान् भविष्यति ॥ २३ ॥



बालक भीमके शरीरकी चोटसे चट्टान टूट गयी

अमानुषान् मानुषांश्च संग्रामे स हनिष्यति ।
कर्मणा मनसा वाचा तस्मात् तप्स्ये महत् तपः ॥ २४ ॥

मैंने सुना है कि देवराज इन्द्र ही सब देवताओंमें प्रधान हैं, उनमें अथाह बल और उत्साह है। वे बड़े पराक्रमी एवं अपार तेजस्वी हैं । मैं तपस्याद्वारा उन्हींको संतुष्ट करके महाबली पुत्र प्राप्त करूँगा। वे मुझे जो पुत्र देंगे, वह निश्चय ही सबसे श्रेष्ठ होगा तथा संग्राममें अपना सामना करनेवाले मनुष्यों तथा मनुष्येतर प्राणियों (दैत्य-दानव आदि) को भी मारनेमें समर्थ होगा। अतः मैं मन, वाणी और क्रियाद्वारा बड़ी भारी तपस्या करूँगा ॥ २२–२४ ॥

ततः पाण्डुर्महाराजो मन्त्रयित्वा महर्षिभिः ।
दिदेश कुन्त्याः कौरव्यो व्रतं सांवत्सरं शुभम् ॥ २५ ॥

ऐसा निश्चय करके कुरुनन्दन महाराज पाण्डुने महर्षियोंसे सलाह लेकर कुन्तीको शुभदायक सांवत्सर व्रतका उपदेश दिया ॥ २५ ॥

आत्मना च महाबाहुरेकपादस्थितोऽभवत् ।
उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना ॥ २६ ॥
आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् ।
सूर्येण सह धर्मात्मा पर्यतप्यत भारत ॥ २७ ॥
तं तु कालेन महता वासवः प्रत्यपद्यत ।

और भारत ! वे महाबाहु धर्मात्मा पाण्डु स्वयं देवताओंके ईश्वर इन्द्रदेवकी आराधना करनेके लिये चित्तवृत्तियोंको अत्यन्त एकाग्र करके एक पैरसे खड़े हो सूर्यके साथ-साथ उग्र तप करने लगे अर्थात् सूर्योदय होनेके समय एक पैरसे खड़े होते और सूर्यास्ततक उसी रूपमें खड़े रहते ।

इस तरह दीर्घकाल व्यतीत हो जानेपर इन्द्रदेव उनपर प्रसन्न हो उनके समीप आये और इस प्रकार बोले ॥ २६-२७½ ॥

शक्र उवाच

पुत्रं तव प्रदास्यामि त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ २८ ॥

इन्द्रने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें ऐसा पुत्र दूँगा, जो तीनों लोकोंमें विख्यात होगा ॥ २८ ॥

ब्राह्मणानां गवां चैव सुहृदां चार्थसाधकम् ।
दुर्हृदां शोकजननं सर्वबान्धवनन्दनम् ॥ २९ ॥
सुतं तेऽग्र्यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम् ।

वह ब्राह्मणों, गौओं तथा सुहृदोंके अभीष्ट मनोरथकी पूर्ति करनेवाला, शत्रुओंको शोक देनेवाला और समस्त बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करनेवाला होगा, मैं तुम्हें सम्पूर्ण शत्रुओंका विनाश करनेवाला सर्वश्रेष्ठ पुत्र प्रदान करूँगा ॥ २९½ ॥

इत्युक्तः कौरवो राजा वासवेन महात्मना ॥ ३० ॥
उवाच कुन्तीं धर्मात्मा देवराजवचः स्मरन् ।
उदर्कस्तव कल्याणि तुष्टो देवगणेश्वरः ॥ ३१ ॥
दातुमिच्छति ते पुत्रं यथा संकल्पितं त्वया ।
अतिमानुषकर्माणं यशस्विनमरिंदमम् ॥ ३२ ॥
नीतिमन्तं महात्मानमादित्यसमतेजसम् ।
दुराधर्षं क्रियावन्तमतीवाद्भुतदर्शनम् ॥ ३३ ॥

महात्मा इन्द्रके यों कहनेपर धर्मात्मा कुरुनन्दन महाराज पाण्डु बड़े प्रसन्न हुए और देवराजके वचनोंका स्मरण करते हुए कुन्तीदेवीसे बोले—'कल्याणि ! तुम्हारे व्रतका भावी परिणाम मङ्गलमय है । देवताओंके स्वामी इन्द्र हमलोगोंपर संतुष्ट हैं और तुम्हें तुम्हारे संकल्पके अनुसार श्रेष्ठ पुत्र देना चाहते हैं। वह अलौकिक कर्म करनेवाला, यशस्वी, शत्रुदमन, नीतिज्ञ, महामना, सूर्यके समान तेजस्वी, दुर्धर्ष, कर्मठ तथा देखनेमें अत्यन्त अद्भुत होगा ॥ ३०–३३ ॥

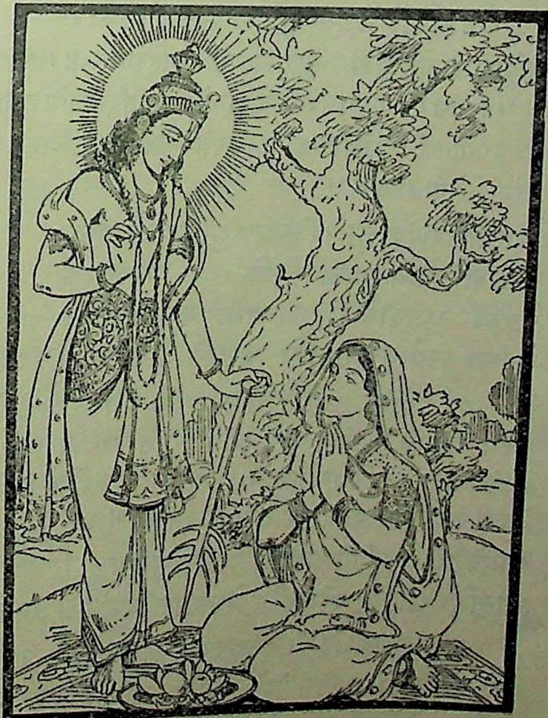
पुत्रं जनय सुश्रोणि धाम क्षत्रियतेजसाम् ।
लब्धः प्रसादो देवेन्द्रात् तमाह्वय शुचिस्मिते ॥ ३४ ॥

'सुश्रोणि ! अब ऐसे पुत्रको जन्म दो, जो क्षत्रियोचित तेजका भंडार हो । पवित्र मुसकानवाली कुन्ती ! मैंने देवेन्द्रकी कृपा प्राप्त कर ली है। अब तुम उन्हींका आवाहन करो' ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज पाण्डुके यों कहनेपर यशस्विनी कुन्तीने इन्द्रका आवाहन किया । तदनन्तर देवराज इन्द्र आये और उन्होंने अर्जुनको जन्म दिया ॥ ३५ ॥



(उत्तराभ्यां तु पूर्वाभ्यां फल्गुनीभ्यां ततो दिवा।
जातस्तु फाल्गुने मासि तेनासौ फाल्गुनः स्मृतः॥)

वह फाल्गुन मासमें दिनके समय पूर्वाफल्गुनी और उत्तराफल्गुनी नक्षत्रोंके संधिकालमें उत्पन्न हुआ। फाल्गुनमास और फल्गुनी नक्षत्रमें जन्म लेनेके कारण उस बालकका नाम 'फाल्गुन' हुआ॥

जातमात्रे कुमारे तु वागुवाचाशरीरिणी।
महागम्भीरनिर्घोषा नभो नादयती तदा॥ ३६॥
शृण्वतां सर्वभूतानां तेषां चाश्रमवासिनाम्।
कुन्तीमाभाष्य विस्पष्टमुवाचेदं शुचिस्मिताम्॥ ३७॥

कुमार अर्जुनके जन्म लेते ही अत्यन्त गम्भीर नादसे समूचे आकाशको गुँजाती हुई आकाशवाणीने पवित्र मुसकानवाली कुन्तीदेवीको सम्बोधित करके समस्त प्राणियों और आश्रमवासियोंके सुनते हुए अत्यन्त स्पष्ट भाषामें इस प्रकार कहा—॥ ३६-३७॥

कार्तवीर्यसमः कुन्ति शिवतुल्यपराक्रमः।
एष शक्र इवाजय्यो यशस्ते प्रथयिष्यति॥ ३८॥
अदित्या विष्णुना प्रीतिर्यथाभूदभिवर्धिता।
तथा विष्णुसमः प्रीतिं वर्धयिष्यति तेऽर्जुनः॥ ३९॥

'कुन्तिभोजकुमारी! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुनके समान तेजस्वी, भगवान् शिवके समान पराक्रमी और देवराज इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारे यशका विस्तार करेगा। जैसे भगवान् विष्णुने वामनरूपमें प्रकट होकर देवमाता अदितिके हर्षको बढ़ाया था, उसी प्रकार यह विष्णुतुल्य अर्जुन तुम्हारी प्रसन्नताको बढ़ायेगा॥ ३८-३९॥

एष मद्रान् वशे कृत्वा कुरूंश्च सह सोमकैः।
चेदिकाशिकरूषांश्च कुरुलक्ष्मीं वहिष्यति॥ ४०॥

'तुम्हारा यह वीर पुत्र मद्र, कुरु, सोमक, चेदि, काशि तथा करूष नामक देशोंको वशमें करके कुरुवंशकी लक्ष्मीका पालन करेगा॥ ४०॥

(गत्वोत्तरदिशं वीरो विजित्य युधि पार्थिवान्।
धनरत्नौघममितमानयिष्यति पाण्डवः॥)
एतस्य भुजवीर्येण खाण्डवे हव्यवाहनः।
मेदसा सर्वभूतानां तृप्तिं यास्यति वै पराम्॥ ४१॥

'वीर अर्जुन उत्तर दिशामें जाकर वहाँके राजाओंको युद्धमें जीतकर असंख्य धन-रत्नोंकी राशि ले आयेगा। इसके बाहुबलसे खाण्डववनमें अग्निदेव समस्त प्राणियोंके मेदका आस्वादन करके पूर्ण तृप्ति लाभ करेंगे॥ ४१॥

ग्रामणीश्च महीपालानेष जित्वा महाबलः।
भ्रातृभिः सहितो वीरस्त्रीन् मेधानाहरिष्यति॥ ४२॥

'यह महाबली श्रेष्ठ वीर बालक समस्त क्षत्रियसमूहका नायक होगा और युद्धमें भूमिपालोंको जीतकर भाइयोंके साथ तीन अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करेगा॥ ४२॥

जामदग्न्यसमः कुन्ति विष्णुतुल्यपराक्रमः।
एष वीर्यवतां श्रेष्ठो भविष्यति महायशाः॥ ४३॥

'कुन्ती! यह परशुरामके समान वीर योद्धा, भगवान् विष्णुके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और महान् यशस्वी होगा॥ ४३॥

एष युद्धे महादेवं तोषयिष्यति शंकरम्।
अस्त्रं पाशुपतं नाम तस्मात् तुष्टादवाप्स्यति॥ ४४॥
निवातकवचा नाम दैत्या विबुधविद्विषः।
शक्राज्ञया महाबाहुस्तान् वधिष्यति ते सुतः॥ ४५॥

'यह युद्धमें देवाधिदेव भगवान् शंकरको संतुष्ट करेगा और संतुष्ट हुए उन महेश्वरसे पाशुपत नामक अस्त्र प्राप्त करेगा। निवातकवच नामक दैत्य देवताओंसे सदा द्वेष रखते हैं। तुम्हारा यह महाबाहु पुत्र इन्द्रकी आज्ञासे उन सब दैत्योंका संहार कर डालेगा॥ ४४-४५॥

तथा दिव्यानि चास्त्राणि निखिलेनाहरिष्यति।
विप्रणष्टां श्रियं चायमाहर्ता पुरुषर्षभः॥ ४६॥

'तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ यह अर्जुन सम्पूर्ण दिव्यास्त्रोंका पूर्ण रूपसे ज्ञान प्राप्त करेगा और अपनी खोयी हुई सम्पत्तिको पुनः वापस ले आयेगा'॥ ४६॥

एतामत्यद्भुतां वाचं कुन्ती शुश्राव सूतके।
वाचमुच्चारितामुच्चैस्तां निशम्य तपस्विनाम्॥ ४७॥
बभूव परमो हर्षः शतशृङ्गनिवासिनाम्।
तथा देवनिकायानां सेन्द्राणां च दिवौकसाम्॥ ४८॥

कुन्तीने सौरीमेंसे ही यह अत्यन्त अद्भुत बात सुनी। उच्चस्वरमें उच्चारित वह आकाशवाणी सुनकर शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियों तथा विमानोंपर स्थित इन्द्र आदि देवसमूहोंको बड़ा हर्ष हुआ॥ ४७-४८॥

आकाशे दुन्दुभीनां च बभूव तुमुलः स्वनः।
उदतिष्ठन्महाघोषः पुष्पवृष्टिभिरावृतः॥ ४९॥

तदनन्तर आकाशमें फूलोंकी वर्षाके साथ देव-दुन्दुभियोंका तुमुल नाद बड़े जोरसे गूँज उठा॥ ४९॥

समवेत्य च देवानां गणाः पार्थमपूजयन्।
काद्रवेया वैनतेया गन्धर्वाप्सरसस्तथा।
प्रजानां पतयः सर्वे सप्त चैव महर्षयः॥ ५०॥
भरद्वाजः कश्यपो गौतमश्च
विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः।
यश्चोदितो भास्करेऽभूत् प्रणष्टे
सोऽप्यत्रात्रिर्भगवानाजगाम॥ ५१॥

फिर झुंड-के-झुंड देवता वहाँ एकत्र होकर अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे। कद्रूके पुत्र (नाग), विनताके पुत्र (गरुड़ पक्षी), गन्धर्व, अप्सराएँ, प्रजापति, सप्तर्षिगण—भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ तथा जो नक्षत्रके रूपमें सूर्यास्त होनेके पश्चात् उदित होते हैं, वे भगवान् अत्रि भी वहाँ आये॥ ५०-५१॥

मरीचिरङ्गिराश्चैव पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
दक्षः प्रजापतिश्चैव गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ५२ ॥

मरीचि और अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं प्रजापति दक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी आयीं ॥ ५२ ॥

दिव्यमाल्याम्बरधराः सर्वालंकारभूषिताः।
उपगायन्ति बीभत्सुं नृत्यन्तेऽप्सरसां गणाः ॥ ५३ ॥

उन सबने दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण कर रक्खे थे। वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे। अप्सराओंका पूरा दल वहाँ जुट गया था। वे सभी अर्जुनके गुण गाने और नृत्य करने लगीं ॥ ५३ ॥

तथा महर्षयश्चापि जेपुस्तत्र समन्ततः।
गन्धर्वैः सहितः श्रीमान् प्रागायत च तुम्बुरुः ॥ ५४ ॥

महर्षि भी वहाँ सब ओर खड़े होकर माङ्गलिक मन्त्रोंका जप करने लगे। गन्धर्वोंके साथ श्रीमान् तुम्बुरुने मधुर स्वरसे गीत गाना प्रारम्भ किया ॥ ५४ ॥

भीमसेनोग्रसेनौ च ऊर्णायुरनघस्तथा।
गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चास्तथाष्टमः ॥ ५५ ॥
युगपस्तृणपः कार्ष्णिर्नन्दिश्चित्ररथस्तथा।
त्रयोदशः शालिशिराः पर्जन्यश्च चतुर्दशः ॥ ५६ ॥
कलिः पञ्चदशश्चैव नारदश्चात्र षोडशः।
ऋत्वा बृहत्त्वा बृहकः करालश्च महामनाः ॥ ५७ ॥
ब्रह्मचारी बहुगुणः सुवर्णश्चेति विश्रुतः।
विश्वावसुर्भुमन्युश्च सुचन्द्रश्च शरुस्तथा ॥ ५८ ॥
गीतमाधुर्यसम्पन्नौ विख्यातौ च हहाहुहू।
इत्येते देवगन्धर्वा जग्मुस्तत्र नराधिप ॥ ५९ ॥

भीमसेन तथा उग्रसेन, ऊर्णायु और अनघ, गोपति एवं धृतराष्ट्र, सूर्यवर्चा तथा आठवें युगप, तृणप, कार्ष्णि, नन्दि एवं चित्ररथ, तेरहवें शालिशिरा और चौदहवें पर्जन्य, पंद्रहवें कलि और सोलहवें नारद, ऋत्वा और बृहत्त्वा, बृहक एवं महामना कराल, ब्रह्मचारी तथा विख्यात गुणवान् सुवर्ण, विश्वावसु एवं भुमन्यु, सुचन्द्र और शरु तथा गीतमाधुर्यसे सम्पन्न सुविख्यात हाहा और हूहू—राजन्! ये सब देवगन्धर्व वहाँ पधारे थे ॥ ५५—५९ ॥

तथैवाप्सरसो हृष्टाः सर्वालंकारभूषिताः।
ननृतुर्वै महाभागा जगुश्चायतलोचनाः ॥ ६० ॥

इसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बड़े-बड़े नेत्रोंवाली परम सौभाग्यशालिनी अप्सराएँ भी हर्षोल्लासमें भरकर वहाँ नृत्य करने लगीं ॥ ६० ॥

अनूचानानवद्या च गुणमुख्या गुणावरा।
अद्रिका च तथा सोमा मिश्रकेशी त्वलम्बुषा ॥ ६१ ॥
मरीचिः शुचिका चैव विद्युत्पर्णा तिलोत्तमा।
अम्बिका लक्षणा क्षेमा देवी रम्भा मनोरमा ॥ ६२ ॥
असिता च सुबाहुश्च सुप्रिया च वपुस्तथा।
पुण्डरीका सुगन्धा च सुरसा च प्रमाथिनी ॥ ६३ ॥
काम्या शारद्वती चैव ननृतुस्तत्र सङ्घशः।
मेनका सहजन्या च कर्णिका पुञ्जिकस्थला ॥ ६४ ॥
ऋतुस्थला घृताची च विश्वाची पूर्वचित्त्यपि।
उम्लोचेति च विख्याता प्रम्लोचेति च ता दश ॥ ६५ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अनूचाना और अनवद्या, गुणमुख्या एवं गुणावरा, अद्रिका तथा सोमा, मिश्रकेशी और अलम्बुषा, मरीचि और शुचिका, विद्युत्पर्णा, तिलोत्तमा, अम्बिका, लक्षणा, क्षेमा, देवी, रम्भा, मनोरमा, असिता और सुबाहु, सुप्रिया एवं वपु, पुण्डरीका एवं सुगन्धा, सुरसा और प्रमाथिनी, काम्या तथा शारद्वती आदि। ये झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नाचने लगीं। इनमें मेनका, सहजन्या, कर्णिका और पुञ्जिकस्थला, ऋतुस्थला एवं घृताची, विश्वाची और पूर्वचित्ति, उम्लोचा और प्रम्लोचा—ये दस विख्यात हैं ॥ ६१—६५ ॥

उर्वश्येकादशी तासां जगुश्चायतलोचनाः।
धातार्यमा च मित्रश्च वरुणोंऽशो भगस्तथा ॥ ६६ ॥
इन्द्रो विवस्वान् पूषा च त्वष्टा च सविता तथा।
पर्जन्यश्चैव विष्णुश्च आदित्या द्वादश स्मृताः।
महिमानं पाण्डवस्य वर्धयन्तोऽम्बरे स्थिताः ॥ ६७ ॥

इन्हीं प्रधान अप्सराओंकी श्रेणीमें ग्यारहवीं उर्वशी है। ये सभी विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ वहाँ गीत गाने लगीं। धाता और अर्यमा, मित्र और वरुण, अंश एवं भग, इन्द्र, विवस्वान् और पूषा, त्वष्टा एवं सविता, पर्जन्य तथा विष्णु—ये बारह[1] आदित्य माने गये हैं। ये सभी पाण्डुनन्दन अर्जुनका महत्त्व बढ़ाते हुए आकाशमें खड़े थे ॥ ६६-६७ ॥

मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः।
अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परंतप ॥ ६८ ॥
दहनोऽथेश्वरश्चैव कपाली च विशाम्पते।
स्थाणुर्भगश्च भगवान् रुद्रास्तत्रावतस्थिरे ॥ ६९ ॥

शत्रुदमन महाराज! मृगव्याध और सर्प, महायशस्वी निर्ऋति एवं अजैकपाद, अहिर्बुध्न्य और पिनाकी, दहन तथा ईश्वर, कपाली एवं स्थाणु तथा भगवान् भग—ये ग्यारह रुद्र भी वहाँ आकाशमें आकर खड़े थे ॥ ६८-६९ ॥

अश्विनौ वसवश्चाष्टौ मरुतश्च महाबलाः।
विश्वेदेवास्तथा साध्यास्तत्रासन् परितः स्थिताः ॥ ७० ॥

दोनों अश्विनीकुमार तथा आठों वसु, महाबली मरुद्गण एवं विश्वेदेवगण तथा साध्यगण वहाँ सब ओर विद्यमान थे ॥ ७० ॥

१. यहाँ आदित्योंके तेरह नाम हैं। जान पड़ता है, बारह महीनोंके बारह आदित्य और अधिमास या मलमासके प्रकाशक तेरहवें विष्णु हैं। इसीलिये उसे पुरुषोत्तममास कहते हैं। अधिमासकी पृथक् गणना न होनेसे बारह मासोंके प्रकाशक आदित्य बारह ही कहे गये हैं।

कर्कोटकोऽथ सर्पश्च वासुकिश्च भुजङ्गमः ।
कश्यपश्चाथ कुण्डश्च तक्षकश्च महोरगः ॥ ७१ ॥
आययुस्तपसा युक्ता महाक्रोधा महाबलाः ।
एते चान्ये च बहवस्तत्र नागा व्यवस्थिताः ॥ ७२ ॥

कर्कोटक सर्प तथा वासुकि नाग, कश्यप और कुण्ड, महानाग और तक्षक—ये तथा और भी बहुत-से महाबली, महाक्रोधी और तपस्वी नाग वहाँ आकर खड़े थे ॥ ७१-७२ ॥

तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च गरुडश्चासितध्वजः ।
अरुणश्चारुणिश्चैव वैनतेया व्यवस्थिताः ॥ ७३ ॥

तार्क्ष्य और अरिष्टनेमि, गरुड एवं असितध्वज, अरुण तथा आरुणि–विनताके ये पुत्र भी उस उत्सवमें उपस्थित थे ॥ ७३ ॥

तांश्च देवगणान् सर्वांस्तपःसिद्धा महर्षयः ।
विमानगिर्यग्रगतान् ददृशुर्नेतरे जनाः ॥ ७४ ॥

वे सब देवगण विमान और पर्वतके शिखरपर खड़े थे। उन्हें तपःसिद्ध महर्षि ही देख पाते थे, दूसरे लोग नहीं ॥ ७४ ॥

तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं विस्मिता मुनिसत्तमाः ।
अधिकां स्म ततो वृत्तिमवर्तन् पाण्डवान् प्रति ॥ ७५ ॥

वह महान् आश्चर्य देखकर वे श्रेष्ठ मुनिगण बड़े विस्मयमें पड़े । तबसे पाण्डवोंके प्रति उनमें अधिक प्रेम और आदरका भाव पैदा हो गया ॥ ७५ ॥

पाण्डुस्तु पुनरेवैनां पुत्रलोभान्महायशाः ।
वक्तुमैच्छद् धर्मपत्नीं कुन्ती त्वेनमथाब्रवीत् ॥ ७६ ॥

तदनन्तर महायशस्वी राजा पाण्डु पुत्र-लोभसे आकृष्ट हो अपनी धर्मपत्नी कुन्तीसे फिर कुछ कहना चाहते थे, किंतु कुन्ती उन्हें रोकती हुई बोली—॥ ७६ ॥

नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अतः परं स्वैरिणी स्याद् बन्धकी पञ्चमे भवेत् ॥ ७७ ॥

'आर्यपुत्र ! आपत्तिकालमें भी तीनसे अधिक चौथी संतान उत्पन्न करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। इस विधिके द्वारा तीन-से अधिक चौथी संतान चाहनेवाली स्त्री स्वैरिणी होती है और पाँचवें पुत्रके उत्पन्न होनेपर तो वह कुलटा समझी जाती है ॥

स त्वं विद्वन् धर्ममिममधिगम्य कथं नु माम् ।
अपत्यार्थं समुत्क्रम्य प्रमादादिव भाषसे ॥ ७८ ॥

'विद्वन् ! आप धर्मको जानते हुए भी प्रमादसे कहनेवालेके समान धर्मका लोप करके अब फिर मुझे संतानोत्पत्तिके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं' ॥ ७८ ॥

(पाण्डुरुवाच
एवमेतद् धर्मशास्त्रं यथा वदसि तत् तथा ।)

पाण्डुने कहा—प्रिये ! वास्तवमें धर्मशास्त्रका ऐसा ही मत है । तुम जो कुछ कहती हो, वह ठीक है ।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ८८½ श्लोक हैं ।)

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

नकुल और सहदेवकी उत्पत्ति तथा पाण्डु-पुत्रोंके नामकरण-संस्कार

वैशम्पायन उवाच

कुन्तीपुत्रेषु जातेषु धृतराष्ट्रात्मजेषु च ।
मद्रराजसुता पाण्डुं रहो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब कुन्तीके तीन पुत्र उत्पन्न हो गये और धृतराष्ट्रके भी सौ पुत्र हो गये, तब माद्रीने पाण्डुसे एकान्तमें कहा—॥ १ ॥

न मेऽस्ति त्वयि संतापो विगुणेऽपि परंतप ।
नावरत्वे वरार्हायाः स्थित्वा चानघ नित्यदा ॥ २ ॥
गान्धार्याश्चैव नृपते जातं पुत्रशतं तथा ।
श्रुत्वा न मे तथा दुःखमभवत् कुरुनन्दन ॥ ३ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले निष्पाप कुरुनन्दन ! आप संतान उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित हो गये, आपकी इस न्यूनता या दुर्बलताको लेकर मेरे मनमें कोई संताप नहीं है। यद्यपि मैं सदा कुन्तीदेवीकी अपेक्षा श्रेष्ठ होनेके कारण पटरानीके पदपर बैठनेकी अधिकारिणी थी;तो भी जो सदा मुझे छोटी बनकर रहना पड़ता है, इसके लिये भी मुझे कोई दुःख नहीं है। राजन् ! गान्धारी तथा राजा धृतराष्ट्रके जो सौ पुत्र हुए हैं, वह समाचार सुनकर भी मुझे वैसा दुःख नहीं हुआ था ॥ २-३ ॥

इदं तु मे महद् दुःखं तुल्यतायामपुत्रता ।
दिष्ट्या त्विदानीं भर्तुर्मे कुन्त्यामप्यस्ति संततिः ॥ ४ ॥

'परंतु इस बातका मेरे मनमें बहुत दुःख है कि मैं और कुन्तीदेवी दोनों समानरूपसे आपकी पत्नियाँ हैं, तो भी उन्हें तो पुत्र हुआ और मैं संतानहीन ही रह गयी। यह सौभाग्यकी बात है कि इस समय मेरे प्राणनाथको कुन्तीके गर्भसे पुत्रकी प्राप्ति हो गयी है ॥ ४ ॥

यदि त्वपत्यसंतानं कुन्तिराजसुता मयि ।
कुर्यादनुग्रहो मे स्यात् तव चापि हितं भवेत् ॥ ५ ॥

'यदि कुन्तिराजकुमारी मेरे गर्भसे भी कोई संतान उत्पन्न

करा सकें, तो यह उनका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह होगा और इससे आपका भी हित हो सकता है ॥ ५ ॥

संरम्भो हि सपत्नीत्वाद् वक्तुं कुन्तिसुतां प्रति ।
यदि तु त्वं प्रसन्नो मे स्वयमेनां प्रचोदय ॥ ६ ॥

'सौत होनेके कारण मेरे मनमें एक अभिमान है, जो कुन्तीदेवीसे कुछ निवेदन करनेमें बाधक हो रहा है; अतः यदि आप मुझपर प्रसन्न हों तो आप स्वयं ही मेरे लिये कुन्तीदेवीको प्रेरित कीजिये' ॥ ६ ॥

पाण्डुरुवाच

ममाप्येष सदा माद्रि हृद्यर्थः परिवर्तते ।
न तु त्वां प्रसहे वक्तुमिष्टानिष्टविवक्षया ॥ ७ ॥

पाण्डु बोले—माद्री ! यह बात मेरे मनमें भी निरन्तर घूमती रहती है, किंतु इस विषयमें तुमसे कुछ कहनेका साहस नहीं होता था; क्योंकि पता नहीं, तुम यह प्रस्ताव सुनकर प्रसन्न होओगी या बुरा मान जाओगी । यह संदेह बराबर बना रहता था ॥ ७ ॥

तव त्विदं मतं मत्वा प्रयतिष्याम्यतः परम् ।
मन्ये ध्रुवं मयोक्ता सा वचनं प्रतिपत्स्यते ॥ ८ ॥

परंतु आज इस विषयमें तुम्हारी सम्मति जानकर अब मैं इसके लिये प्रयत्न करूँगा । मुझे विश्वास है, मेरे कहनेपर कुन्तीदेवी निश्चय ही मेरी बात मान लेंगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीं पुनः पाण्डुर्विविक्त इदमब्रवीत् ।
कुलस्य मम संतानं लोकस्य च कुरु प्रियम् ॥ ९ ॥
मम चापिण्डनाशाय पूर्वेषामपि चात्मनः ।
मत्प्रियार्थं च कल्याणि कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा पाण्डुने एकान्तमें कुन्तीसे यह बात कही—'कल्याणि ! मेरी कुल-परम्पराका विच्छेद न हो और सम्पूर्ण जगत्‌का प्रिय हो, ऐसा कार्य करो । मेरे तथा अपने पूर्वजोंके लिये पिण्डका अभाव न हो और मेरा भी प्रिय हो, इसके लिये तुम परम उत्तम कल्याणमय कार्य करो ॥ ९-१० ॥

यशसोऽर्थाय चैव त्वं कुरु कर्म सुदुष्करम् ।
प्राप्याधिपत्यमिन्द्रेण यज्ञैरिष्टं यशोऽर्थिना ॥ ११ ॥

'अपने यशका विस्तार करनेके लिये तुम अत्यन्त दुष्कर कर्म करो, जैसे इन्द्रने स्वर्गका साम्राज्य प्राप्त कर लेनेके बाद भी केवल यशकी कामनासे अनेकानेक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ ११ ॥

तथा मन्त्रविदो विप्रास्तपस्तप्त्वा सुदुष्करम् ।
गुरूनभ्युपगच्छन्ति यशसोऽर्थाय भाविनि ॥ १२ ॥

'भामिनि ! मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण अत्यन्त कठोर तपस्या करके भी यशके लिये गुरुजनोंकी शरण ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

तथा राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणाश्च तपोधनाः ।
चक्रुरुच्चावचं कर्म यशसोऽर्थाय दुष्करम् ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण राजर्षियों तथा तपस्वी ब्राह्मणोंने भी यशके लिये छोटे-बड़े कठिन कर्म किये हैं ॥ १३ ॥

सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव तारयैनामनिन्दिते ।
अपत्यसंविभागेन परां कीर्तिमवाप्नुहि ॥ १४ ॥

'अनिन्दिते ! इसी प्रकार तुम भी इस माद्रीको नौकापर बिठाकर पार लगा दो; इसे भी संतति देकर उत्तम यश प्राप्त करो' ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्रीं सकृच्चिन्तय दैवतम् ।
तस्मात् ते भवितापत्यमनुरूपमसंशयम् ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज पाण्डुके यों कहनेपर कुन्तीने माद्रीसे कहा—'तुम एक बार किसी देवताका चिन्तन करो, उससे तुम्हें योग्य संतानकी प्राप्ति होगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ १५ ॥

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ।
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥ १६ ॥

तब माद्रीने मन-ही-मन कुछ विचार करके दोनों अश्विनीकुमारोंका स्मरण किया । तब उन दोनोंने आकर माद्रीके गर्भसे दो जुड़वें पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

नकुलं सहदेवं च रूपेणाप्रतिमौ भुवि ।
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ॥ १७ ॥

उनमेंसे एकका नाम नकुल था और दूसरेका सहदेव । पृथ्वीपर सुन्दर रूपमें उन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं था । पहलेकी तरह उन दोनों यमल संतानोंके विषयमें भी आकाशवाणीने कहा—॥ १७ ॥

सत्त्वरूपगुणोपेतौ भवतोऽत्यश्विनाविति ।
भासतस्तेजसात्यर्थं रूपद्रविणसम्पदा ॥ १८ ॥

'ये दोनों बालक अश्विनीकुमारोंसे भी बढ़कर बुद्धि, रूप और गुणोंसे सम्पन्न होंगे । अपने तेज तथा बढ़ी-चढ़ी रूपसम्पत्तिके द्वारा ये दोनों सदा प्रकाशित रहेंगे' ॥ १८ ॥

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशाम्पते ॥ १९ ॥

तदनन्तर शतशृङ्गनिवासी ऋषियोंने उन सबके नामकरण-संस्कार किये । उन्हें आशीर्वाद देते हुए उनकी भक्ति और कर्मके अनुसार उनके नाम रक्खे ॥ १९ ॥

ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥ २० ॥

कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर, मझलेका नाम भीमसेन और तीसरेका नाम अर्जुन रक्खा गया ॥ २० ॥

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥ २१ ॥

उन प्रसन्नचित्त ब्राह्मणोंने माद्रीपुत्रोंमेंसे जो पहले उत्पन्न हुआ, उसका नाम नकुल और दूसरेका सहदेव निश्चित किया ॥

अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्च संवत्सरा इव ॥ २२ ॥

वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डवगण प्रतिवर्ष एक-एक करके उत्पन्न हुए थे, तो भी देवस्वरूप होनेके कारण पाँच संवत्सरोंकी भाँति एक-से सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

महासत्त्वा महावीर्या महाबलपराक्रमाः ।
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान् महौजसः ॥ २३ ॥
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ।
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृङ्गनिवासिनाम् ॥ २४ ॥
प्रिया बभूवुस्तासां च तथैव मुनियोषिताम् ।
कुन्तीमथ पुनः पाण्डुर्माद्र्यर्थे समचोदयत् ॥ २५ ॥

वे सभी महान् धैर्यशाली, अधिक वीर्यवान्, महाबली और पराक्रमी थे । उन देवस्वरूप महान् तेजस्वी पुत्रोंको देखकर महाराज पाण्डुको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे आनन्दमें मग्न हो गये । वे सभी बालक शतशृङ्गनिवासी समस्त मुनियों और मुनिपत्नियोंके प्रिय थे । तदनन्तर पाण्डुने माद्रीसे संतानकी उत्पत्ति करानेके लिये कुन्तीको पुनः प्रेरित किया ॥२३–२५॥

तमुवाच पृथा राजन् रहस्युक्ता तदा सती ।
उक्ता सकृद् द्वन्द्वमेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ॥ २६ ॥

राजन् ! जब एकान्तमें पाण्डुने कुन्तीसे वह बात कही, तब सती कुन्ती पाण्डुसे इस प्रकार बोली—'महाराज ! मैंने इसे एक पुत्रके लिये नियुक्त किया था, किंतु इसने दो पा लिये । इससे मैं ठगी गयी ॥ २६ ॥

बिभेम्यस्याः परिभवात् कुस्त्रीणां गतिरीदृशी ।
नाज्ञासिषमहं मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ॥ २७ ॥
तस्मान्नाहं नियोक्तव्या त्वयैवोऽस्तु वरो मम ।
एवं पाण्डोः सुताः पञ्च देवदत्ता महाबलाः ॥ २८ ॥
सम्भूताः कीर्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्धनाः ।
शुभलक्षणसम्पन्नाः सोमवत् प्रियदर्शनाः ॥ २९ ॥

'अब तो मैं इसके द्वारा मेरा तिरस्कार न हो जाय, इस बातके लिये डरती हूँ । खोटी स्त्रियोंकी ऐसी ही गति होती है । मैं ऐसी मूर्खा हूँ कि मेरी समझमें यह बात नहीं आयी कि दो देवताओंके आवाहनसे दो पुत्ररूप फलकी प्राप्ति होती है । अतः राजन् ! अब मुझे इसके लिये आप इस कार्यमें नियुक्त न कीजिये । मैं आपसे यही वर माँगती हूँ ।' इस प्रकार पाण्डुके देवताओंके दिये हुए पाँच महाबली पुत्र उत्पन्न हुए, जो यशस्वी होनेके साथ ही कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाले और उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे । चन्द्रमाकी भाँति उनका दर्शन सबको प्रिय लगता था ॥ २७–२९ ॥

सिंहदर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।
सिंहग्रीवा मनुष्येन्द्रा ववृधुर्देवविक्रमाः ॥ ३० ॥
विवर्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३१ ॥

उनका अभिमान सिंहके समान था, वे बड़े-बड़े धनुष धारण करते थे । उनकी चाल-ढाल भी सिंहके ही समान थी। देवताओंके समान पराक्रमी तथा सिंहकी-सी गर्दनवाले वे नरश्रेष्ठ बढ़ने लगे । उस पुण्यमय हिमालयके शिखरपर पलते और पुष्ट होते हुए वे पाण्डुपुत्र वहाँ एकत्र होनेवाले महर्षियोंको आश्चर्यचकित कर देते थे ॥ ३०-३१ ॥

(जातमात्रानुपादाय शतशृङ्गनिवासिनः ।
पाण्डोः पुत्रानमन्यन्त तापसाः स्वानिवात्मजान्॥
ततस्तु वृष्णयः सर्वे वसुदेवपुरोगमाः ।
पाण्डुः शापभयाद् भीतः शतशृङ्गमुपेयिवान् ।
तत्रैव मुनिभिः सार्धं तापसोऽभूत् तपश्चरन् ॥
शाकमूलफलाहारस्तपस्वी नियतेन्द्रियः ।
ध्यानयोगपरो राजा बभूवेति च वादकाः ॥
प्रब्रुवन्ति स्म बहवस्तच्छ्रुत्वा शोककर्शिताः ।
पाण्डोः प्रीतिसमायुक्ताः कदा श्रोष्याम सत्कथाः॥
इत्येवं कथयन्तस्ते वृष्णयः सह बान्धवैः ।
पाण्डोः पुत्रागमं श्रुत्वा सर्वे हर्षसमन्विताः ॥
सभाजयन्तस्तेऽन्योन्यं वसुदेवं वचोऽब्रुवन् ।

शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनि पाण्डुके पुत्रोंको जन्मकालसे ही संरक्षणमें लेकर अपने औरस पुत्रोंकी भाँति उनका लाड़-प्यार करते थे । उधर द्वारकामें वसुदेव आदि सब वृष्णिवंशी राजा पाण्डुके विषयमें इस प्रकार विचार कर रहे थे—'अहो ! राजा पाण्डु किंदम मुनिके शापसे भयभीत हो शतशृङ्ग पर्वतपर चले गये हैं और वहाँ ऋषि-मुनियोंके साथ तपस्यामें तत्पर हो पूरे तपस्वी बन गये हैं । वे शाक, मूल और फल भोजन करते हैं, तपमें लगे रहते हैं, इन्द्रियोंको काबूमें रखते हैं और सदा ध्यानयोगका ही साधन करते हैं, ये बातें बहुत-से संदेश-वाहक मनुष्य बता रहे थे ।' यह समाचार सुनकर प्रायः सभी यदुवंशी उनके प्रेमी होनेके नाते शोकमग्न रहते थे । वे सोचते थे—'कब हमें महाराज पाण्डुका शुभ संवाद सुननेको मिलेगा ।' एक दिन अपने भाई-बन्धुओंके साथ बैठकर सब वृष्णिवंशी जब इस प्रकार पाण्डुके विषयमें कुछ बातें कर रहे थे, उसी समय उन्होंने पाण्डुके पुत्र होनेका समाचार सुना । सुनते ही सब-के-सब हर्षविभोर हो उठे और परस्पर सद्भाव प्रकट करते हुए वसुदेवजीसे इस प्रकार बोले—

वृष्णय ऊचुः

न भवेरन् क्रियाहीनाः पाण्डोः पुत्रा महायशः ।
पाण्डोः प्रियहितान्वेषी प्रेषय त्वं पुरोहितम् ॥

वृष्णियोंने कहा—महायशस्वी वसुदेवजी ! हम चाहते हैं कि राजा पाण्डुके पुत्र संस्कारहीन न हों; अतः आप पाण्डुके प्रिय और हितकी इच्छा रखकर उनके पास किसी पुरोहितको भेजिये ॥

वैशम्पायन उवाच

वसुदेवस्तथेत्युक्त्वा विससर्ज पुरोहितम् ।
युक्तानि च कुमाराणां पारिबर्हाण्यनेकशः ॥
कुन्तीं माद्रीं च संदिश्य दासीदासपरिच्छदम् ।
गाश्च रौप्यं हिरण्यं च प्रेषयामास भारत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'बहुत अच्छा' कहकर वसुदेवजीने पुरोहितको भेजा; साथ ही उन कुमारोंके लिये उपयोगी अनेक प्रकारकी वस्त्राभूषण-सामग्री भी भेजी । कुन्ती और माद्रीके लिये भी दासी, दास, वस्त्राभूषण आदि आवश्यक सामान, गौएँ, चाँदी और सुवर्ण भिजवाये ॥

तानि सर्वाणि संगृह्य प्रययौ स पुरोहितः ।
तमागतं द्विजश्रेष्ठं काश्यपं वै पुरोहितम् ॥
पूजयामास विधिवत् पाण्डुः परपुरञ्जयः ।
पृथा माद्री च संहृष्टे वसुदेवं प्रशंसताम् ॥

उन सब सामग्रियोंको एकत्र करके अपने साथ ले पुरोहितने वनको प्रस्थान किया । शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले राजा पाण्डुने पुरोहित द्विजश्रेष्ठ काश्यपके आनेपर उनका विधिपूर्वक पूजन किया । कुन्ती और माद्रीने प्रसन्न होकर वसुदेवजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

ततः पाण्डुः क्रियाः सर्वाः पाण्डवानामकारयत् ।
गर्भाधानादिकृत्यानि चौलोपनयनानि च ॥
काश्यपः कृतवान् सर्वमुपाकर्म च भारत ।
चौलोपनयनादूर्ध्वमृषभाक्षा यशस्विनः ॥
वैदिकाध्ययने सर्वे समपद्यन्त पारगाः ।

तब पाण्डुने अपने पुत्रोंके गर्भाधानसे लेकर चूडाकरण और उपनयनतक सभी संस्कार-कर्म करवाये । भारत ! पुरोहित काश्यपने उनके सब संस्कार सम्पन्न किये । बैलोंके समान बड़े-बड़े नेत्रोंवाले वे यशस्वी पाण्डव चूडाकरण और उपनयनके पश्चात् उपाकर्म करके वेदाध्ययनमें लगे और उसमें पारंगत हो गये ॥

शर्यातेः पृषतः पुत्रः शुको नाम परंतपः ॥
येन सागरपर्यन्ता धनुषा निर्जिता मही ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा स महात्मा महामखैः ॥
आराध्य देवताः सर्वाः पितॄनपि महामतिः ।
शतश‍ृङ्गे तपस्तेपे शाकमूलफलाशनः ॥
तेनोपकरणश्रेष्ठैः शिक्षया चोपबृंहिताः ।
तत्प्रसादाद् धनुर्वेदे समपद्यन्त पारगाः ॥

भारत ! शर्यातिवंशजके एक पुत्र पृषत् थे, जिनका नाम था शुक । वे अपने पराक्रमसे शत्रुओंको संतप्त करनेवाले थे । उन शुकने किसी समय अपने धनुषके बलसे जीतकर समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर अधिकार कर लिया था । अश्वमेध-जैसे सौ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान एवं सम्पूर्ण देवताओं तथा पितरोंकी आराधना करके परम बुद्धिमान् महात्मा राजा शुक शतश‍ृङ्ग पर्वतपर आकर शाक और फल-मूलका आहार करते हुए तपस्या करने लगे । उन्हीं तपस्वी नरेशने श्रेष्ठ उपकरणों और शिक्षाके द्वारा पाण्डवोंकी योग्यता बढ़ायी । राजर्षि शुकके कृपा-प्रसादसे सभी पाण्डव धनुर्वेदमें पारंगत हो गये ॥

गदायां पारगो भीमस्तोमरेषु युधिष्ठिरः ।
असिचर्मणि निष्णातौ यमौ सत्त्ववतां वरौ ॥
धनुर्वेदे गतः पारं सव्यसाची परंतपः ।
शुकेन समनुज्ञातो मत्समोऽयमिति प्रभो ।
अनुज्ञाय ततो राजा शक्तिं खड्गं तथा शरान् ॥
धनुश्च ददतां श्रेष्ठः तालमात्रं महाप्रभम् ।
विपाठक्षुरनाराचान् गृध्रपत्रानलंकृतान् ॥
ददौ पार्थाय संहृष्टो महोरगसमप्रभान् ।
अवाप्य सर्वशस्त्राणि मुदितो वासवात्मजः ॥
मेने सर्वान् महीपालान् अपर्याप्तान् स्वतेजसः ।

भीमसेन गदा-संचालनमें पारंगत हुए और युधिष्ठिर तोमर फेंकनेमें । धैर्यवान् और शक्तिशाली पुरुषोंमें श्रेष्ठ दोनों माद्रीपुत्र ढाल-तलवार चलानेकी कलामें निपुण हुए । परंतप सव्यसाची अर्जुन धनुर्वेदके पारगामी विद्वान् हुए । राजन् ! जब दाताओंमें श्रेष्ठ शुकने जान लिया कि अर्जुन मेरे समान धनुर्वेदके ज्ञाता हो गये, तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर शक्ति, खड्ग, बाण, ताड़के समान विशाल अत्यन्त चमकीला धनुष तथा विपाठ, क्षुर एवं नाराच अर्जुनको दिये । विपाठ आदि सभी प्रकारके बाण गीधकी पाँखोंसे युक्त तथा अलंकृत थे । वे देखनेमें बड़े-बड़े सर्पोंके समान जान पड़ते थे । इन सब अस्त्र-शस्त्रोंको पाकर इन्द्रपुत्र अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे यह अनुभव करने लगे कि भूमण्डलके कोई भी नरेश तेजमें मेरी समानता नहीं कर सकते ॥

एकवर्षान्तरास्त्वेवं परस्परमरिंदमाः ।
अन्ववर्धन्त पार्थाश्च माद्रीपुत्रौ तथैव च ॥)

शत्रुदमन पाण्डवोंकी आयुमें परस्पर एक-एक वर्षका अन्तर था । कुन्ती और माद्री दोनों देवियोंके पुत्र दिन-दिन बढ़ने लगे ॥

ते च पञ्च शतं चैव कुरुवंशविवर्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ ३२ ॥

फिर तो जैसे जलमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले जो एक सौ पाँच बालक हुए थे, वे सब थोड़े ही समयमें बढ़कर सयाने हो गये ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डवोत्पत्तौ त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डवोंकी उत्पत्तिविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३ श्लोक मिलाकर कुल ५५ श्लोक हैं ।)

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा पाण्डुकी मृत्यु और माद्रीका उनके साथ चितारोहण

वैशम्पायन उवाच

दर्शनीयांस्ततः पुत्रान् पाण्डुः पञ्च महावने ।
तान् पश्यन् पर्वते रम्ये स्वबाहुबलमाश्रितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस महान् वनमें रमणीय पर्वत-शिखरपर महाराज पाण्डु उन पाँचों दर्शनीय पुत्रोंको देखते हुए अपने बाहुबलके सहारे प्रसन्नतापूर्वक निवास करने लगे ॥ १ ॥

(पूर्णे चतुर्दशे वर्षे फाल्गुनस्य च धीमतः ।
तदा उत्तरफल्गुन्यां प्रवृत्ते स्वस्तिवाचने ॥
रक्षणे विस्मृता कुन्ती व्यग्रा ब्राह्मणभोजने ।
पुरोहितेन सहिता ब्राह्मणान् पर्यवेषयत् ॥
तस्मिन् काले समाहूय माद्रीं मदनमोहितः ।)
सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधुमाधवे ।
भूतसम्मोहने राजा सभार्यो व्यचरद् वनम् ॥ २ ॥

एक दिनकी बात है, बुद्धिमान् अर्जुनका चौदहवाँ वर्ष पूरा हुआ था । उनकी जन्म-तिथिको उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें ब्राह्मणलोगोंने स्वस्तिवाचन प्रारम्भ किया । उस समय कुन्ती-देवीको महाराज पाण्डुकी देख-भालका ध्यान न रहा । वे ब्राह्मणोंको भोजन करानेमें लग गयीं । पुरोहितके साथ स्वयं ही उनको रसोई परोसने लगीं।इसी समय काममोहित पाण्डु माद्रीको बुलाकर अपने साथ ले गये । उस समय चैत्र और वैशाखके महीनोंकी संधिका समय था, समूचा वन भाँति-भाँतिके सुन्दर पुष्पोंसे अलंकृत हो अपनी अनुपम शोभासे समस्त प्राणियोंको मोहित कर रहा था, राजा पाण्डु अपनी छोटी रानीके साथ वनमें विचरने लगे ॥ २ ॥

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्पसमृद्धिभिः ॥ ३ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत् सम्प्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ४ ॥

पलाश, तिलक, आम, चम्पा, पारिभद्रक तथा और भी बहुत-से वृक्ष फल-फूलोंकी समृद्धिसे भरे हुए थे, जो उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे । नाना प्रकारके जलाशयों तथा कमलोंसे सुशोभित उस वनकी मनोहर छटा देखकर राजा पाण्डुके मनमें कामका संचार हो गया ॥ ३-४ ॥

प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभ्रती शुभम् ॥ ५ ॥

वे मनमें हर्षोल्लास भरकर देवताकी भाँति वहाँ विचर रहे थे । उस समय माद्री सुन्दर वस्त्र पहिने अकेली उनके पीछे-पीछे जा रही थी ॥ ५ ॥

समीक्षमाणः स तु तां वयःस्थां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥ ६ ॥

वह युवावस्थासे युक्त थी और उसके शरीरपर झीनी-झीनी साड़ी सुशोभित थी । उसकी ओर देखते ही पाण्डुके मनमें कामनाकी आग जल उठी, मानो घने वनमें दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी हो ॥ ६ ॥

रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीवलोचनाम् ।
न शशाक नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥ ७ ॥

एकान्त प्रदेशमें कमलनयनी माद्रीको अकेली देखकर राजा कामका वेग रोक न सके, वे पूर्णतः कामदेवके अधीन हो गये थे ॥ ७ ॥

तत एनां बलाद् राजा निजग्राह रहो गताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥ ८ ॥

अतः एकान्तमें मिली हुई माद्रीको महाराज पाण्डुने बलपूर्वक पकड़ लिया । देवी माद्री राजाकी पकड़से छूटनेके लिये यथाशक्ति चेष्टा करती हुई उन्हें बार-बार रोक रही थी ॥ ८ ॥

स तु कामपरीतात्मा तं शापं नान्वबुध्यत ।
माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद् बलादिव ॥ ९ ॥
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशं गतः ।
शापजं भयमुत्सृज्य विधिना सम्प्रचोदितः ॥ १० ॥

परंतु उनके मनपर तो कामका वेग सवार था; अतः उन्होंने मृगरूपधारी मुनिसे प्राप्त हुए शापका विचार नहीं किया । कुरुनन्दन जनमेजय ! वे कामके वशमें हो गये थे, इसलिये प्रारब्धसे प्रेरित हो शापके भयकी अवहेलना करके स्वयं ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये बलपूर्वक मैथुन करनेकी इच्छा रखकर माद्रीसे लिपट गये ॥ ९-१० ॥

तस्य कामात्मनो बुद्धिः साक्षात् कालेन मोहिता ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रणष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥

साक्षात् कालने कामात्मा पाण्डुकी बुद्धि मोह ली थी । उनकी बुद्धि सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर विचारशक्तिके साथ-साथ स्वयं भी नष्ट हो गयी थी ॥ ११ ॥

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।
पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥ १२ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले परम धर्मात्मा महाराज पाण्डु इस प्रकार अपनी धर्मपत्नी माद्रीसे समागम करके कालके गालमें पड़ गये ॥ १२ ॥

ततो माद्री समालिङ्ग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥ १३ ॥

तब माद्री राजाके शवसे लिपटकर बार-बार अत्यन्त दुःखभरी वाणीमें विलाप करने लगी ॥ १३ ॥

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथागतः ॥ १४ ॥

इतनेमें ही पुत्रोंसहित कुन्ती और दोनों पाण्डुनन्दन माद्रीकुमार एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ राजा पाण्डु मृतकावस्थामें पड़े थे ॥ १४ ॥

ततो माद्र्यब्रवीद् राजन्नार्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वमिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥ १५ ॥

जनमेजय ! यह देख शोकातुर माद्रीने कुन्तीसे कहा—'बहिन ! आप अकेली ही यहाँ आयें। बच्चोंको वहीं रहने दें' ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा ॥ १६ ॥

माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्तीने सब बालकोंको वहीं रोक दिया और 'हाय ! मैं मारी गयी' इस प्रकार आर्तनाद करती हुई सहसा माद्रीके पास आ पहुँची ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणीतले ।
कुन्ती शोकपरीताङ्गी विललाप सुदुःखिता ॥ १७ ॥

आकर उसने देखा, पाण्डु और माद्री धरतीपर पड़े हुए हैं। यह देख कुन्तीके सम्पूर्ण शरीरमें शोकाग्नि व्याप्त हो गयी और वह अत्यन्त दुखी होकर विलाप करने लगी— ॥ १७ ॥

रक्ष्यमाणो मया नित्यं वीरः सततमात्मवान् ।
कथं त्वामत्यतिक्रान्तः शापं जानन् वनौकसः ॥ १८ ॥

'माद्री ! मैं सदा वीर एवं जितेन्द्रिय महाराजकी रक्षा करती आ रही थी । उन्होंने मृगके शापकी बात जानते हुए भी तुम्हारे साथ बलपूर्वक समागम कैसे किया ?॥ १८ ॥

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः ।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ॥ १९ ॥

'माद्री ! तुम्हें तो महाराजकी रक्षा करनी चाहिये थी । तुमने एकान्तमें उन्हें लुभाया क्यों ? ॥ १९ ॥

कथं दीनस्य सततं त्वामासाद्य रहोगताम् ।
तं विचिन्तयतः शापं प्रहर्षः समजायत ॥ २० ॥

'वे तो उस शापका चिन्तन करते हुए सदा दीन और उदास बने रहते थे, फिर तुझको एकान्तमें पाकर उनके मनमें कामजनित हर्ष कैसे उत्पन्न हुआ ? ॥ २० ॥

धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ॥ २१ ॥

'बाह्लीकराजकुमारी ! तुम धन्य हो, मुझसे बड़भागिनी हो; क्योंकि तुमने हर्षोल्लाससे भरे हुए महाराजके मुखचन्द्रका दर्शन किया है' ॥ २१ ॥

माद्र्युवाच

विलपन्त्या मया देवि वार्यमाणेन चासकृत् ।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ॥ २२ ॥

माद्री बोली—महारानी ! मैंने रोते-बिलखते बार-बार महाराजको रोकनेकी चेष्टा की; परंतु वे तो उस शापजनित दुर्भाग्यको मोहके कारण मानो सत्य करना चाहते थे, इसलिये अपने-आपको रोक न सके ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

(तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती शोकाग्नितापिता ।
पपात सहसा भूमौ छिन्नमूल इव द्रुमः ॥
निश्चेष्टा पतिता भूमौ मोहान्नैव चचाल सा ॥
कुन्तीमुत्थाप्य माद्री च मोहेनाविष्टचेतनाम् ।
एह्येहीति तां कुन्तीं दर्शयामास कौरवम् ॥
पादयोः पतिता कुन्ती पुनरुत्थाय भूमिपम् ।
सस्मितेन तु वक्त्रेण गदन्तमिव भारत ।
परिरभ्य तदा मोहाद् विललापाकुलेन्द्रिया ॥
माद्री चापि समालिङ्ग्य राजानं विललाप सा ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माद्रीका यह वचन सुनकर कुन्ती शोकाग्निसे संतप्त हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ी और गिरते ही मूर्च्छा आ जानेके कारण निश्चेष्ट पड़ी रही, हिल-डुल भी न सकी । वह मूर्च्छावश अचेत हो गयी थी । माद्रीने उसे उठाया और कहा—'बहिन ! आइये, आइये !' यों कहकर उसने कुन्तीको कुरुराज पाण्डुका दर्शन कराया। कुन्ती उठकर पुनः महाराज पाण्डुके चरणोंमें गिर पड़ी । महाराजके मुखपर मुसकराहट थी और ऐसा जान पड़ता था मानो वे अभी-अभी कोई बात कहने जा रहे हैं । उस समय मोहवश उन्हें हृदयसे लगाकर कुन्ती विलाप करने लगी। उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयी थीं । इसी प्रकार माद्री भी राजाका आलिङ्गन करके करुण विलाप करने लगी ॥

तं तथाधिगतं पाण्डुमृषयः सह चारणैः ।
अभ्येत्य सहिताः सर्वे शोकादश्रूण्यवर्तयन् ॥
अस्तं गतमिवादित्यं सुशुष्कमिव सागरम् ।
दृष्ट्वा पाण्डुं नरव्याघ्रं शोचन्ति स्म महर्षयः ॥
समानशोका ऋषयः पाण्डवाश्च बभूविरे ।
ते समाश्वासिते विप्रैः विलेपतुरनिन्दिते ॥

इस प्रकार मृत्यु-शय्यापर पड़े हुए पाण्डुके पास चारणोंसहित सभी ऋषि-मुनि जुट आये और शोकवश आँसू बहाने लगे । अस्ताचलको पहुँचे हुए सूर्य तथा एकदम सूखे हुए समुद्रकी भाँति नरश्रेष्ठ पाण्डुको देखकर सभी महर्षि शोकमग्न हो गये । उस समय ऋषियोंको तथा पाण्डुपुत्रोंको समानरूपसे शोकका अनुभव हो रहा था । ब्राह्मणोंने पाण्डुकी दोनों

सती-साध्वी रानियोंको समझा-बुझाकर बहुत आश्वासन दिया, तो भी उनका विलाप बंद नहीं हुआ ॥

कुन्त्युवाच

हा राजन् कस्य नौ हित्वा गच्छसि त्रिदशालयम् ॥
हा राजन् मम मन्दायाः कथं माद्रीं समेत्य वै ।
निधनं प्राप्तवान् राजन् मद्भाग्यपरिसंक्षयात् ॥
युधिष्ठिरं भीमसेनमर्जुनं च यमावुभौ ।
कस्य हित्वा प्रियान् पुत्रान् प्रयातोऽसि विशाम्पते ॥
नूनं त्वां त्रिदशा देवाः प्रतिनन्दन्ति भारत ।
यथा हि तप उग्रं ते चरितं विप्रसंसदि ॥
आवाभ्यां सहितो राजन् गमिष्यसि दिवं शुभम् ।
आजमीढाजमीढानां कर्मणा चरितां गतिम् ॥

कुन्ती बोली—हा ! महाराज ! आप हम दोनोंको किसे सौंपकर स्वर्गलोकमें जा रहे हैं । हाय ! मैं कितनी भाग्यहीना हूँ । मेरे राजा ! आप किस लिये अकेली माद्रीसे मिलकर सहसा कालके गालमें चले गये । मेरा भाग्य नष्ट हो जानेके कारण ही आज यह दिन देखना पड़ा है । प्रजानाथ ! युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेव—इन प्यारे पुत्रोंको किसके जिम्मे छोड़कर आप चले गये ? भारत ! निश्चय ही देवता आपका अभिनन्दन करते होंगे; क्योंकि आपने ब्राह्मणोंकी मण्डलीमें रहकर कठोर तपस्या की है । अजमीढ-कुलनन्दन ! आपके पूर्वजोंने पुण्य-कर्मोंद्वारा जिस गतिको प्राप्त किया है, उसी शुभ स्वर्गीय गतिको आप हम दोनों पत्नियोंके साथ प्राप्त करेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

विलपित्वा भृशं त्वेवं निःसंज्ञे पतिते भुवि ।
युधिष्ठिरमुखाः सर्वे पाण्डवा वेदपारगाः ।
तेऽप्यागत्य पितुर्मूले निःसंज्ञाः पतिता भुवि ॥
पाण्डोः पादौ परिष्वज्य विलपन्ति स्म पाण्डवाः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार अत्यन्त विलाप करके कुन्ती और माद्री दोनों अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़ीं । युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डव वेदविद्यामें पारंगत हो चुके थे, वे भी पिताके समीप आकर संज्ञाशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े । सभी पाण्डव पाण्डुके चरणोंको हृदयसे लगाकर विलाप करने लगे ॥

कुन्त्युवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यम्भाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्तय ॥ २३ ॥
अन्विष्यामीह भर्तारमहं प्रेतवशं गतम् ।
उत्तिष्ठ त्वं विसृज्यैनमिमान् पालय दारकान् ॥ २४ ॥
अवाप्य पुत्राँल्लब्धात्मा वीरपत्नीत्वमर्थये ।

कुन्तीने कहा—माद्री ! मैं इनकी ज्येष्ठ धर्मपत्नी हूँ, अतः धर्मके ज्येष्ठ फलपर भी मेरा ही अधिकार है । जो अवश्यम्भावी बात है, उससे मुझे मत रोको । मैं मृत्युके वशमें पड़े हुए अपने स्वामीका अनुगमन करूँगी । अब तुम इन्हें छोड़कर उठो और इन बच्चोंका पालन करो । पुत्रोंको पाकर मेरा लौकिक मनोरथ पूर्ण हो चुका है; अब मैं पतिके साथ दग्ध होकर वीरपत्नीका पद पाना चाहती हूँ ॥ २३-२४ ॥

माद्रयुवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्तारमपलायिनम् ।
न हि तृप्तास्मि कामानां ज्येष्ठा मामनुमन्यताम् ॥ २५ ॥

माद्री बोली—रणभूमिसे कभी पीठ न दिखानेवाले अपने पतिदेवके साथ मैं ही जाऊँगी; क्योंकि उनके साथ होनेवाले कामभोगसे मैं तृप्त नहीं हो सकी हूँ । आप बड़ी बहिन हैं, इसलिये मुझे आपको आज्ञा प्रदान करनी चाहिये ।२५।

मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद् भरतसत्तमः ।
तमुच्छिन्द्यामस्य कामं कथं नु यमसादने ॥ २६ ॥

ये भरतश्रेष्ठ मेरे प्रति आसक्त हो मुझसे समागम करके मृत्युको प्राप्त हुए हैं; अतः मुझे किसी प्रकार परलोकमें पहुँचकर उनकी उस कामवासनाकी निवृत्ति करनी चाहिये ॥

न चाप्यहं वर्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
वृत्तिमार्ये चरिष्यामि स्पृशेदेनस्तथा च माम् ॥ २७ ॥

आर्ये ! मैं आपके पुत्रोंके साथ अपने सगे पुत्रोंकी भाँति बर्ताव नहीं कर सकूँगी । उस दशामें मुझे पाप लगेगा ॥

तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्तितव्यं स्वपुत्रवत् ।
मां च कामयमानोऽयं राजा प्रेतवशं गतः ॥ २८ ॥

अतः आप ही जीवित रहकर मेरे पुत्रोंका भी अपने पुत्रोंके समान ही पालन कीजियेगा । इसके सिवा ये महाराज मेरी ही कामना रखकर मृत्युके अधीन हुए हैं ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

(ऋषयस्तान् समाश्वास्य पाण्डवान् सत्यविक्रमान् ।
ऊचुः कुन्तीं च माद्रीं च समाश्वास्य तपस्विनः ॥
सुभगे बालपुत्रे तु न मर्तव्यं कथंचन ।
पाण्डवांश्चापि नेष्यामः कुरुराष्ट्रं परंतपान् ॥
अधर्मेष्वर्थजातेषु धृतराष्ट्रश्च लोभवान् ।
स कदाचिन्न वर्तेत पाण्डवेषु यथाविधि ॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
माद्रयाश्च बलिनां श्रेष्ठः शल्यो भ्राता महारथः ॥
भर्त्रा तु मरणं सार्धं फलवन्नात्र संशयः ।
युवाभ्यां दुष्करं चैतद् वदन्ति द्विजपुङ्गवाः ॥
मृते भर्तरि या साध्वी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
यमैश्च नियमैः श्रान्ता मनोवाक्कायजैः शुभैः ॥
व्रतोपवासनियमैः कृच्छ्रैश्चान्द्रायणादिभिः ।
भूशय्यां क्षारलवणवर्जनं चैकभोजनम् ॥

येन केनापि विधिना देहशोषणतत्परा ।
देहपोषणसंयुक्ता विषयैर्हृतचेतना ॥
देहव्ययेन नरकं महदाप्नोत्यसंशयः ।
तस्मात्संशोषयेद् देहं विषया नाशमाप्नुयुः ॥
भर्तारं चिन्तयन्ती सा भर्तारं निस्तरेच्छुभा ।
तारितश्चापि भर्ता स्यादात्मा पुत्रस्तथैव च ॥
तस्माज्जीवितमेवैतद् युवयोर्विद्म शोभनम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर तपस्वी ऋषियोंने सत्यपराक्रमी पाण्डवोंको धीरज बँधाकर कुन्ती और माद्रीको भी आश्वासन देते हुए कहा—'सुभगे ! तुम दोनोंके पुत्र अभी बालक हैं, अतः तुम्हें किसी प्रकार देह-त्याग नहीं करना चाहिये । हमलोग शत्रुदमन पाण्डवोंको कौरव राष्ट्रकी राजधानीमें पहुँचा देंगे । राजा धृतराष्ट्र अधर्ममय धनके लिये लोभ रखता है, अतः वह कभी पाण्डवोंके साथ यथायोग्य बर्ताव नहीं कर सकता । कुन्तीके रक्षक एवं सहायक वृष्णिवंशी और राजा कुन्तिभोज हैं तथा माद्रीके बलवानोंमें श्रेष्ठ महारथी शल्य उसके भाई हैं । इसमें संदेह नहीं कि पतिके साथ मृत्यु स्वीकार करना पत्नीके लिये महान् फलदायक होता है; तथापि तुम दोनोंके लिये यह कार्य अत्यन्त कठोर है, यह बात सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण कहते हैं । जो स्त्री साध्वी होती है, वह अपने पतिकी मृत्यु हो जानेके बाद ब्रह्मचर्यके पालनमें अविचल भावसे लगी रहती है, यम और नियमोंके पालनका क्लेश सहन करती है और मन, वाणी एवं शरीरद्वारा किये जानेवाले शुभ कर्मों तथा कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, उपवास और नियमोंका अनुष्ठान करती है । वह क्षार (पापड़ आदि) और लवणका त्याग करके एक बार ही भोजन करती और भूमिपर शयन करती है । वह जिस किसी प्रकारसे अपने शरीरको सुखानेके प्रयत्नमें लगी रहती है । किंतु विषयोंके द्वारा नष्ट हुई बुद्धिवाली जो नारी देहको पुष्ट करनेमें ही लगी रहती है, वह तो इस (दुर्लभ मनुष्य-) शरीरको व्यर्थ ही नष्ट करके निःसंदेह महान् नरकको प्राप्त होती है । अतः साध्वी स्त्रीको उचित है कि वह अपने शरीरको सुखाये, जिससे सम्पूर्ण विषय-कामनाएँ नष्ट हो जायँ । इस प्रकार उपर्युक्त धर्मका पालन करनेवाली जो शुभलक्षणा नारी अपने पतिदेवका चिन्तन करती रहती है, वह अपने पतिका भी उद्धार कर देती है । इस तरह वह स्वयं अपनेको, अपने पतिको एवं पुत्रको भी संसारसे तार देती है । अतः हमलोग तो यही अच्छा मानते हैं कि तुम दोनों जीवन-धारण करो' ॥

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डोश्च निर्देशः तथा विप्रगणस्य च ।
आज्ञा शिरसि निक्षिप्ता करिष्यामि च तत् तथा ॥
यथाऽऽहुर्भगवन्तो हि तन्मन्ये शोभनं परम् ।
भर्तुश्च मम पुत्राणां मम चैव न संशयः ॥

कुन्ती बोली—महात्माओ ! हमारे लिये महाराज पाण्डुकी आज्ञा जैसे शिरोधार्य है, उसी प्रकार आप सब ब्राह्मणोंकी भी है । आपका आदेश मैं सिर-माथे रखती हूँ । आप जैसा कहेंगे, वैसा ही करूँगी । पूज्यपाद विप्रगण जैसा कहते हैं, उसीको मैं अपने पति, पुत्रों तथा अपने आपके लिये भी परम कल्याणकारी समझती हूँ—इसमें तनिक भी संशय नहीं है ॥

माद्र्युवाच

कुन्ती समर्था पुत्राणां योगक्षेमस्य धारणे ।
अस्या हि न समा बुद्ध्या यद्यपि स्यादरुन्धती ॥
कुन्त्याश्च वृष्णयो नाथाः कुन्तिभोजस्तथैव च ।
नाहं त्वमिव पुत्राणां समर्था धारणे तथा ॥
साहं भर्तारमन्वेष्ये अतृप्ता नन्वहं तथा ।
भर्तृलोकस्य तु ज्येष्ठा देवी मामनुमन्यताम् ॥
धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य सत्यधर्मस्य धीमतः ।
पादौ परिचरिष्यामि तदार्ये ह्यनुमन्यताम् ॥

माद्रीने कहा—कुन्तीदेवी सभी पुत्रोंके योग-क्षेमके निर्वाहमें—पालन-पोषणमें समर्थ हैं । कोई भी स्त्री, चाहे वह अरुन्धती ही क्यों न हो, बुद्धिमें इनकी समानता नहीं कर सकती । वृष्णिवंशके लोग तथा महाराज कुन्तिभोज भी कुन्तीके रक्षक एवं सहायक हैं । बहिन ! पुत्रोंके पालन-पोषणकी शक्ति जैसी आपमें है, वैसी मुझमें नहीं है । अतः मैं पतिका ही अनुगमन करना चाहती हूँ । पतिके संयोग-सुखसे मेरी तृप्ति भी नहीं हुई है । अतः आप बड़ी महारानीसे मेरी प्रार्थना है कि मुझे पतिलोकमें जानेकी आज्ञा दें । मैं वहीं धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ और बुद्धिमान् पतिके चरणोंकी सेवा करूँगी । आर्ये ! आप मेरी इस इच्छाका अनुमोदन करें ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा महाराज मद्रराजसुता शुभा ।
ददौ कुन्त्यै यमौ माद्री शिरसाभिप्रणम्य च ॥
अभिवाद्य ऋषीन् सर्वान् परिष्वज्य च पाण्डवान् ।
मूर्ध्न्युपाघ्राय बहुशः पार्थानात्मसुतौ तथा ॥
हस्ते युधिष्ठिरं गृह्य माद्री वाक्यमभाषत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! यों कहकर मद्रदेशकी राजकुमारी सती-साध्वी माद्रीने कुन्तीको प्रणाम करके अपने दोनों जुड़वें पुत्र उन्हींको सौंप दिये । तत्पश्चात् उसने महर्षियोंको मस्तक नवाकर पाण्डवोंको हृदयसे लगा लिया और बारंबार कुन्तीके तथा अपने पुत्रोंके मस्तक सूँघकर युधिष्ठिरका हाथ पकड़कर कहा ॥

माद्र्युवाच

कुन्ती माता अहं धात्री युष्माकं तु पिता मृतः ।
युधिष्ठिरः पिता ज्येष्ठश्चतुर्णां धर्मतः सदा ॥
वृद्धानुशासने सक्ताः सत्यधर्मपरायणाः ।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ॥
तस्मात् सर्वे कुरुध्वं वै गुरुवृत्तिमतन्द्रिताः ॥

माद्री बोली—बच्चो ! कुन्तीदेवी ही तुम सबोंकी असली माता हैं, मैं तो केवल दूध पिलानेवाली धाय थी । तुम्हारे पिता तो मर गये । अब बड़े भैया युधिष्ठिर ही धर्मतः तुम चारों भाइयोंके पिता हैं । तुम सब बड़े-बूढ़ों—गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहना और सत्य एवं धर्मके पालनसे कभी मुँह न मोड़ना। ऐसा करनेवाले लोग कभी नष्ट नहीं होते और न कभी उनकी पराजय ही होती है । अतः तुम सब भाई आलस्य छोड़कर गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर रहना ॥

वैशम्पायन उवाच

ऋषीणां च पृथायाश्च नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
आयासकृपणा माद्री प्रत्युवाच पृथां तथा ॥
धन्या त्वमसि वार्ष्णेयि नास्ति स्त्री सदृशी त्वया ।
वीर्यं तेजश्च योगं च माहात्म्यं च यशस्विनाम् ॥
कुन्ति द्रक्ष्यसि पुत्राणां पञ्चानाममितौजसाम् ।
ऋषीणां संनिधावेषां मया वागभ्युदीरिता ॥
स्वर्गं दिदृक्षमाणायाः ममैषा न वृथा भवेत् ।
आर्या चाप्यभिवाद्या च मम पूज्या च सर्वतः ॥
ज्येष्ठा वरिष्ठा त्वं देवि भूषिता स्वगुणैः शुभैः ।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि त्वया यादवनन्दिनि ॥
धर्मं स्वर्गं च कीर्तिं च त्वत्कृतेऽहमवाप्नुयाम् ।
यथा तथा विधत्स्वेह मा च कार्षीर्विचारणाम् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! तत्पश्चात् माद्रीने ऋषियों तथा कुन्तीको बारंबार नमस्कार करके, क्लेशसे क्लान्त होकर कुन्तीदेवीसे दीनतापूर्वक कहा—'वृष्णिकुलनन्दिनि ! आप धन्य हैं । आपकी समानता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है; क्योंकि आपको इन अमिततेजस्वी तथा यशस्वी पाँचों पुत्रोंके बल, पराक्रम, तेज, योगबल तथा माहात्म्य देखनेका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैंने स्वर्गलोकमें जानेकी इच्छा रखकर इन महर्षियोंके समीप जो यह बात कही है, वह कदापि मिथ्या न हो । देवि ! आप मेरी गुरु, वन्दनीया तथा पूजनीया हैं; अवस्थामें बड़ी तथा गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। समस्त नैसर्गिक सद्गुण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। यादवनन्दिनि ! अब मैं आपकी आज्ञा चाहती हूँ । आपके प्रयत्नद्वारा जैसे भी मुझे धर्म, स्वर्ग तथा कीर्तिकी प्राप्ति हो, वैसा सहयोग आप इस अवसरपर करें । मनमें किसी दूसरे विचारको स्थान न दें' ॥

बाष्पसंदिग्धया वाचा कुन्त्युवाच यशस्विनी ॥
अनुज्ञातासि कल्याणि त्रिदिवे संगमोऽस्तु ते ।
भर्त्रा सह विशालाक्षि क्षिप्रमद्यैव भामिनि ॥
संगता स्वर्गलोके त्वं रमेथाः शाश्वतीः समाः ॥)
राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥ २९ ॥

तब यशस्विनी कुन्तीने बाष्पगद्गद वाणीमें कहा—'कल्याणि ! मैंने तुम्हें आज्ञा दे दी । विशाललोचने ! तुम्हें आज ही स्वर्गलोकमें पतिका समागम प्राप्त हो । भामिनि ! तुम स्वर्गमें पतिसे मिलकर अनन्त वर्षोंतक प्रसन्न रहो ।'

माद्री बोली—'मेरे इस शरीरको महाराजके शरीरके साथ ही अच्छी प्रकार ढँककर दग्ध कर देना चाहिये । बड़ी बहिन ! आप मेरा यह प्रिय कार्य कर दें ॥ २९ ॥

दारकेष्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यन्न प्रपश्यामि संदेष्टव्यं हि किंचन ॥ ३० ॥

'मेरे पुत्रोंका हित चाहती हुई सावधान रहकर उनका पालन-पोषण करें । इसके सिवा दूसरी कोई बात मुझे आपसे कहने योग्य नहीं जान पड़ती' ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद् यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीसे यह कहकर पाण्डुकी यशस्विनी धर्मपत्नी माद्री चिताकी आगपर रक्खे हुए नरश्रेष्ठ पाण्डुके शवके साथ स्वयं भी चितापर जा बैठी ॥ ३१ ॥

(ततः पुरोहितः स्नात्वा प्रेतकर्मणि पारगः ।
हिरण्यशकलान्याज्यं तिलान् दधि च तण्डुलान् ॥
उदकुम्भं सपरशुं समानीय तपस्विभिः ।
अश्वमेधाग्निमाहृत्य यथान्यायं समन्ततः ॥
काश्यपः कारयामास पाण्डोः प्रेतस्य तां क्रियाम्॥

तदनन्तर प्रेतकर्मके पारंगत विद्वान् पुरोहित काश्यपने स्नान करके सुवर्णखण्ड, घृत, तिल, दही, चावल, जलसे भरा घड़ा और फरसा आदि वस्तुओंको एकत्र करके तपस्वी मुनियोंद्वारा अश्वमेधकी अग्नि मँगवायी और उसे चारों ओरसे चितासे छुलाकर यथायोग्य शास्त्रीय विधिसे पाण्डुका दाह-संस्कार करवाया ॥

अहताम्बरसंवीतो भ्रातृभिः सहितोऽनघः ।
उदकं कृतवांस्तत्र पुरोहितमते स्थितः ॥
अर्हतस्तस्य कृत्यानि शतशृङ्गनिवासिनः ।

तापसा विधिवच्चक्रुश्चारणा ऋषिभिः सह ॥)

भाइयोंसहित निष्पाप युधिष्ठिरने नूतन वस्त्र धारण करके पुरोहितकी आज्ञाके अनुसार जलाञ्जलि देनेका कार्य पूरा किया । शतश्रृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियों और चारणोंने आदरणीय राजा पाण्डुके परलोक-सम्बन्धी सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न किये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डूपरमे चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके परलोकगमनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५०½ श्लोक मिलाकर, कुल ८१½ श्लोक हैं ।)

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषियोंका कुन्ती और पाण्डवोंको लेकर हस्तिनापुर जाना और उन्हें भीष्म आदिके हाथों सौंपना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।
ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयांचक्रिरे मिथः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! राजा पाण्डुकी मृत्यु हुई देख वहाँ रहनेवाले, देवताओंके समान तेजस्वी सम्पूर्ण मन्त्रज्ञ महर्षियोंने आपसमें सलाह की ॥ १ ॥

तापसा ऊचुः

हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तप्त्वा तापसाञ्शरणं गतः ॥ २ ॥

तपस्वी बोले—महान् यशस्वी महात्मा राजा पाण्डु अपना राज्य तथा राष्ट्र छोड़कर इस स्थानपर तपस्या करते हुए तपस्वी मुनियोंकी शरणमें रहते थे ॥ २ ॥

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रादायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥ ३ ॥

वे राजा पाण्डु अपनी पत्नी और नवजात पुत्रोंको आपलोगोंके पास धरोहर रखकर यहाँसे स्वर्गलोक चले गये ॥ ३ ॥

तस्येमानात्मजान् देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः ॥ ४ ॥

उनके इन पुत्रोंको, पाण्डु और माद्रीके शरीरोंकी अस्थियोंको तथा उन महात्मा नरेशकी महारानी कुन्तीको लेकर हमलोग उनकी राजधानीमें चलें । इस समय हमारे लिये यही धर्म प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान् पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥ ५ ॥
उदारमनसः सिद्धा गमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान् दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार परस्पर सलाह करके उन देवतुल्य उदारचेता सिद्ध महर्षियोंने पाण्डवोंको भीष्म एवं धृतराष्ट्रके हाथों सौंप देनेके लिये पाण्डुपुत्रोंको आगे करके हस्तिनापुर नगरमें जानेका विचार किया ॥ ५-६ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ॥ ७ ॥

उन सब तपस्वी मुनियोंने पाण्डुपत्नी कुन्ती, पाँचों पाण्डवों तथा पाण्डु और माद्रीके शरीरकी अस्थियोंको साथ लेकर उसी क्षण वहाँसे प्रस्थान कर दिया ॥ ७ ॥

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥ ८ ॥

पुत्रोंपर सदा स्नेह रखनेवाली कुन्ती पहले बहुत सुख भोग चुकी थी, परंतु अब विपत्तिमें पड़कर बहुत लंबे मार्गपर चल पड़ी; तो भी उसने स्वदेश जानेकी उत्कण्ठा अथवा महर्षियोंके योगजनित प्रभावसे उस मार्गको अल्प ही माना ॥ ८ ॥

सा त्वदीर्घेण कालेन सम्प्राप्ता कुरुजाङ्गलम् ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद यशस्विनी ॥ ९ ॥

यशस्विनी कुन्ती थोड़े ही समयमें कुरुजाङ्गल देशमें जा पहुँची और नगरके वर्धमान नामक द्वारपर गयी ॥ ९ ॥

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥ १० ॥

तब तपस्वी मुनियोंने द्वारपालसे कहा—'राजाको हमारे आनेकी सूचना दो !' द्वारपालने सभामें जाकर क्षणभरमें समाचार दे दिया ॥ १० ॥

तं चारणसहस्राणां मुनीनामागमं तदा ।
श्रुत्वा नागपुरे नृणां विस्मयः समपद्यत ॥ ११ ॥

सहस्रों चारणोंसहित मुनियोंका हस्तिनापुरमें आगमन सुनकर उस समय वहाँके लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ११ ॥

मुहूर्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः।
सदारास्तापसान् द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥ १२ ॥

दो घड़ी दिन चढ़ते-चढ़ते समस्त पुरवासी स्त्रियों और बालकोंको साथ लिये तपस्वी मुनियोंका दर्शन करनेके लिये नगरसे बाहर निकल आये ॥ १२ ॥

स्त्रीसङ्घाः क्षत्रसङ्घाश्च यानसङ्घसमास्थिताः।
ब्राह्मणैः सह निर्जग्मुर्ब्राह्मणानां च योषितः ॥ १३ ॥

झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ और क्षत्रियोंके समुदाय अनेक सवारियोंपर बैठकर बाहर निकले। ब्राह्मणोंके साथ उनकी स्त्रियाँ भी नगरसे बाहर निकलीं ॥ १३ ॥

तथा विट्शूद्रसङ्घानां महान् व्यतिकरोऽभवत्।
न कश्चिदकरोदीर्ष्यामभवन् धर्मबुद्धयः ॥ १४ ॥

शूद्रों और वैश्योंके समुदायका बहुत बड़ा मेला जुट गया। किसीके मनमें ईर्ष्याका भाव नहीं था। सबकी बुद्धि धर्ममें लगी हुई थी ॥ १४ ॥

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ बाह्लिकः।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार शन्तनुनन्दन भीष्म, सोमदत्त, बाह्लिक, प्रज्ञाचक्षु राजर्षि धृतराष्ट्र, संजय तथा स्वयं विदुरजी भी वहाँ आ गये ॥ १५ ॥

सा च सत्यवती देवी कौसल्या च यशस्विनी।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥ १६ ॥

देवी सत्यवती, काशिराजकुमारी यशस्विनी कौसल्या तथा राजघरानेकी स्त्रियोंसे घिरी हुई गान्धारी भी अन्तःपुरसे निकलकर वहाँ आयीं ॥ १६ ॥

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधनपुरोगमाः।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसंख्या विनिर्ययुः ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सौ पुत्र विचित्र आभूषणोंसे विभूषित हो नगरसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

तान् महर्षिगणान् दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥ १८ ॥

उन महर्षियोंका दर्शन करके सबने मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। फिर सभी कौरव पुरोहितके साथ उनके समीप बैठ गये ॥ १८ ॥

तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च।
उपोपविविशुः सर्वे पौरा जानपदा अपि ॥ १९ ॥

इसी प्रकार नगर तथा जनपदके सब लोग भी धरतीपर माथा टेककर सबको अभिवादन और प्रणाम करके आस-पास बैठ गये ॥ १९ ॥

तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा।
पूजयित्वा यथान्यायं पाद्येनार्घ्येण च प्रभो ॥ २० ॥
भीष्मो राज्यं च राष्ट्रं च महर्षिभ्यो न्यवेदयत्।
तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

राजन्! उस समय वहाँ आये हुए समस्त जनसमुदायको चुपचाप बैठे देख भीष्मजीने पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा सब महर्षियोंकी यथोचित पूजा करके उन्हें अपने राज्य तथा राष्ट्रका कुशल-समाचार निवेदन किया। तब उन महर्षियोंमें जो सबसे अधिक वृद्ध थे, वे जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले मुनि अन्य सब ऋषियोंकी अनुमति लेकर इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

यः स कौरव्य दायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृङ्गमितो गतः ॥ २२ ॥
(स यथोक्तं तपस्तेपे तत्र मूलफलाशनः ॥
पत्नीभ्यां सह धर्मात्मा कंचित् कालमतन्द्रितः।
तेन वृत्तसमाचारैस्तपसा च तपस्विनः।
तोषितास्तापसास्तत्र शतशृङ्गनिवासिनः ॥)
ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना।
साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥

'कुरुनन्दन भीष्मजी! वे जो आपके पुत्र महाराज पाण्डु विषयभोगोंका परित्याग करके यहाँसे शतशृङ्ग पर्वतपर चले गये थे, उन धर्मात्माने वहाँ फल-मूल खाकर रहते हुए सावधान रहकर अपनी दोनों पत्नियोंके साथ कुछ कालतक शास्त्रोक्त विधिसे भारी तपस्या की। उन्होंने अपने उत्तम आचार-व्यवहार और तपस्यासे शतशृङ्गनिवासी तपस्वी मुनियोंको संतुष्ट कर लिया था। वहाँ नित्य ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए महाराज पाण्डुको किसी दिव्य हेतुसे साक्षात् धर्मराजद्वारा यह पुत्र प्राप्त हुआ है, जिसका नाम युधिष्ठिर है ॥ २२-२३ ॥

तथैनं बलिनां श्रेष्ठं तस्य राज्ञो महात्मनः।
मातरिश्वा ददौ पुत्रं भीमं नाम महाबलम् ॥ २४ ॥

'उसी प्रकार उन महात्मा राजाको साक्षात् वायु देवताने यह महाबली भीम नामक पुत्र प्रदान किया है, जो समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ है ॥ २४ ॥

पुरुहूतादयं जज्ञे कुन्त्यामेव धनंजयः।
यस्य कीर्तिर्महेष्वासान् सर्वानभिभविष्यति ॥ २५ ॥

'यह तीसरा पुत्र धनंजय है, जो इन्द्रके अंशसे कुन्तीके ही गर्भसे उत्पन्न हुआ है। इसकी कीर्ति समस्त बड़े-बड़े धनुर्धरोंको तिरस्कृत कर देगी ॥ २५ ॥

यौ तु माद्री महेष्वासावसूत पुरुषोत्तमौ।
अश्विभ्यां पुरुषव्याघ्राविमौ तावपि पश्यत ॥ २६ ॥

'माद्रीदेवीने अश्विनीकुमारोंसे जिन दो पुरुषरत्नोंको उत्पन्न किया है, वे ये ही दोनों महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ हैं। इन्हें भी आपलोग देखें ॥ २६ ॥

(नकुलः सहदेवश्च तावप्यमिततेजसौ।
पाण्डवौ नरशार्दूलाविमावप्यपराजितौ ॥)
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥ २७ ॥

'इनके नाम हैं नकुल और सहदेव। ये दोनों भी अनन्त तेजसे सम्पन्न हैं। ये नरश्रेष्ठ पाण्डुकुमार भी किसीसे परास्त होनेवाले नहीं हैं। नित्य धर्ममें तत्पर रहनेवाले यशस्वी राजा पाण्डुने वनमें निवास करते हुए अपने पितामहके उच्छिन्न वंशका पुनः उद्धार किया है ॥ २७ ॥

पुत्राणां जन्मवृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥ २८ ॥

'पाण्डुपुत्रोंके जन्म, उनकी वृद्धि तथा वेदाध्ययन आदि देखकर आपलोग सदा अत्यन्त प्रसन्न होंगे ॥ २८ ॥

वर्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥ २९ ॥

'साधु पुरुषोंके आचार-व्यवहारका पालन करते हुए राजा पाण्डु उत्तम पुत्रोंकी उपलब्धि करके आजसे सत्रह दिन पहले पितृलोकवासी हो गये ॥ २९ ॥

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम्।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥ ३० ॥

'जब वे चितापर सुलाये गये और उन्हें अग्निके मुखमें होम दिया गया, उस समय देवी माद्री अपने जीवनका मोह छोड़कर उसी अग्निमें प्रविष्ट हो गयी ॥ ३० ॥

सा गता सह तेनैव पतिलोकमनुव्रता।
तस्यास्तस्य च यत् कार्यं क्रियतां तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

'वह पतिव्रता देवी महाराज पाण्डुके साथ ही पति-लोकको चली गयी। अब आपलोग माद्री और पाण्डुके लिये जो कार्य आवश्यक समझें, वह करें ॥ ३१ ॥

(पृथां च शरणं प्राप्तां पाण्डवांश्च यशस्विनः।
यथावदनुगृह्णन्तु धर्मो ह्येष सनातनः ॥)
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सह मात्रा परंतपाः ॥ ३२ ॥

'शरणमें आयी हुई कुन्ती तथा यशस्वी पाण्डवोंको आपलोग यथोचित रूपसे अपनाकर अनुगृहीत करें; क्योंकि यही सनातन धर्म है। ये पाण्डु और माद्री दोनोंके शरीरोंकी अस्थियाँ हैं और ये ही उनके श्रेष्ठ पुत्र हैं, जो शत्रुओंको संतप्त करनेकी शक्ति रखते हैं। आप माद्री और पाण्डुकी श्राद्ध-क्रिया करनेके साथ ही मातासहित इन पुत्रोंको भी अनुगृहीत करें ॥ ३२ ॥

प्रेतकार्ये निवृत्ते तु पितृमेधं महायशाः।
लभतां सर्वधर्मज्ञः पाण्डुः कुरुकुलोद्वहः ॥ ३३ ॥

'सपिण्डीकरणपर्यन्त प्रेतकार्य निवृत्त हो जानेपर कुरुवंशके श्रेष्ठ पुरुष महायशस्वी एवं सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डुको पितृमेध (यज्ञ) का भी लाभ मिलना चाहिये' ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम्।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! समस्त कौरवोंसे ऐसी बात कहकर उनके देखते-देखते वे सभी तपस्वी मुनि गुह्यकोंके साथ क्षणभरमें वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥

गन्धर्वनगराकारं तथैवान्तर्हितं पुनः।
ऋषिसिद्धगणं दृष्ट्वा विस्मयं ते परं ययुः ॥ ३५ ॥
(कौरवाः सहसोत्पत्य साधु साध्विति विस्मिताः ॥)

गन्धर्वनगरके समान उन महर्षियों और सिद्धोंके समुदायको इस प्रकार अन्तर्धान होते देख वे सभी कौरव सहसा उछलकर 'साधु-साधु' ऐसा कहते हुए बड़े विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि ऋषिसंवादे पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें ऋषिसंवादविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं।)

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डु और माद्रीकी अस्थियोंका दाह-संस्कार तथा भाई-बन्धुओंद्वारा उनके लिये जलाञ्जलिदान

धृतराष्ट्र उवाच

पाण्डोर्विदुर सर्वाणि प्रेतकार्याणि कारय।
राजवद् राजसिंहस्य माद्र्याश्चैव विशेषतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! राजाओंमें श्रेष्ठ पाण्डुके तथा विशेषतः माद्रीके भी समस्त प्रेतकार्य राजोचित ढंगसे कराओ ॥

पशून् वासांसि रत्नानि धनानि विविधानि च।
पाण्डोः प्रयच्छ माद्र्याश्च येभ्यो यावच्च वाञ्छितम् ॥ २ ॥
यथा च कुन्ती सत्कारं कुर्यान्माद्र्यास्तथा कुरु।
यथा न वायुर्नादित्यः पश्येतां तां सुसंवृताम् ॥ ३ ॥

पाण्डु और माद्रीके लिये नाना प्रकारके पशु, वस्त्र, रत्न

और धन दान करो । इस अवसरपर जिनको जितना चाहिये, उतना धन दो । कुन्तीदेवी माद्रीका जिस प्रकार सत्कार करना चाहें, वैसी व्यवस्था करो । माद्रीकी अस्थियोंको वस्त्रोंसे अच्छी प्रकार ढँक दो, जिससे उसे वायु तथा सूर्य भी न देख सकें ॥ २-३ ॥

न शोच्यः पाण्डुरनघः प्रशस्यः स नराधिपः ।
यस्य पञ्च सुता वीरा जाताः सुरसुतोपमाः ॥ ४ ॥

निष्पाप राजा पाण्डु शोचनीय नहीं, प्रशंसनीय हैं, जिन्हें देवकुमारोंके समान पाँच वीर पुत्र प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्तं तथेत्युक्त्वा भीष्मेण सह भारत ।
पाण्डुं संस्कारयामास देशे परमपूजिते ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुरने धृतराष्ट्रसे 'तथास्तु' कहकर भीष्मजीके साथ परम पवित्र स्थानमें पाण्डुका अन्तिम संस्कार कराया ॥ ५ ॥

ततस्तु नगरात् तूर्णमाज्यगन्धपुरस्कृताः ।
निर्हृताः पावका दीप्ताः पाण्डो राजन् पुरोहितैः ॥ ६ ॥

राजन् ! तदनन्तर शीघ्र ही पाण्डुका दाह-संस्कार करनेके लिये पुरोहितगण घृत और सुगन्ध आदिके साथ प्रज्वलित अग्नि लिये नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अथैनामार्तवैः पुष्पैर्गन्धैश्च विविधैर्वरैः ।
शिबिकां तामलंकृत्य वाससाऽऽच्छाद्य सर्वशः ॥ ७ ॥

इसके बाद वसन्त ऋतुमें सुलभ नाना प्रकारके सुन्दर पुष्पों तथा श्रेष्ठ गन्धोंसे एक शिबिका (वैकुण्ठी) को सजाकर उसे सब ओरसे वस्त्रद्वारा ढँक दिया गया ॥ ७ ॥

तां तथा शोभितां माल्यैर्वासोभिश्च महाधनैः ।
अमात्या ज्ञातयश्चैनं सुहृदश्चोपतस्थिरे ॥ ८ ॥

इस प्रकार बहुमूल्य वस्त्रों और पुष्पमालाओंसे सुशोभित उस शिबिकाके समीप मन्त्री, भाई-बन्धु और सुहृद्-सम्बन्धी— सब लोग उपस्थित हुए ॥ ८ ॥

नृसिंहं नरयुक्तेन परमालंकृतेन तम् ।
अवहन् यानमुख्येन सह माद्र्या सुसंयतम् ॥ ९ ॥

उसमें माद्रीके साथ पाण्डुकी अस्थियाँ भली-भाँति बाँधकर रक्खी गयी थीं । मनुष्योंद्वारा ढोई जानेवाली और अच्छी तरह सजायी हुई उस शिबिकाके द्वारा वे सभी बन्धु-बान्धव माद्रीसहित नरश्रेष्ठ पाण्डुकी अस्थियोंको ढोने लगे ॥ ९ ॥

पाण्डुरेणातपत्रेण चामरव्यजनेन च ।
सर्ववादित्रनादैश्च समलंचक्रिरे ततः ॥ १० ॥

शिबिकाके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ था । चँवर डुलाये जा रहे थे । सब प्रकारके बाजों-गाजोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी ॥ १० ॥

रत्नानि चाप्युपादाय बहूनि शतशो नराः ।
प्रददुः काङ्क्षमाणेभ्यः पाण्डोस्तत्रौर्ध्वदेहिके ॥ ११ ॥

सैकड़ों मनुष्योंने उन महाराज पाण्डुके दाह-संस्कारके दिन बहुत-से रत्न लेकर याचकोंको दिये ॥ ११ ॥

अथच्छत्राणि शुभ्राणि चामराणि बृहन्ति च ।
आजह्रुः कौरवस्यार्थे वासांसि रुचिराणि च ॥ १२ ॥

इसके बाद कुरुराज पाण्डुके लिये अनेक श्वेत छत्र, बहुतेरे बड़े-बड़े चँवर तथा कितने ही सुन्दर-सुन्दर वस्त्र लोग वहाँ ले आये ॥ १२ ॥

याजकैः शुक्लवासोभिर्हूयमाना हुताशनाः ।
अगच्छन्नग्रतस्तस्य दीप्यमानाः स्वलंकृताः ॥ १३ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैव सहस्रशः ।
रुदन्तः शोकसंतप्ता अनुजग्मुर्नराधिपम् ॥ १४ ॥

पुरोहितलोग सफेद वस्त्र धारण करके अग्निहोत्रकी अग्निमें आहुति डालते जाते थे । वे अग्नियाँ माला आदिसे अलंकृत एवं प्रज्वलित हो पाण्डुकी पालकीके आगे-आगे चल रही थीं । सहस्रों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शोकसे संतप्त हो रोते हुए महाराज पाण्डुकी शिबिकाके पीछे जा रहे थे ॥ १३-१४ ॥

अयमस्मानपाहाय दुःखे चाधाय शाश्वते ।
कृत्वा चास्माननाथांश्च क्व यास्यति नराधिपः ॥ १५ ॥

वे कहते जाते थे—'हाय ! ये महाराज हमलोगोंको छोड़कर, हमें सदाके लिये भारी दुःखमें डालकर और हम सबको अनाथ करके कहाँ जा रहे हैं' ॥ १५ ॥

क्रोशन्तः पाण्डवाः सर्वे भीष्मो विदुर एव च ।
रमणीये वनोद्देशे गङ्गातीरे समे शुभे ॥ १६ ॥
न्यासयामासुरथ तां शिबिकां सत्यवादिनः ।
सभार्यस्य नृसिंहस्य पाण्डोरक्लिष्टकर्मणः ॥ १७ ॥

समस्त पाण्डव, भीष्म तथा विदुरजी क्रन्दन करते हुए जा रहे थे । वनके रमणीय प्रदेशमें गङ्गाजीके शुभ एवं समतल तटपर उन लोगोंने, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले सत्यवादी नरश्रेष्ठ पाण्डु और उनकी पत्नी माद्रीकी उस शिबिकाको रक्खा ॥ १६-१७ ॥

ततस्तस्य शरीरं तु सर्वगन्धाधिवासितम् ।
शुचिकालीयकादिग्धं दिव्यचन्दनरूषितम् ॥ १८ ॥
पर्यषिञ्चञ्जलेनाशु शातकुम्भमयैर्घटैः ।
चन्दनेन च शुक्लेन सर्वतः समलेपयन् ॥ १९ ॥
कालागुरुविमिश्रेण तथा तुङ्गरसेन च ।
अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन् ॥ २० ॥

तदनन्तर राजा पाण्डुकी अस्थियोंको सब प्रकारकी सुगन्धोंसे सुवासित करके उनपर पवित्र काले अगरका लेप किया

गया। फिर उन्हें दिव्य चन्दनसे चर्चित करके सोनेके कलशों-द्वारा लाये हुए गङ्गाजलसे भाई-बन्धुओंने उसका अभिषेक किया। तत्पश्चात् उनपर सब ओरसे काले अगरसे मिश्रित तुङ्गरस नामक गन्ध-द्रव्यका एवं श्वेत चन्दनका लेप किया गया। इसके बाद उन्हें सफेद स्वदेशी वस्त्रोंसे ढक दिया गया॥ १८–२०॥

संछन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः।
शुशुभे स नरव्याघ्रो महार्हशयनोचितः॥ २१॥

इस प्रकार बहुमूल्य शय्यापर शयन करने योग्य नरश्रेष्ठ राजा पाण्डुकी अस्थियाँ वस्त्रोंसे आच्छादित हो जीवित मनुष्यकी भाँति शोभा पाने लगीं॥ २१॥

(हयमेधाग्निना सर्वे याजकाः सपुरोहिताः।
वेदोक्तेन विधानेन क्रियाश्चक्रुः समन्त्रकम्॥)
याजकैरभ्यनुज्ञाते प्रेतकर्मण्यनुष्ठिते।
घृतावसिक्तं राजानं सह माद्र्या स्वलंकृतम्॥ २२॥

समस्त याजकों और पुरोहितोंने अश्वमेधकी अग्निसे वेदोक्त विधिके अनुसार मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारी क्रियाएँ सम्पन्न कीं। याजकोंकी आज्ञा लेकर प्रेतकर्म आरम्भ करते समय माद्री-सहित अलंकारयुक्त राजाका घृतसे अभिषेक किया गया॥ २२॥

तुङ्गपद्मकमिश्रेण चन्दनेन सुगन्धिना।
अन्यैश्च विविधैर्गन्धैर्विधिना समदाहयन्॥ २३॥

फिर तुङ्ग और पद्मकमिश्रित सुगन्धित चन्दन तथा अन्य विविध प्रकारके गन्ध-द्रव्योंसे भाई-बन्धुओंने युधिष्ठिर-द्वारा विधिपूर्वक उन दोनोंका दाह-संस्कार कराया॥ २३॥

ततस्तयोः शरीरे द्वे दृष्ट्वा मोहवशं गता।
हा हा पुत्रेति कौसल्या पपात सहसा भुवि॥ २४॥

उस समय उन दोनोंकी अस्थियोंको देखकर माता कौसल्या (अम्बालिका) 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहती हुई सहसा मूर्च्छित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी॥ २४॥

तां प्रेक्ष्य पतितामार्तां पौरजानपदो जनः।
रुरोद दुःखसंतप्तो राजभक्त्या कृपान्वितः॥ २५॥

उसे इस प्रकार शोकातुर हो भूमिपर पड़ी देख नगर और जनपदके लोग राजभक्ति तथा दयासे द्रवित एवं दुःखसे संतप्त हो फूट-फूटकर रोने लगे॥ २५॥

कुन्त्याश्चैवार्तनादेन सर्वाणि च विचुक्रुशुः।
मानुषैः सह भूतानि तिर्यग्योनिगतान्यपि॥ २६॥

कुन्तीके आर्तनादसे मनुष्योंसहित समस्त पशु और पक्षी आदि प्राणी भी करुणक्रन्दन करने लगे॥ २६॥

तथा भीष्मः शान्तनवो विदुरश्च महामतिः।
सर्वशः कौरवाश्चैव प्राणदन् भृशदुःखिताः॥ २७॥

शन्तनुनन्दन भीष्म, परम बुद्धिमान् विदुर तथा सम्पूर्ण कौरव भी अत्यन्त दुःखमें निमग्न हो रोने लगे॥ २७॥

ततो भीष्मोऽथ विदुरो राजा च सह पाण्डवैः।
उदकं चक्रिरे तस्य सर्वाश्च कुरुयोषितः॥ २८॥

तदनन्तर भीष्म, विदुर, राजा धृतराष्ट्र तथा पाण्डवोंके सहित कुरु-कुलकी सभी स्त्रियोंने राजा पाण्डुके लिये जलाञ्जलि दी॥

चुक्रुशुः पाण्डवाः सर्वे भीष्मः शान्तनवस्तथा।
विदुरो ज्ञातयश्चैव चक्रुश्चाप्युदकक्रियाः॥ २९॥

उस समय सभी पाण्डव पिताके लिये रो रहे थे। शन्तनु-नन्दन भीष्म, विदुर तथा अन्य भाई-बन्धुओंकी भी यही दशा थी। सबने जलाञ्जलि देनेकी क्रिया पूरी की॥ २९॥

कृतोदकांस्तानादाय पाण्डवाञ्छोककर्शितान्।
सर्वाः प्रकृतयो राजन् शोचमाना न्यवारयन्॥ ३०॥

जलाञ्जलिदान करके शोकसे दुर्बल हुए पाण्डवोंको साथ ले मन्त्री आदि सब लोग स्वयं भी दुखी हो उन सबको समझा-बुझाकर शोक करनेसे रोकने लगे॥ ३०॥

यथैव पाण्डवा भूमौ सुषुपुः सह बान्धवैः।
तथैव नागरा राजन् शिश्यिरे ब्राह्मणादयः॥ ३१॥
तद्गतानन्दमस्वस्थमाकुमारमहृष्टवत्।
बभूव पाण्डवैः सार्धं नगरं द्वादश क्षपाः॥ ३२॥

राजन्! बारह रात्रियोंतक जिस प्रकार बन्धु-बान्धवोंसहित पाण्डव भूमिपर सोये, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि नागरिक भी धरतीपर ही सोते रहे। उतने दिनोंतक हस्तिनापुर नगर पाण्डवोंके साथ आनन्द और हर्षोल्लाससे शून्य रहा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चेतक सभी वहाँ दुःखमें डूबे रहे। सारा नगर ही अस्वस्थचित्त हो गया था॥ ३१-३२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि पाण्डुदाहे षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें पाण्डुके दाहसंस्कारसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३३ श्लोक हैं)

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों तथा धृतराष्ट्रपुत्रोंकी बालक्रीडा, दुर्योधनका भीमसेनको विष खिलाना तथा गङ्गामें ढकेलना और भीमका नागलोकमें पहुँचकर आठ कुण्डोंके दिव्य रसका पान करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती च राजा च भीष्मश्च सह बन्धुभिः।
ददुः श्राद्धं तदा पाण्डोः स्वधामृतमयं तदा॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर कुन्ती,

राजा धृतराष्ट्र तथा बन्धुओंसहित भीष्मजीने पाण्डुके लिये उस समय अमृतस्वरूप स्वधामय श्राद्ध-दान किया ॥ १ ॥

कुरूंश्च विप्रमुख्यांश्च भोजयित्वा सहस्रशः।
रत्नौघान् विप्रमुख्येभ्यो दत्त्वा ग्रामवरांस्तथा ॥ २ ॥

उन्होंने समस्त कौरवों तथा सहस्रों मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें रत्नोंके ढेर तथा उत्तम-उत्तम गाँव दिये ॥ २ ॥

कृतशौचांस्ततस्तांस्तु पाण्डवान् भरतर्षभान्।
आदाय विविशुः सर्वे पुरं वारणसाह्वयम् ॥ ३ ॥

मरणाशौचसे निवृत्त होकर भरतवंशशिरोमणि पाण्डवोंने जब शुद्धिका स्नान कर लिया, तब उन्हें साथ लेकर सबने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ३ ॥

सततं स्मानुशोचन्तस्तमेव भरतर्षभम्।
पौरजानपदाः सर्वे मृतं स्वमिव बान्धवम् ॥ ४ ॥

नगर और जनपदके सभी लोग मानो कोई अपना ही भाई-बन्धु मर गया हो, इस प्रकार उन भरतकुलतिलक पाण्डुके लिये निरन्तर शोकमग्न हो गये ॥ ४ ॥

श्राद्धावसाने तु तदा दृष्ट्वा तं दुःखितं जनम्।
सम्मूढां दुःखशोकार्तां व्यासो मातरमब्रवीत् ॥ ५ ॥

श्राद्धकी समाप्तिपर सब लोगोंको दुखी देखकर व्यासजीने दुःख-शोकसे आतुर एवं मोहमें पड़ी हुई माता सत्यवतीसे कहा—॥ ५ ॥

अतिक्रान्तसुखाः कालाः पर्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापिष्ठदिवसाः पृथिवी गतयौवना ॥ ६ ॥

'मा ! अब सुखके दिन बीत गये । बड़ा भयंकर समय उपस्थित होनेवाला है । उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं । पृथ्वीकी जवानी चली गयी ॥ ६ ॥

बहुमायासमाकीर्णो नानादोषसमाकुलः।
लुप्तधर्मक्रियाचारो घोरः कालो भविष्यति ॥ ७ ॥

'अब ऐसा भयंकर समय आयेगा, जिसमें सब ओर छल-कपट और मायाका बोलबाला होगा । संसारमें अनेक प्रकारके दोष प्रकट होंगे और धर्म-कर्म तथा सदाचारका लोप हो जायगा ॥ ७ ॥

कुरूणामनयाच्चापि पृथिवी न भविष्यति।
गच्छ त्वं योगमास्थाय युक्ता वस तपोवने ॥ ८ ॥

'दुर्योधन आदि कौरवोंके अन्यायसे सारी पृथ्वी वीरोंसे शून्य हो जायगी; अतः तुम योगका आश्रय लेकर यहाँसे चली जाओ और योगपरायण हो तपोवनमें निवास करो ॥ ८ ॥

मा द्राक्षीस्त्वं कुलस्यास्य घोरं संक्षयमात्मनः।
तथेति समनुज्ञाय सा प्रविश्याब्रवीत् स्नुषाम् ॥ ९ ॥

'तुम अपनी आँखोंसे इस कुलका भयंकर संहार न देखो।' तब व्यासजीसे 'तथास्तु' कहकर सत्यवती अंदर गयी और अपनी पुत्रवधूसे बोली—॥ ९ ॥

अम्बिके तव पौत्रस्य दुर्नयात् किल भारताः।
सानुबन्धा विनङ्क्ष्यन्ति पौराश्चैवेति नः श्रुतम् ॥ १० ॥

'अम्बिके ! तुम्हारे पौत्रके अन्यायसे भरतवंशी वीर तथा इस नगरके लोग सगे-सम्बन्धियोंसहित नष्ट हो जायँगे—ऐसी बात मैंने सुनी है॥ १० ॥

तत् कौसल्यामिमामार्तां पुत्रशोकाभिपीडिताम्।
वनमादाय भद्रं ते गच्छामि यदि मन्यसे ॥ ११ ॥

'अतः तुम्हारी राय हो, तो पुत्रशोकसे पीड़ित इस दुःखिनी अम्बालिकाको साथ ले मैं वनमें चली जाऊँ । तुम्हारा कल्याण हो' ॥ ११ ॥

तथेत्युक्ता त्वम्बिकया भीष्ममामन्त्र्य सुव्रता।
वनं ययौ सत्यवती स्नुषाभ्यां सह भारत ॥ १२ ॥

अम्बिका भी 'तथास्तु' कहकर साथ जानेको तैयार हो गयी । जनमेजय ! फिर उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सत्यवती भीष्मजीसे पूछकर अपनी दोनों पतोहुओंको साथ ले वनको चली गयी ॥ १२ ॥

ताः सुघोरं तपस्तप्त्वा देव्यो भरतसत्तम।
देहं त्यक्त्वा महाराज गतिमिष्टां ययुस्तदा ॥ १३ ॥

भरतवंशशिरोमणि महाराज जनमेजय ! तब वे देवियाँ वनमें अत्यन्त घोर तपस्या करके शरीर त्यागकर अभीष्ट गतिको प्राप्त हो गयीं ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा।
संव्यवर्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस समय पाण्डवोंके वेदोक्त (समावर्तन आदि) संस्कार हुए । वे पिताके घरमें नाना प्रकारके भोग भोगते हुए पलने और पुष्ट होने लगे ॥ १४ ॥

धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम्।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक खेलते हुए वे सदा प्रसन्न रहते थे । सब प्रकारकी बालक्रीड़ाओंमें अपने तेजसे वे बढ़-चढ़कर सिद्ध होते थे ॥ १५ ॥

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांसुविकर्षणे।
धार्तराष्ट्रान् भीमसेनः सर्वान् स परिमर्दति ॥ १६ ॥

दौड़नेमें, दूर रक्खी हुई किसी प्रत्यक्ष वस्तुको सबसे पहले पहुँचकर उठा लेनेमें, खान-पानमें तथा धूल उछालनेके

खेलमें भीमसेन धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन कर डालते थे ॥ १६ ॥

हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन् निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवैः ॥ १७ ॥
शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद् वृकोदरः ॥ १८ ॥
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्य बलाद् बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंऽसकान् ॥ १९ ॥

राजन्! हर्षसे खेल-कूदमें लगे हुए उन कौरवोंको पकड़कर भीमसेन कहीं छिप जाते थे। कभी उनके सिर पकड़कर पाण्डवोंसे लड़ा देते थे। धृतराष्ट्रके एक सौ एक कुमार बड़े बलवान् थे; किंतु भीमसेन बिना अधिक कष्ट उठाये अकेले ही उन सबको अपने वशमें कर लेते थे। बलवान् भीम उनके बाल पकड़कर बलपूर्वक उन्हें एक दूसरेसे टकरा देते और उनके चीखने-चिल्लानेपर भी उन्हें धरतीपर घसीटते रहते थे। उस समय उनके घुटने, मस्तक और कंधे छिल जाया करते थे ॥ १७–१९ ॥

दश बालाञ्जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्ते स्म सलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ॥ २० ॥

वे जलमें क्रीड़ा करते समय अपनी दोनों भुजाओंसे धृतराष्ट्रके दस बालकोंको पकड़ लेते और देरतक पानीमें गोते लगाते रहते थे। जब वे अधमरे-से हो जाते, तब उन्हें छोड़ते थे ॥२०॥

फलानि वृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते तदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ॥ २१ ॥

जब कौरव वृक्षपर चढ़कर फल तोड़ने लगते, तब भीमसेन पैरसे ठोकर मारकर उन पेड़ोंको हिला देते थे ॥ २१ ॥

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतं त्रस्ताः कुमारकाः ॥ २२ ॥

उनके वेगपूर्वक प्रहारसे आहत हो वे वृक्ष हिलने लगते और उनपर चढ़े हुए धृतराष्ट्रकुमार भयभीत हो फलोंसहित नीचे गिर पड़ते थे ॥ २२ ॥

न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्धमाना वृकोदरम् ॥ २३ ॥

कुश्तीमें, दौड़ लगानेमें तथा शिक्षाके अभ्यासमें धृतराष्ट्रकुमार सदा लाग-डाँट रखते हुए भी कभी भीमसेनकी बराबरी नहीं कर पाते थे ॥ २३ ॥

एवं स धार्तराष्ट्रांश्च स्पर्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥ २४ ॥

इसी प्रकार भीमसेन भी धृतराष्ट्रपुत्रोंसे स्पर्धा रखते हुए उनके अत्यन्त अप्रिय कार्योंमें ही लगे रहते थे। परंतु उनके मनमें कौरवोंके प्रति द्वेष नहीं था, वे बाल-स्वभावके कारण ही वैसा करते थे ॥ २४ ॥

ततो बलमतिख्यातं धार्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥ २५ ॥

तब धृतराष्ट्रका प्रतापी पुत्र दुर्योधन यह जानकर कि भीमसेनमें अत्यन्त विख्यात बल है, उनके प्रति दुष्टभाव प्रदर्शित करने लगा ॥ २५ ॥

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्यलोभाच्च पापा मतिरजायत ॥ २६ ॥

वह सदा धर्मसे दूर रहता और पापकर्मोंपर ही दृष्टि रखता था। मोह और ऐश्वर्यके लोभसे उसके मनमें पापपूर्ण विचार भर गये थे ॥ २६ ॥

अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥ २७ ॥

वह अपने भाइयोंके साथ विचार करने लगा कि 'यह मध्यम पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन भीम बलवानोंमें सबसे बढ़कर है। इसे धोखा देकर कैद कर लेना चाहिये ॥२७॥

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
स्पर्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥ २८ ॥

'यह बलवान् और पराक्रमी तो है ही, महान् शौर्यसे भी सम्पन्न है। भीमसेन अकेला ही हम सब लोगोंसे होड़ बद लेता है॥ २८ ॥

तं तु सुप्तं पुरोद्याने गङ्गायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं श्रेष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ॥ २९ ॥
प्रसह्य बन्धने बद्ध्वा प्रशासिष्ये वसुंधराम् ।
एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥ ३० ॥

'इसलिये नगरोद्यानमें जब वह सो जाय, तब उसे उठाकर हमलोग गङ्गाजीमें फेंक दें। इसके बाद उसके छोटे भाई अर्जुन और बड़े भाई युधिष्ठिरको बलपूर्वक कैदमें डालकर मैं अकेला ही सारी पृथ्वीका शासन करूँगा।'

ऐसा निश्चय करके पापी दुर्योधन महात्मा भीमसेनका अनिष्ट करनेके लिये सदा मौका ढूँढ़ता रहता था ॥ २९-३० ॥

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥ ३१ ॥

जनमेजय! तदनन्तर दुर्योधनने गङ्गातटपर जल-विहारके लिये ऊनी और सूती कपड़ोंके विचित्र एवं विशाल गृह तैयार कराये ॥ ३१ ॥

सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रयवन्ति च ।
तत्र संजनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥ ३२ ॥

वे गृह सब प्रकारकी अभीष्ट सामग्रियोंसे भरे-पूरे थे। उनके ऊपर ऊँची-ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। उनमें उसने अलग-अलग अनेक प्रकारके बहुत-से कमरे बनवाये थे ॥

उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥ ३३ ॥

भारत ! गङ्गातटवर्ती प्रमाणकोटि तीर्थमें किसी स्थानपर जाकर दुर्योधनने यह सारा आयोजन करवाया था । उसने उस स्थानका नाम रक्खा था उदकक्रीडन ॥ ३३ ॥

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च चोष्यं लेह्यमथापि च।
उपपादितं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ॥ ३४ ॥

वहाँ रसोईके काममें कुशल कितने ही मनुष्योंने जुटकर खाने-पीनेके बहुत-से भक्ष्य[1], भोज्य[2], पेय[3], चोष्य[4] और लेह्य[5] पदार्थ तैयार किये ॥ ३४ ॥

न्यवेदयंस्तत् पुरुषा धार्तराष्ट्राय वै तदा।
ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर राजपुरुषोंने दुर्योधनको सूचना दी कि 'सब तैयारी पूरी हो गयी है।' तब खोटी बुद्धिवाले दुर्योधनने पाण्डवोंसे कहा—॥ ३५ ॥

गङ्गां चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम्।
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुमः ॥ ३६ ॥

'आज हमलोग भाँति-भाँतिके उद्यान और वनोंसे सुशोभित गङ्गाजीके तटपर चलें। वहाँ हम सब भाई एक साथ जलविहार करेंगे' ॥ ३६ ॥

एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
ते रथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ॥ ३७ ॥
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह।
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महाजनम् ॥ ३८ ॥
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम्।
उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ॥ ३९ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने 'एवमस्तु' कहकर दुर्योधनकी बात मान ली। फिर वे सभी शूरवीर कौरव पाण्डवोंके साथ नगराकार रथों तथा स्वदेशमें उत्पन्न श्रेष्ठ हाथियोंपर सवार हो नगरसे निकले और उद्यान-वनके समीप पहुँचकर साथ आये हुए प्रजावर्गके बड़े-बड़े लोगोंको विदा करके जैसे सिंह पर्वतकी गुफामें प्रवेश करे, उसी प्रकार वे सब वीर भ्राता उद्यानकी शोभा देखते हुए उसमें प्रविष्ट हुए ॥ ३७–३९ ॥

उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम्।
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः सांचारिकैरपि ॥ ४० ॥
सम्मार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम्।
दीर्घिकाभिश्च पूर्णाभिस्तथा पद्माकरैरपि ॥ ४१ ॥
जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्तुकैः ॥ ४२ ॥

वह उद्यान राजाओंकी गोष्ठी और बैठकके स्थानोंसे, श्वेत वर्णके छज्जोंसे, जालियों और झरोखोंसे तथा इधर-उधर ले जाने योग्य जलवर्षक यन्त्रोंसे सुशोभित हो रहा था। महल बनानेवाले शिल्पियोंने उस उद्यान एवं क्रीडाभवनको झाड़-पोंछकर साफ कर दिया था । चित्रकारोंने वहाँ चित्रकारी की थी । जलसे भरी बावलियों तथा तालाबों-द्वारा उसकी बड़ी शोभा हो रही थी । खिले हुए कमलोंसे आच्छादित वहाँका जल बड़ा सुन्दर प्रतीत होता था । ऋतुके अनुकूल खिलकर झड़े हुए फूलोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी ढँक गयी थी ॥४०–४२॥

तत्रोपविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह।
उपपन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥ ४३ ॥

वहाँ पहुँचकर समस्त कौरव और पाण्डव यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये और स्वतः प्राप्त हुए नाना प्रकारके भोगोंका उपभोग करने लगे ॥ ४३ ॥

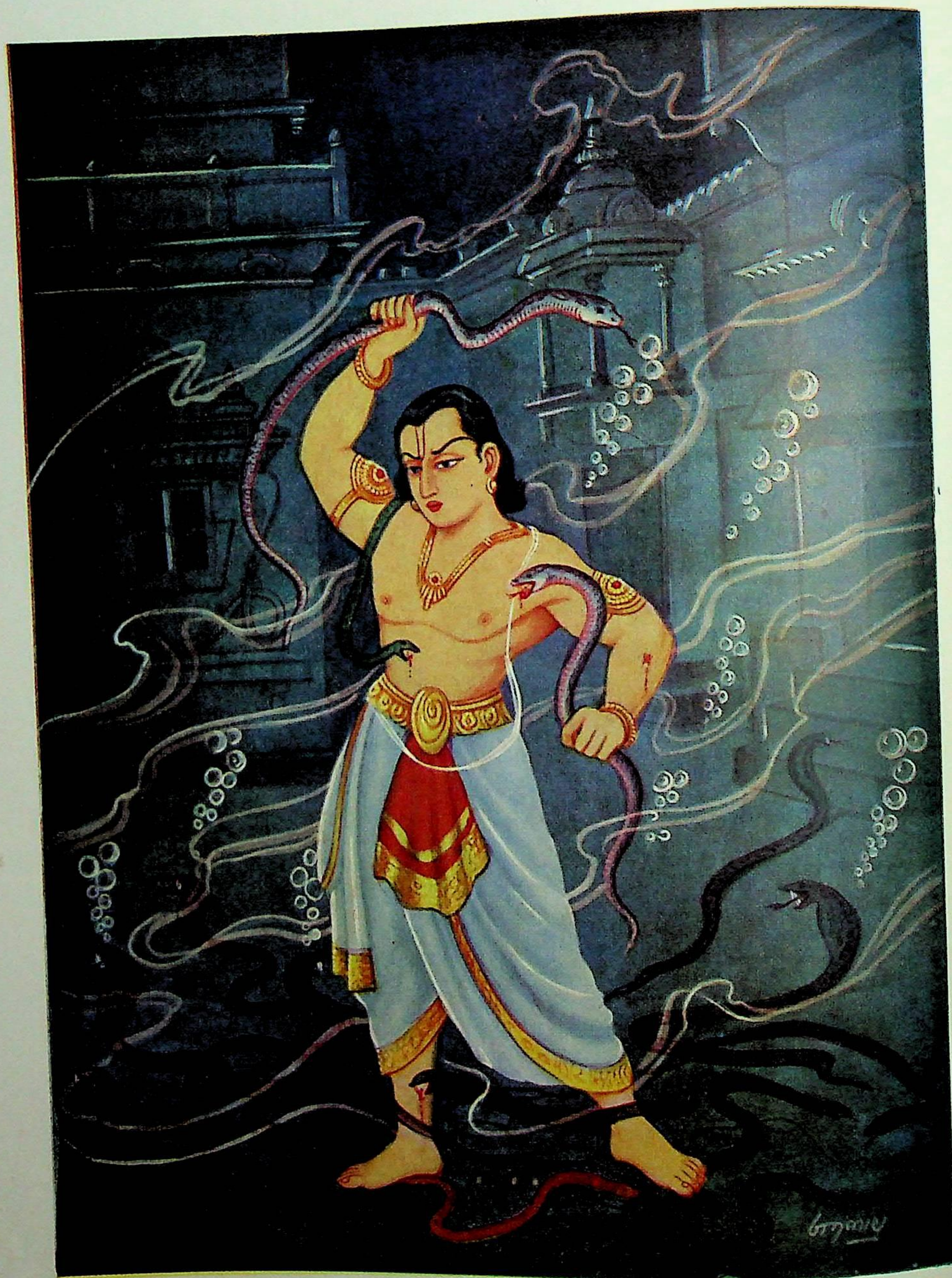
अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ४४ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम्।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेनजिघांसया ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उस सुन्दर उद्यानमें क्रीडाके लिये आये हुए कौरव और पाण्डव एक-दूसरेके मुँहमें खानेकी वस्तुएँ डालने लगे । उस समय पापी दुर्योधनने भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके भोजनमें कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ४४-४५ ॥

स्वयमुत्थाय चैवाथ हृदयेन क्षुरोपमः।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद् यथा ॥ ४६ ॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत्।
प्रतीच्छितं स भीमेन तं वै दोषमजानता ॥ ४७ ॥
ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥ ४८ ॥

उस पापात्माका हृदय छूरेके समान तीखा था; परंतु बातें वह ऐसी करता था, मानो उनसे अमृत झर रहा हो। वह सगे भाई और हितैषी सुहृद्की भाँति स्वयं भीमसेनके लिये भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थ परोसने लगा । भीमसेन भोजनके दोषसे अपरिचित थे; अतः दुर्योधनने जितना परोसा, वह सब-का-सब खा गये । यह देख नीच दुर्योधन मन-ही-मन हँसता हुआ-सा अपने-आपको कृतार्थ मानने लगा ॥

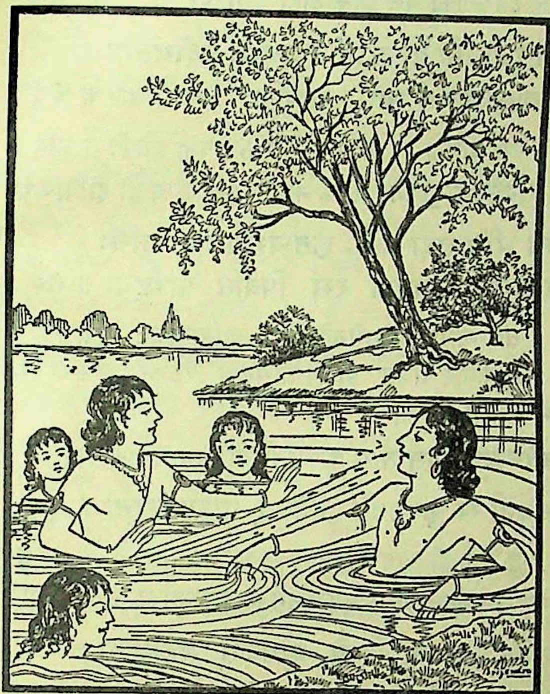
१. दाँतोंसे काट-काटकर खाये जानेवाले मालपूए आदिको भक्ष्य कहते हैं । २. दाँतका सहारा न लेकर केवल जिह्वाके व्यापारसे जिसे भोजन किया जाता है, जैसे हलुआ, खीर आदि । ३. पीनेयोग्य दुग्ध आदि । ४. चूसनेयोग्य वस्तु जिसका रसमात्र ग्रहण किया जाय और बाकी चीजको त्याग दिया जाय, वह चोष्य है, जैसे ईख-आम आदि । ५. लेह्य—चाटने योग्य चटनी आदि ।



कुमार भीमसेनका साँपोंपर कोप

ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥ ४९ ॥

तब भोजनके पश्चात् पाण्डव तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी प्रसन्नचित्त हो एक साथ जल-क्रीडा करने लगे ॥ ४९ ॥



क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राः स्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥ ५० ॥
विहारावसथेष्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायम्याभ्यधिकं तदा ॥ ५१ ॥

जलक्रीडा समाप्त होनेपर दिनके अन्तमें विहारसे थके हुए वे समस्त कुरुश्रेष्ठ वीर शुद्ध वस्त्र धारणकर सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित हो उन क्रीडाभवनोंमें ही रात बितानेका विचार करने लगे। बलवान् भीमसेन उस समय अधिक परिश्रम करनेके कारण बहुत थक गये थे ॥ ५०-५१ ॥

वाहयित्वा कुमारांस्ताञ्जलक्रीडागतांस्तदा ।
प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुष्वापावाप्य तत् स्थलम् ॥ ५२ ॥

वे जलक्रीड़ाके लिये आये हुए उन कुमारोंको साथ लेकर विश्राम करनेकी इच्छासे प्रमाणकोटिके उस गृहमें आये और वहीं एक स्थानमें सो गये ॥ ५२ ॥

शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीताङ्गो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥ ५३ ॥

पाण्डुनन्दन भीम थके तो थे ही, विषके मदसे भी अचेत हो रहे थे। उनके अङ्ग-अङ्गमें विषका प्रभाव फैल गया था। अतः वहाँ ठंडी हवा पाकर ऐसे सोये कि जडके समान निश्चेष्ट प्रतीत होने लगे ॥ ५३ ॥

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥ ५४ ॥

तब दुर्योधनने स्वयं लताओंके पाशमें वीरवर भीमको कसकर बाँधा। वे मुर्देके समान हो रहे थे। फिर उसने गङ्गाजीके ऊँचे तटसे उन्हें जलमें ढकेल दिया ॥ ५४ ॥

स निःसञ्ज्ञो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवोऽविशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ॥ ५५ ॥
ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥ ५६ ॥

भीमसेन बेहोशीकी ही दशामें जलके भीतर डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे। उस समय कितने ही नागकुमार उनके शरीरसे दब गये। तब बहुत-से महाविषधर नागोंने मिलकर अपनी भयंकर विषवाली बड़ी-बड़ी दाढ़ोंसे भीमसेनको खूब डँसा ॥ ५५-५६ ॥

ततोऽस्य दश्यमानस्य तद् विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्पविषेणैव स्थावरं जङ्गमेन तु ॥ ५७ ॥

उनके द्वारा डँसे जानेसे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया। सर्पोंके जङ्गम विषने खाये हुए स्थावर विषको हर लिया ॥ ५७ ॥

दंष्ट्राश्च दंष्ट्रिणां तेषां मर्मस्वपि निपातिताः ।
त्वचं नैवास्य बिभिदुः सारत्वात् पृथुवक्षसः ॥ ५८ ॥

चौड़ी छातीवाले भीमसेनकी त्वचा लोहेके समान कठोर थी; अतः यद्यपि उनके मर्मस्थानोंमें सर्पोंने दाँत गड़ाये थे, तो भी वे उनकी त्वचाको भेद न सके ॥ ५८ ॥

ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः सर्वं संछिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान् सर्वान् केचिद् भीताः प्रदुद्रुवुः ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीनन्दन भीम जाग उठे। उन्होंने अपने सारे बन्धनोंको तोड़कर उन सभी सर्पोंको पकड़-पकड़कर धरतीपर दे मारा। कितने ही सर्प भयके मारे भाग खड़े हुए ॥

हतावशेषा भीमेन सर्वे वासुकिमभ्ययुः ।
ऊचुश्च सर्पराजानं वासुकिं वासवोपमम् ॥ ६० ॥

भीमके हाथों मरनेसे बचे हुए सभी सर्प इन्द्रके समान तेजस्वी नागराज वासुकिके समीप गये और इस प्रकार बोले—॥

अयं नरो वै नागेन्द्र ह्यप्सु बद्ध्वा प्रवेशितः ।
यथा च नो मतिर्वीर विषपीतो भविष्यति ॥ ६१ ॥

'नागेन्द्र! एक मनुष्य है, जिसे बाँधकर जलमें डाल दिया गया है। वीरवर! जैसा कि हमारा विश्वास है, उसने विष पी लिया होगा ॥ ६१ ॥

निश्चेष्टोऽस्माननुप्राप्तः स च दष्टोऽन्वबुध्यत ।
ससंज्ञश्चापि संवृत्तश्छित्त्वा बन्धनमाशु नः ॥ ६२ ॥

पोथयन्तं महाबाहुं त्वं वै तं ज्ञातुमर्हसि ।

'वह हमलोगोंके पास बेहोशीकी हालतमें आया था, किंतु हमारे डँसनेपर जाग उठा और होशमें आ गया । होशमें आनेपर तो वह महाबाहु अपने सारे बन्धनोंको शीघ्र तोड़कर हमें पछाड़ने लगा है । आप चलकर उसे पहचानें' ॥ ६२½ ॥

ततो वासुकिरभ्येत्य नागैरनुगतस्तदा ॥ ६३ ॥
पश्यति स्म महाबाहुं भीमं भीमपराक्रमम् ।
आर्यकेण च दृष्टः स पृथाया आर्यकेण च ॥ ६४ ॥
तदा दौहित्रदौहित्रः परिष्वक्तः सुपीडितम् ।
सुप्रीतश्चाभवत् तस्य वासुकिः स महायशाः ॥ ६५ ॥
अब्रवीत् तं च नागेन्द्रः किमस्य क्रियतां प्रियम् ।
धनौघो रत्ननिचयो वसु चास्य प्रदीयताम् ॥ ६६ ॥

तब वासुकिने उन नागोंके साथ आकर भयंकर पराक्रमी महाबाहु भीमसेनको देखा । उसी समय नागराज आर्यकने भी उन्हें देखा, जो पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे । उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्रको कसकर छातीसे लगा लिया । महायशस्वी नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय ? इन्हें धन, सोना और रत्नोंकी राशि भेंट की जाय' ॥ ६३–६६ ॥

एवमुक्तस्तदा नागो वासुकिं प्रत्यभाषत ।
यदि नागेन्द्र तुष्टोऽसि किमस्य धनसंचयैः ॥ ६७ ॥

उनके यों कहनेपर आर्यक नागने वासुकिसे कहा—'नागराज ! यदि आप प्रसन्न हैं तो यह धनराशि लेकर क्या करेगा।

रसं पिबेत् कुमारोऽयं त्वयि प्रीते महाबलः ।
बलं नागसहस्रस्य यस्मिन् कुण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

'आपके संतुष्ट होनेपर तो इस महाबली राजकुमारको आपकी आज्ञासे उस कुण्डका रस पीना चाहिये, जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

यावत् पिबति बालोऽयं तावदस्मै प्रदीयताम् ।
एवमस्त्विति तं नागं वासुकिः प्रत्यभाषत ॥ ६९ ॥

'यह बालक जितना रस पी सके, उतना इसे दिया जाय ।' यह सुनकर वासुकिने आर्यक नागसे कहा 'ऐसा ही हो' ॥ ६९ ॥

ततो भीमस्तदा नागैः कृतस्वस्त्ययनः शुचिः ।
प्राङ्मुखश्चोपविष्टश्च रसं पिबति पाण्डवः ॥ ७० ॥

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया । फिर वे पाण्डुकुमार पवित्र हो पूर्वाभिमुख बैठकर कुण्डका रस पीने लगे ॥ ७० ॥

एकोच्छ्वासात् ततः कुण्डं पिबति स्म महाबलः ।
एवमष्टौ स कुण्डानि ह्यपिबत् पाण्डुनन्दनः ॥ ७१ ॥

वे एक ही साँसमें एक कुण्डका रस पी जाते थे । इस प्रकार उन महाबली पाण्डुनन्दनने आठ कुण्डोंका रस पी लिया॥

ततस्तु शयने दिव्ये नागदत्ते महाभुजः ।
अशेत भीमसेनस्तु यथासुखमरिंदमः ॥ ७२ ॥

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु भीमसेन नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सुखपूर्वक सो गये ॥ ७२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमसेनरसपाने सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके रसपानसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२७

अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनके न आनेसे कुन्ती आदिकी चिन्ता, नागलोकसे भीमसेनका आगमन तथा उनके प्रति दुर्योधनकी कुचेष्टा

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पाण्डवाः ।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर समस्त कौरव और पाण्डव क्रीड़ा और विहार समाप्त करके भीमसेनके बिना ही हस्तिनापुरकी ओर प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः ।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ॥ २ ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम् ।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥

रथ, हाथी, घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकारकी सवारियों-द्वारा वहाँसे चलकर वे आपसमें यह कह रहे थे कि भीमसेन तो हमलोगोंसे आगे ही चले गये हैं । पापी दुर्योधनने भीमसेनको वहाँ न देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो भाइयोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि ।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ॥ ४ ॥

राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे, उनके पवित्र हृदयमें दुर्योधनके पापपूर्ण विचारका भानतक न हुआ । वे अपने ही अनुमानसे दूसरेको भी साधु ही देखते और समझते थे ॥

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः ।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ॥ ५ ॥

भाईपर स्नेह रखनेवाले कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर उस समय माताके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोले—'माँ ! भीमसेन यहाँ आया है क्या ? ॥ ५ ॥

क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ॥ ६ ॥
तदर्थं न च तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ॥ ७ ॥

'मातः ! वह कहाँ गया होगा ? शुभे ! यहाँ भी तो मैं उसे नहीं देख रहा हूँ । वहाँ हमलोगोंने भीमसेनके लिये उद्यान और वनका कोना-कोना खोज डाला । फिर भी जब वीरवर भीमको हम देख न सके, तब सबने यही समझ लिया कि वह हमलोगोंसे पहले ही चला गया होगा ॥६-७॥

आगताः स्म महाभागे व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ॥ ८ ॥

'महाभागे ! हम उसके लिये अत्यन्त व्याकुल हृदयसे यहाँ आये हैं । यहाँ आकर वह कहीं चला गया ? अथवा तुमने उसे कहीं भेजा है ? ॥ ८ ॥

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तं वीरं प्रति शोभने ॥ ९ ॥

'यशस्विनि ! महाबाहु भीमसेनका पता बताओ । शोभने ! वीर भीमसेनके विषयमें मेरा हृदय शङ्कित हो गया है ॥ ९ ॥

यतः प्रसुप्तं मन्येऽहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्ता च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ॥ १० ॥
हा हेति कृत्वा सम्भ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ।
न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ॥ ११ ॥

'जहाँ मैं भीमसेनको सोया हुआ समझता था, वहीं किसीने उसे मार तो नहीं डाला ?'

बुद्धिमान् धर्मराजके इस प्रकार पूछनेपर कुन्ती 'हाय-हाय' करके घबरा उठी और युधिष्ठिरसे बोली—'बेटा ! मैंने भीमको नहीं देखा है । वह मेरे पास आया ही नहीं ॥ १०-११ ॥

शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ।
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ॥ १२ ॥
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ।
क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ॥ १३ ॥

'तुम अपने छोटे भाइयोंके साथ शीघ्र उसे ढूँढ़नेका प्रयत्न करो ।' कुन्तीका हृदय पुत्रकी चिन्तासे व्यथित हो रहा था, उसने ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिरसे उपर्युक्त बात कहकर विदुरजीको बुलवाया और इस प्रकार कहा—'भगवन् ! भीमसेन नहीं दिखायी देता, वह कहाँ चला गया ? ॥ १२-१३ ॥

उद्याननिर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ॥ १४ ॥

'उद्यानसे सब लोग अपने भाइयोंके साथ चलकर यहाँ आ गये । किंतु अकेला महाबाहु भीम अबतक मेरे पास लौटकर नहीं आया ! ॥ १४ ॥

न च प्रीणयते चक्षुः सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥ १५ ॥

'वह सदा दुर्योधनकी आँखोंमें खटकता रहता है । दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, क्षुद्र, राज्यका लोभी तथा निर्लज्ज है ॥

निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥ १६ ॥

'अतः सम्भव है, वह क्रोधमें वीर भीमसेनको धोखा देकर मार भी डाले । इसी चिन्तासे मेरा चित्त व्याकुल हो उठा है, हृदय दग्ध-सा हो रहा है' ॥ १६ ॥

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेषसंरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत् तव ॥ १७ ॥

विदुरजीने कहा—कल्याणी ! ऐसी बात मुँहसे न निकालो, शेष पुत्रोंकी रक्षा करो । यदि दुर्योधनको उलाहना देकर इस विषयमें पूछ-ताछ की जायगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रोंपर भी प्रहार कर सकता है ॥ १७ ॥

दीर्घायुषस्तव सुता यथोवाच महामुनिः ।
आगमिष्यति ते पुत्रः प्रीतिं चोत्पादयिष्यति ॥ १८ ॥

महामुनि व्यासने पहले जैसा कहा है, उसके अनुसार तुम्हारे ये सभी पुत्र दीर्घजीवी हैं, अतः तुम्हारा पुत्र भीमसेन कहीं भी क्यों न गया हो, अवश्य लौटेगा और तुम्हें आनन्द प्रदान करेगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विद्वान् विदुर यों कहकर अपने घरमें चले गये । इधर कुन्ती चिन्तामग्न होकर अपने चारों पुत्रोंके साथ चुपचाप घरमें बैठ रही ॥ १९ ॥

ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेयबलो बली ॥ २० ॥

उधर, नागलोकमें सोये हुए बलवान् भीमसेन आठवें दिन, जब वह रस पच गया, जगे । उस समय उनके बलकी कोई सीमा नहीं रही ॥ २० ॥

तं दृष्ट्वा प्रतिबुध्यन्तं पाण्डवं ते भुजङ्गमाः ।
सान्त्वयामासुरव्यग्रा वचनं चेदमब्रुवन् ॥ २१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमको जगा हुआ देख सब नागोंने शान्तचित्तसे उन्हें आश्वासन दिया और यह बात कही—॥ २१॥

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'महाबाहो! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके समान होगा और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे ॥ २२ ॥

गच्छाद्य त्वं च स्वगृहं स्नातो दिव्यैरिमैर्जलैः।
भ्रातरस्तेऽनुतप्यन्ति त्वां विना कुरुपुङ्गव ॥ २३ ॥

'आज तुम इस दिव्य जलसे स्नान करो और अपने घर लौट जाओ। कुरुश्रेष्ठ! तुम्हारे बिना तुम्हारे सब भाई निरन्तर दुःख और चिन्तामें डूबे रहते हैं' ॥ २३ ॥

ततः स्नातो महाबाहुः शुचिः शुक्लाम्बरस्रजः।
ततो नागस्य भवने कृतकौतुकमङ्गलः ॥ २४ ॥
ओषधीभिर्विषघ्नीभिः सुरभीभिर्विशेषतः।
भुक्तवान् परमान्नं च नागैर्दत्तं महाबलः ॥ २५ ॥

तब महाबाहु भीमसेन स्नान करके शुद्ध हो गये। उन्होंने श्वेत वस्त्र और श्वेत पुष्पोंकी माला धारण की। तत्पश्चात् नागराजके भवनमें उनके लिये कौतुक एवं मङ्गलाचार सम्पन्न किये गये। फिर उन महाबली भीमने विष-नाशक सुगन्धित ओषधियोंके साथ नागोंकी दी हुई खीर खायी ॥ २४-२५ ॥

पूजितो भुजगैर्वीर आशीर्भिश्चाभिनन्दितः।
दिव्याभरणसंछन्नो नागानामन्त्र्य पाण्डवः ॥ २६ ॥
उदतिष्ठत् प्रहृष्टात्मा नागलोकादरिंदमः।
उत्क्षिप्तः स तु नागेन जलाज्जलरुहेक्षणः ॥ २७ ॥
तस्मिन्नेव वनोद्देशे स्थापितः कुरुनन्दनः।
ते चान्तर्दधिरे नागाः पाण्डवस्यैव पश्यतः ॥ २८ ॥

इसके बाद नागोंने वीर भीमसेनका आदर-सत्कार करके उन्हें शुभाशीर्वादोंसे प्रसन्न किया। दिव्य आभूषणोंसे विभूषित शत्रुदमन भीमसेन नागोंकी आज्ञा ले प्रसन्नचित्त हो नागलोकसे जानेको उद्यत हुए। तब किसी नागने कमलनयन कुरुनन्दन भीमको जलसे ऊपर उठाकर उसी वनमें (गङ्गातटवर्ती प्रमाणकोटिमें) रख दिया। फिर वे नाग पाण्डुपुत्र भीमके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये ॥ २६-२८ ॥

तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमञ्जसा ॥ २९ ॥

तब महाबली कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन वहाँसे उठकर शीघ्र ही अपनी माताके समीप आ गये ॥ २९ ॥

ततोऽभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च।
कनीयसः समाघ्राय शिरःस्वरिविमर्दनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर शत्रुमर्दन भीमने माता और बड़े भाईको प्रणाम करके स्नेहपूर्वक छोटे भाइयोंका सिर सूँघा ॥ ३० ॥

तैश्चापि सम्परिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः।
अन्योन्यगतसौहार्दाद् दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥ ३१ ॥

माता तथा उन नरश्रेष्ठ भाइयोंने भी उन्हें हृदयसे लगाया और एक दूसरेके प्रति स्नेहाधिक्यके कारण सबने भीमके आगमनसे अपने सौभाग्यकी सराहना की—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!' कहा ॥ ३१ ॥

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधनविचेष्टितम्।
भ्रातॄणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥ ३२ ॥

तदनन्तर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न भीमसेनने दुर्योधनकी वे सारी कुचेष्टाएँ अपने भाइयोंको बतायीं ॥ ३२ ॥

नागलोके च यद् वृत्तं गुणदोषमशेषतः।
तच्च सर्वमशेषेण कथयामास पाण्डवः ॥ ३३ ॥

और नागलोकमें जो गुण-दोषपूर्ण घटनाएँ घटी थीं, उन सबको भी पाण्डुनन्दन भीमने पूर्णरूपसे कह सुनाया ॥ ३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत्।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥ ३४ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने भीमसेनसे मतलबकी बात कही—'भैया भीम! तुम सर्वथा चुप हो जाओ। तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया गया है, वह कहीं किसी प्रकार भी न कहना' ॥ ३४ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत् तदा ॥ ३५ ॥

यों कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ उस समयसे खूब सावधान रहने लगे ॥ ३५ ॥

सारथिं चास्य दयितमपहस्तेन जघ्निवान्।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थानां प्रददौ मतिम् ॥ ३६ ॥

दुर्योधनने भीमसेनके प्रिय सारथिको हाथसे गला घोंटकर मार डाला। उस समय भी धर्मात्मा विदुरने उन कुन्तीपुत्रोंको यही सलाह दी कि वे चुपचाप सब कुछ सहन करें ॥ ३६ ॥

भोजने भीमसेनस्य पुनः प्राक्षेपयद् विषम्।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं सम्भृतं लोमहर्षणम् ॥ ३७ ॥

धृतराष्ट्रकुमारने भीमसेनके भोजनमें पुनः नया, तीखा और सत्त्वके रूपमें परिणत रोंगटे खड़े कर देनेवाला कालकूट नामक विष डलवा दिया ॥ ३७ ॥

वैश्यापुत्रस्तदाचष्ट पार्थानां हितकाम्यया।
तच्चापि भुक्त्वाजरयदविकारं वृकोदरः ॥ ३८ ॥

वैश्यापुत्र युयुत्सुने कुन्तीपुत्रोंके हितकी कामनासे यह बात उन्हें बता दी। परंतु भीमने उस विषको भी खाकर बिना किसी विकारके पचा लिया ॥ ३८ ॥

विकारं न ह्यजनयत् सुतीक्ष्णमपि तद् विषम्।
भीमसंहनने भीमे अजीर्यत वृकोदरे ॥ ३९ ॥

यद्यपि वह विष बड़ा तेज था, तो भी उनके लिये कोई बिगाड़ न कर सका । भयंकर शरीरवाले भीमसेनके उदरमें वृक नामकी अग्नि थी; अतः वहाँ जाकर वह विष पच गया ॥ ३९ ॥

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ताञ्जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥ ४० ॥

इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण तथा सुबलपुत्र शकुनि अनेक उपायोंद्वारा पाण्डवोंको मार डालना चाहते थे ॥ ४० ॥

पाण्डवाश्चापि तत् सर्वं प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥ ४१ ॥

पाण्डव भी यह सब जान लेते और क्रोधमें भर जाते थे, तो भी विदुरकी रायके अनुसार चलनेके कारण अपने अमर्षको प्रकट नहीं करते थे ॥ ४१ ॥

कुमारान् क्रीडमानांस्तान् दृष्ट्वा राजातिदुर्मदान् ।
गुरुं शिक्षार्थमन्विष्य गौतमं तान् न्यवेदयत् ॥ ४२ ॥
शरस्तम्बे समुद्भूतं वेदशास्त्रार्थपारगम् ।
अधिजग्मुश्च कुरवो धनुर्वेदं कृपात् तु ते ॥ ४३ ॥

राजा धृतराष्ट्रने उन कुमारोंको खेल-कूदमें लगे रहनेसे अत्यन्त उद्दण्ड होते देख उन्हें शिक्षा देनेके लिये गौतम-गोत्रीय कृपाचार्यकी खोज करायी, जो सरकंडेके समूहसे उत्पन्न हुए और विविध शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे । उन्हींको गुरु बनाकर कुरुकुलके उन सभी कुमारोंको उन्हें सौंप दिया गया; फिर वे कुरुवंशी बालक कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन करने लगे ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीमप्रत्यागमने अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीमसेनके लौटनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ १२८

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कृपाचार्य, द्रोण और अश्वत्थामाकी उत्पत्ति तथा द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्र-शस्त्रकी प्राप्तिकी कथा

जनमेजय उवाच

कृपस्यापि मम ब्रह्मन् सम्भवं वक्तुमर्हसि ।
शरस्तम्बात् कथं जज्ञे कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! कृपाचार्यका जन्म किस प्रकार हुआ ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें । वे सरकंडेके समूहसे किस तरह उत्पन्न हुए एवं उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा प्राप्त की ? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान् नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥ २ ॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथास्य बुद्धिरभवद् धनुर्वेदे परंतप ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज ! महर्षि गौतमके शरद्वान् गौतम * नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र थे । प्रभो ! कहते हैं, वे सरकंडोंके साथ उत्पन्न हुए थे । परंतप ! उनकी बुद्धि धनुर्वेदमें जितनी लगती थी, उतनी वेदोंके अध्ययनमें नहीं ॥ २-३ ॥

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ॥ ४ ॥

जैसे अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक वेदोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने तपस्यायुक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये ॥ ४ ॥

धनुर्वेदपरत्वाच्च तपसा विपुलेन च ।
भृशं संतापयामास देवराजं स गौतमः ॥ ५ ॥

वे धनुर्वेदमें पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी बड़ी भारी थी; इससे गौतमने देवराज इन्द्रको अत्यन्त चिन्तामें डाल दिया था ॥ ५ ॥

ततो जानपदीं नाम देवकन्यां सुरेश्वरः ।
प्राहिणोत् तपसो विघ्नं कुरु तस्येति कौरव ॥ ६ ॥

कौरव ! तब देवराजने जानपदी नामकी एक देवकन्या-को उनके पास भेजा और यह आदेश दिया कि 'तुम शरद्वान्-की तपस्यामें विघ्न डालो' ॥ ६ ॥

सा हि गत्वाऽऽश्रमं तस्य रमणीयं शरद्वतः ।
धनुर्बाणधरं बाला लोभयामास गौतमम् ॥ ७ ॥

वह जानपदी शरद्वान्‌के रमणीय आश्रमपर जाकर धनुष-बाण धारण करनेवाले गौतमको लुभाने लगी ॥ ७ ॥

तामेकवसनां दृष्ट्वा गौतमोऽप्सरसं वने ।
लोकेऽप्रतिमसंस्थानां प्रोत्फुल्लनयनोऽभवत् ॥ ८ ॥

गौतमने एक वस्त्र धारण करनेवाली उस अप्सराको वनमें देखा । संसारमें उसके सुन्दर शरीरकी कहीं तुलना नहीं थी । उसे देखकर शरद्वान्‌के नेत्र प्रसन्नतासे खिल उठे ॥ ८ ॥

धनुश्च हि शरास्तस्य कराभ्यामपतन् भुवि ।
वेपथुश्चापि तां दृष्ट्वा शरीरे समजायत ॥ ९ ॥

उनके हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े तथा उसकी ओर देखनेसे उनके शरीरमें कम्प हो आया ॥ ९ ॥

* गौतमगोत्रीय होनेके कारण शरद्वान्‌को भी गौतम कहा जाता था ।

स तु ज्ञानगरीयस्त्वात् तपसश्च समर्थनात् ।
अवतस्थे महाप्राज्ञो धैर्येण परमेण ह ॥ १० ॥

शरद्वान् ज्ञानमें बहुत बढ़े-चढ़े थे और उनमें तपस्याकी भी प्रबल शक्ति थी। अतः वे महाप्राज्ञ मुनि अत्यन्त धीरतापूर्वक अपनी मर्यादामें स्थित रहे ॥ १० ॥

यस्तस्य सहसा राजन् विकारः समदृश्यत ।
तेन सुस्राव रेतोऽस्य स च तन्नान्वबुध्यत ॥ ११ ॥

राजन्! किंतु उनके मनमें सहसा जो विकार देखा गया, इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया; परंतु इस बातका उन्हें भान नहीं हुआ ॥ ११ ॥

धनुश्च सशरं त्यक्त्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
स विहायाश्रमं तं च तां चैवाप्सरसं मुनिः ॥ १२ ॥
जगाम रेतस्तत् तस्य शरस्तम्बे पपात च ।
शरस्तम्बे च पतितं द्विधा तदभवन्नृप ॥ १३ ॥

वे मुनि बाणसहित धनुष, काला मृगचर्म, वह आश्रम और वह अप्सरा—सबको वहीं छोड़कर वहाँसे चल दिये। उनका वह वीर्य सरकंडेके समुदायपर गिर पड़ा। राजन्! वहाँ गिरनेपर उनका वीर्य दो भागोंमें बँट गया ॥ १२-१३ ॥

तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ।
मृगयां चरतो राज्ञः शन्तनोस्तु यदृच्छया ॥ १४ ॥
कश्चित् सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ।
धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरं धनुः ॥ १६ ॥
स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर गौतमनन्दन शरद्वान्‌के उसी वीर्यसे एक पुत्र और एक कन्याकी उत्पत्ति हुई। उस दिन दैवेच्छासे राजा शन्तनु वनमें शिकार खेलने आये थे। उनके किसी सैनिकने वनमें उन युगल संतानोंको देखा। वहाँ बाणसहित धनुष और काला मृगचर्म देखकर उसने यह जान लिया कि 'ये दोनों किसी धनुर्वेदके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणकी संतानें हैं' ऐसा निश्चय होनेपर उसने राजाको वे दोनों बालक और बाणसहित धनुष दिखाया। राजा उन्हें देखते ही कृपाके वशीभूत हो गये और उन दोनोंको साथ ले अपने घर आ गये। वे किसीके पूछनेपर यही परिचय देते थे कि 'ये दोनों मेरी ही संतानें हैं' ॥ १४–१७ ॥

ततः संवर्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातीपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥ १८ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ प्रतीपनन्दन शन्तनुने शरद्वान्‌के उन दोनों बालकोंका पालन-पोषण किया और यथासमय उन्हें सब संस्कारोंसे सम्पन्न किया ॥ १८ ॥

गौतमोऽपि ततोऽभ्येत्य धनुर्वेदपरोऽभवत् ।
कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्धिताविति ॥ १९ ॥
तस्मात् तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ।
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ॥ २० ॥

गौतम (शरद्वान्) भी उस आश्रमसे अन्यत्र जाकर धनुर्वेदके अभ्यासमें तत्पर रहने लगे। राजा शन्तनुने यह सोचकर कि मैंने इन बालकोंको कृपापूर्वक पाला-पोसा है, उन दोनोंके वे ही नाम रख दिये—कृप और कृपी। राजाके द्वारा पालित हुई अपनी दोनों संतानोंका हाल गौतमने तपोबलसे जान लिया ॥ १९-२० ॥

आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
चतुर्विधं धनुर्वेदं[1] शास्त्राणि विविधानि च ॥ २१ ॥
निखिलेनास्य तत् सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्यतां गतः ॥ २२ ॥

और वहाँ गुप्तरूपसे आकर अपने पुत्रको गोत्र आदि सब बातोंका पूरा परिचय दे दिया। चार प्रकारके धनुर्वेद, नाना प्रकारके शास्त्र तथा उन सबके गूढ रहस्यका भी पूर्णरूपसे उसको उपदेश दिया। इससे कृप थोड़े ही समयमें धनुर्वेदके उत्कृष्ट आचार्य हो गये ॥ २१-२२ ॥

ततोऽधिजग्मुः सर्वे ते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्रके महारथी पुत्र, पाण्डव तथा यादव—सबने उन्हीं कृपाचार्यसे धनुर्वेदका अध्ययन किया ॥ २३ ॥

वृष्णयश्च नृपाश्चान्ये नानादेशसमागताः ।

वृष्णिवंशी तथा भिन्न-भिन्न देशोंसे आये हुए अन्य नरेश भी उनसे धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे।

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ॥ २४ ॥
इष्वस्त्रज्ञान् पर्यपृच्छदाचार्यान् वीर्यसम्मतान् ।
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथानानास्त्रकोविदः ॥ २५ ॥
नादेवसत्त्वो विनयेत् कुरूनस्त्रे महाबलान् ।
इति संचिन्त्य गाङ्गेयस्तदा भरतसत्तमः ॥ २६ ॥

---

१. धनुर्वेदके चार भेद इस प्रकार हैं—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मन्त्रमुक्त। छोड़े जानेवाले बाण आदिको 'मुक्त' कहते हैं। जिन्हें हाथमें लेकर प्रहार किया जाय, उन खड्ग आदिको 'अमुक्त' कहते हैं। जिस अस्त्रको चलाने और समेटनेकी कला मालूम हो, वह अस्त्र 'मुक्तामुक्त' कहलाता है। जिसे मन्त्र पढ़कर चला तो दिया जाय किंतु उसके उपसंहारकी विधि मालूम न हो, वह अस्त्र 'मन्त्रमुक्त' कहा गया है, शस्त्र, अस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र—ये भी धनुर्वेदके चार भेद हैं। इसी प्रकार आदान, संधान, विमोक्ष और संहार—इन चार क्रियाओंके भेदसे भी धनुर्वेदके चार भेद होते हैं।

द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान् कौरवांश्चैव ददौ शिष्यान् नरर्षभ ॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कृपाचार्यके द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जानेपर पितामह भीष्मने अपने पौत्रोंमें विशिष्ट योग्यता लानेके लिये उन्हें और अधिक शिक्षा देनेकी इच्छासे ऐसे आचार्योंकी खोज प्रारम्भ की, जो बाण-संचालनकी कलामें निपुण और अपने पराक्रमके लिये सम्मानित हों। उन्होंने सोचा—'जिसकी बुद्धि थोड़ी है, जो महान् भाग्यशाली नहीं है, जिसने नाना प्रकारकी अस्त्र-विद्यामें निपुणता नहीं प्राप्त की है तथा जो देवताओंके समान शक्तिशाली नहीं है, वह इन महाबली कौरवोंको अस्त्रविद्याकी शिक्षा नहीं दे सकता।' नरश्रेष्ठ ! यों विचारकर भरतश्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मने भरद्वाजवंशी, वेदवेत्ता तथा बुद्धिमान् द्रोणको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके उनको शिष्यरूपमें पाण्डवों तथा कौरवोंको समर्पित कर दिया ॥ २४—२७ ॥

शास्त्रतः पूजितश्चैव सम्यक् तेन महात्मना ।
स भीष्मेण महाभागस्तुष्टोऽस्त्रविदुषां वरः ॥ २८ ॥

अस्त्रविद्याके विद्वानोंमें श्रेष्ठ महाभाग द्रोण महात्मा भीष्मके द्वारा शास्त्रविधिसे भलीभाँति पूजित होनेपर बहुत संतुष्ट हुए ॥ २८ ॥

प्रतिजग्राह तान् सर्वान् शिष्यत्वेन महायशाः ।
शिक्षयामास च द्रोणो धनुर्वेदमशेषतः ॥ २९ ॥

फिर उन महायशस्वी आचार्य द्रोणने उन सबको शिष्यरूपमें स्वीकार किया और सम्पूर्ण धनुर्वेदकी शिक्षा दी ॥ २९ ॥

तेऽचिरेणैव कालेन सर्वशस्त्रविशारदाः ।
बभूवुः कौरवा राजन् पाण्डवाश्चामितौजसः ॥ ३० ॥

राजन् ! अमिततेजस्वी पाण्डव तथा कौरव—सभी थोड़े ही समयमें सम्पूर्ण शस्त्रविद्यामें परम प्रवीण हो गये ॥ ३० ॥

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्रोणः कथं चास्त्राण्यवाप्तवान् ।
कथं चागात् कुरून् ब्रह्मन् कस्य पुत्रः स वीर्यवान् ३१

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! द्रोणाचार्यकी उत्पत्ति कैसे हुई ? उन्होंने किस प्रकार अस्त्र-विद्या प्राप्त की ? वे कुरुदेशमें कैसे आये ? तथा वे महापराक्रमी द्रोण किसके पुत्र थे ? ॥ ३१ ॥

कथं चास्य सुतो जातः सोऽश्वत्थामास्त्रवित्तमः ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विस्तरेण प्रकीर्तय ॥ ३२ ॥

साथ ही अस्त्र-शस्त्रके विद्वानोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा, जो द्रोणका पुत्र था, कैसे उत्पन्न हुआ ? यह सब मैं सुनना चाहता हूँ । आप विस्तारपूर्वक कहिये ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूव भगवानृषिः ।
भरद्वाज इति ख्यातः सततं संशितव्रतः ॥ ३३ ॥

सोऽभिषेक्तुं ततो गङ्गां पूर्वमेवागमन्नदीम् ।
महर्षिभिर्भरद्वाजो हविर्धाने चरन् पुरा ॥ ३४ ॥
ददर्शाप्सरसं साक्षाद् घृताचीमाप्लुतामृषिः ।
रूपयौवनसम्पन्नां मददृप्तां मदालसाम् ॥ ३५ ॥
तस्याः पुनर्नदीतीरे वसनं पर्यवर्तत ।
व्यपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे ततः ॥ ३६ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें भगवान् भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि रहते थे । वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतोंका पालन करते थे । एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकारके यज्ञका अनुष्ठान करना था । इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियोंको साथ लेकर गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये । वहाँ पहुँचकर महर्षिने प्रत्यक्ष देखा, घृताची अप्सरा पहलेसे ही स्नान करके नदीके तटपर खड़ी हो वस्त्र बदल रही है । वह रूप और यौवनसे सम्पन्न थी । जवानीके नशेमें मदसे उन्मत्त हुई जान पड़ती थी । उसका वस्त्र खिसक गया और उसे उस अवस्थामें देखकर ऋषिके मनमें कामवासना जाग उठी ॥ ३३—३६ ॥

तत्र संसक्तमनसो भरद्वाजस्य धीमतः ।
ततोऽस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे ॥ ३७ ॥

परम बुद्धिमान् भरद्वाजजीका मन उस अप्सरामें आसक्त हुआ; इससे उनका वीर्य स्खलित हो गया । ऋषिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया ॥ ३७ ॥

ततः समभवद् द्रोणः कलशे तस्य धीमतः ।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३८ ॥

तब उन बुद्धिमान् महर्षिको उस कलशसे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, वह द्रोणसे जन्म लेनेके कारण द्रोण नामसे ही विख्यात हुआ । उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका अध्ययन किया ॥ ३८ ॥

अग्निवेशं महाभागं भरद्वाजः प्रतापवान् ।
प्रत्यपादयदाग्नेयमस्त्रमस्त्रविदां वरः ॥ ३९ ॥

प्रतापी महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे । उन्होंने महाभाग अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी ॥ ३९ ॥

अग्नेस्तु जातः स मुनिस्ततो भरतसत्तम ।
भारद्वाजं तदाग्नेयं महास्त्रं प्रत्यपादयत् ॥ ४० ॥

जनमेजय ! अग्निवेश मुनि साक्षात् अग्निके पुत्र थे । उन्होंने अपने गुरुपुत्र भरद्वाजनन्दन द्रोणको उस आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी शिक्षा दी ॥ ४० ॥

भरद्वाजसखा चासीत् पृषतो नाम पार्थिवः ।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः ॥ ४१ ॥

उन दिनों पृषत नामसे प्रसिद्ध एक भूपाल महर्षि भरद्वाजके मित्र थे । उन्हें भी उसी समय एक पुत्र हुआ, जिसका नाम द्रुपद था ॥ ४१ ॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्थिवः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः॥ ४२॥

वह राजकुमार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ था। वह प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रममें जाकर द्रोणके साथ खेलता और अध्ययन करता था॥ ४२॥

ततो व्यतीते पृषते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
पञ्चालेषु महाबाहुरुत्तरेषु नरेश्वर॥ ४३॥

नरेश्वर जनमेजय! पृषतकी मृत्यु हो जानेपर महाबाहु द्रुपद उत्तर-पञ्चाल देशके राजा हुए॥ ४३॥

भरद्वाजोऽपि भगवानारुरोह दिवं तदा।
तत्रैव च वसन् द्रोणस्तपस्तेपे महातपाः॥ ४४॥

कुछ दिनों बाद भगवान् भरद्वाज भी स्वर्गवासी हो गये और महातपस्वी द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे॥ ४४॥

वेदवेदाङ्गविद्वान् स तपसा दग्धकिल्विषः।
ततः पितृनियुक्तात्मा पुत्रलोभान्महायशाः॥ ४५॥
शारद्वतीं ततो भार्यां कृपीं द्रोणोऽन्वविन्दत।
अग्निहोत्रे च धर्मे च दमे च सततं रताम्॥ ४६॥

वे वेदों और वेदाङ्गोंके विद्वान् तो थे ही, तपस्याद्वारा अपनी सम्पूर्ण पापराशिको दग्ध कर चुके थे। उनका महान् यश सब ओर फैल चुका था। एक समय पितरोंने उनके मनमें पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रेरणा दी; अतः द्रोणाचार्यने पुत्रके लोभसे शरद्वान्‌की पुत्री कृपीको धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण किया। कृपी सदा अग्निहोत्र, धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रिय-संयममें उनका साथ देती थी॥ ४५-४६॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमेव च।
स जातमात्रो व्यनदद् यथैवोच्चैःश्रवा हयः॥ ४७॥

गौतमी कृपीने द्रोणसे अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। उस बालकने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़ेके समान शब्द किया॥ ४७॥

तच्छ्रुत्वान्तर्हितं भूतमन्तरिक्षस्थमब्रवीत्।
अश्वस्येवास्य यत् स्थाम नदतः प्रदिशो गतम्॥ ४८॥
अश्वत्थामैव बालोऽयं तस्मान्नाम्ना भविष्यति।
सुतेन तेन सुप्रीतो भारद्वाजस्ततोऽभवत्॥ ४९॥

उसे सुनकर अन्तरिक्षमें स्थित किसी अदृश्य चेतनने कहा—'इस बालकके चिल्लाते समय अश्वके समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठा है; अतः यह अश्वत्थामा नामसे ही प्रसिद्ध होगा।' उस पुत्रसे भरद्वाजनन्दन द्रोणको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ४८-४९॥

तत्रैव च वसन् धीमान् धनुर्वेदपरोऽभवत्।
स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परंतपम्॥ ५०॥
सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तदा राजन् दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ ५१॥

बुद्धिमान् द्रोण उसी आश्रममें रहकर धनुर्वेदका अभ्यास करने लगे। राजन्! किसी समय उन्होंने सुना कि 'महात्मा जमदग्निनन्दन परशुरामजी इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं तथा शत्रुओंको संताप देनेवाले वे विप्रवर ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दान करना चाहते हैं॥ ५०-५१॥

स रामस्य धनुर्वेदं दिव्यान्यस्त्राणि चैव ह।
श्रुत्वा तेषु मनश्चक्रे नीतिशास्त्रे तथैव च॥ ५२॥

द्रोणने यह सुनकर कि परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है, उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा की। इसी प्रकार उन्होंने उनसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा लेनेका भी विचार किया॥ ५२॥

ततः स व्रतिभिः शिष्यैस्तपोयुक्तैर्महातपाः।
वृतः प्रायान्महाबाहुर्महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ ५३॥

फिर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शिष्योंसे घिरे हुए महातपस्वी महाबाहु द्रोण परम उत्तम महेन्द्र पर्वतपर गये॥ ५३॥

ततो महेन्द्रमासाद्य भारद्वाजो महातपाः।
क्षान्तं दान्तममित्रघ्नमपश्यद् भृगुनन्दनम्॥ ५४॥

महेन्द्र पर्वतपर पहुँचकर महान् तपस्वी द्रोणने क्षमा एवं शम-दम आदि गुणोंसे युक्त शत्रुनाशक भृगुनन्दन परशुरामजीका दर्शन किया॥ ५४॥

ततो द्रोणो वृतः शिष्यैरुपगम्य भृगूद्वहम्।
आचख्यावात्मनो नाम जन्म चाङ्गिरसः कुले॥ ५५॥

तत्पश्चात् शिष्योंसहित द्रोणने भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीके समीप जाकर अपना नाम बताया और यह भी कहा कि 'मेरा जन्म आङ्गिरस कुलमें हुआ है'॥ ५५॥

निवेद्य शिरसा भूमौ पादौ चैवाभ्यवादयत्।
ततस्तं सर्वमुत्सृज्य वनं जिगमिषुं तदा॥ ५६॥
जामदग्न्यं महात्मानं भारद्वाजोऽब्रवीदिदम्।
भरद्वाजात् समुत्पन्नं तथा त्वं मामयोनिजम्॥ ५७॥
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजर्षभ।

इस प्रकार नाम और गोत्र बताकर उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक टेक दिया और परशुरामजीके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर सर्वस्व त्यागकर वनमें जानेकी इच्छा रखनेवाले महात्मा जमदग्निकुमारसे द्रोणने इस प्रकार कहा—'द्विजश्रेष्ठ! मैं महर्षि भरद्वाजसे उत्पन्न उनका अयोनिज पुत्र हूँ। आपको यह ज्ञात हो कि मैं धनकी इच्छासे आया हूँ। मेरा नाम द्रोण है'॥ ५६-५७½॥

तमब्रवीन्महात्मा स सर्वक्षत्रियमर्दनः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर समस्त क्षत्रियोंका संहार करनेवाले महात्मा परशुराम उनसे यों बोले—॥ ५८ ॥

स्वागतं ते द्विजश्रेष्ठ यदिच्छसि वदस्व मे ।
एवमुक्तस्तु रामेण भारद्वाजोऽब्रवीद् वचः ॥ ५९ ॥
रामं प्रहरतां श्रेष्ठं दित्सन्तं विविधं वसु ।
अहं धनमनन्तं हि प्रार्थये विपुलव्रत ॥ ६० ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारा स्वागत है। तुम जो कुछ भी चाहते हो, मुझसे कहो।' उनके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजकुमार द्रोणने नाना प्रकारके धन-रत्नोंका दान करनेकी इच्छावाले, योद्धाओंमें श्रेष्ठ परशुरामसे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! मैं आपसे ऐसे धनकी याचना करता हूँ, जिसका कभी अन्त न हो' ॥ ५९-६० ॥

राम उवाच

हिरण्यं मम यच्चान्यद् वसु किंचिदिह स्थितम् ।
ब्राह्मणेभ्यो मया दत्तं सर्वमेतत् तपोधन ॥ ६१ ॥
तथैवेयं धरा देवी सागरान्ता सपत्तना ।
कश्यपाय मया दत्ता कृत्स्ना नगरमालिनी ॥ ६२ ॥

परशुरामजी बोले—तपोधन ! मेरे पास यहाँ जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकारका धन था, वह सब मैंने ब्राह्मणोंको दे दिया। इसी प्रकार ग्राम और नगरोंकी पङ्क्तियोंसे सुशोभित होनेवाली समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यपको दे दी है ॥ ६१-६२ ॥

शरीरमात्रमेवाद्य ममेदमवशेषितम् ।
अस्त्राणि च महार्हाणि शस्त्राणि विविधानि च ॥ ६३ ॥

अब मेरा यह शरीरमात्र बचा है। साथ ही नाना प्रकारके बहुमूल्य अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अवशिष्ट है ॥ ६३ ॥

अस्त्राणि वा शरीरं वा वरयैतन्मयोद्यतम् ।
वृणीष्व किं प्रयच्छामि तुभ्यं द्रोण वदाशु तत् ॥ ६४ ॥

अतः तुम अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान अथवा यह शरीर माँग लो। इसे देनेके लिये मैं सदा प्रस्तुत हूँ। द्रोण ! बोलो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? शीघ्र उसे कहो ॥ ६४ ॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि मे समग्राणि ससंहाराणि भार्गव ।
सप्रयोगरहस्यानि दातुमर्हस्यशेषतः ॥ ६५ ॥

द्रोणने कहा—भृगुनन्दन ! आप मुझे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधिसहित सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्रदान करें ॥ ६५ ॥

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रादादस्त्राणि भार्गवः ।
सरहस्यव्रतं चैव धनुर्वेदमशेषतः ॥ ६६ ॥

तब 'तथास्तु' कहकर भृगुवंशी परशुरामजीने द्रोणको सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका भी उपदेश किया ॥ ६६ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं कृतास्त्रो द्विजसत्तमः ।
प्रियं सखायं सुप्रीतो जगाम द्रुपदं प्रति ॥ ६७ ॥

वह सब ग्रहण करके द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्रविद्याके पूरे पण्डित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा द्रुपदके पास गये ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि द्रोणस्य भार्गवादस्त्रप्राप्तौ (एक) नत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें द्रोणको परशुरामजीसे अस्त्रविद्याकी प्राप्तिविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणका द्रुपदसे तिरस्कृत हो हस्तिनापुरमें आना, राजकुमारोंसे उनकी भेंट, उनकी बीटा[1] और अँगूठीको कुएँमेंसे निकालना एवं भीष्मका उन्हें अपने यहाँ सम्मानपूर्वक रखना

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान् ।
अब्रवीत् पार्थिवं राजन् सखायं विद्धि मामिह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रतापी द्रोण राजा द्रुपदके यहाँ जाकर उनसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैं तुम्हारा मित्र द्रोण यहाँ तुमसे मिलनेके लिये आया हूँ' ॥ १ ॥

इत्येवमुक्तः सख्या स प्रीतिपूर्वं जनेश्वरः ।
भारद्वाजेन पाञ्चालो नामृष्यत वचोऽस्य तत् ॥ २ ॥

मित्र द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहे जानेपर पञ्चालदेशके नरेश द्रुपद उनकी इस बातको सह न सके ॥ २ ॥

सक्रोधामर्षजिह्मभ्रूः कषायीकृतलोचनः ।
ऐश्वर्यमदसम्पन्नो द्रोणं राजाब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥

क्रोध और अमर्षसे उनकी भौंहें टेढ़ी हो गयीं, आँखोंमें लाली छा गयी; धन और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त होकर वे राजा द्रोणसे यों बोले ॥ ३ ॥

द्रुपद उवाच

अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ।
यन्मां ब्रवीषि प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज ॥ ४ ॥

द्रुपदने कहा—ब्रह्मन् ! तुम्हारी बुद्धि सर्वथा संस्कार-शून्य—अपरिपक्व है। तुम्हारी यह बुद्धि यथार्थ नहीं है। तभी तो तुम धृष्टतापूर्वक मुझसे कह रहे हो कि 'राजन् ! मैं तुम्हारा सखा हूँ' ॥ ४ ॥

१. जौके आकारकी बनी हुई काठकी मोटी गुल्लीको 'बीटा' कहते हैं।

न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ।
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रिया हीनैर्धनच्युतैः ॥ ५ ॥

ओ मूढ़ ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता नहीं होती ॥ ५ ॥

सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।
सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम् ॥ ६ ॥

समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-ही-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है। पहले तुम्हारे साथ जो मेरी मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय मैं और तुम दोनों समान शक्तिशाली थे ॥ ६ ॥

न सख्यमजरं लोके हृदि तिष्ठति कस्यचित् ।
कालो ह्येनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ॥ ७ ॥

लोकमें किसी भी मनुष्यके हृदयमें मैत्री अमिट होकर नहीं रहती। समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है ॥ ७ ॥

मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ।
आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ॥ ८ ॥

इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीका भरोसा न करो। हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे—इस भावको हृदयसे निकाल दो। द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि स्वार्थको लेकर हुई थी ॥ ८ ॥

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा ।
न शूरस्य सखा क्लीवः सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ९ ॥

सची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ॥ ९ ॥

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ १० ॥

जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हींमें विवाह और मैत्रीका सम्बन्ध हो सकता है। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बलमें (धनवान् और निर्धनमें) कभी मित्रता नहीं हो सकती ॥ १० ॥

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ॥ ११ ॥

जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) का मित्र नहीं हो सकता। जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो राजा नहीं है, वह किसी राजाका मित्र कदापि नहीं हो सकता। फिर तुम पुरानी मित्रताका क्यों स्मरण करते हो ? ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

द्रुपदेनैवमुक्तस्तु भारद्वाजः प्रतापवान् ।
मुहूर्तं चिन्तयित्वा तु मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ १२ ॥

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चालं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा द्रुपदके यों कहनेपर प्रतापी द्रोण क्रोधसे जल उठे और दो घड़ीतक गहरी चिन्तामें डूबे रहे। वे बुद्धिमान् तो थे ही, पाञ्चाल-नरेशसे बदला लेनेके विषयमें मन-ही-मन कुछ निश्चय करके कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर नगरमें चले गये ॥ १२-१३ ॥

स नागपुरमागम्य गौतमस्य निवेशने ।
भारद्वाजोऽवसत् तत्र प्रच्छन्नं द्विजसत्तमः ॥ १४ ॥

हस्तिनापुरमें पहुँचकर द्विजश्रेष्ठ द्रोण गौतमगोत्रीय कृपाचार्यके घरमें गुप्तरूपसे निवास करने लगे ॥ १४ ॥

ततोऽस्य तनुजः पार्थान् कृपस्यानन्तरं प्रभुः ।
अस्त्राणि शिक्षयामास नाबुध्यन्त च तं जनाः ॥ १५ ॥

वहाँ उनके पुत्र शक्तिशाली अश्वत्थामा कृपाचार्यके बाद पाण्डवोंको स्वयं ही अस्त्रविद्याकी शिक्षा देने लगे; किंतु लोग उन्हें पहचान न सके ॥ १५ ॥

एवं स तत्र गूढात्मा कंचित् कालमुवास ह ।
कुमारास्त्वथ निष्क्रम्य समेता गजसाह्वयात् ॥ १६ ॥
क्रीडन्तो वीटया तत्र वीराः पर्यचरन् मुदा ।
पपात कूपे सा वीटा तेषां वै क्रीडतां तदा ॥ १७ ॥

इस प्रकार द्रोणने वहाँ अपने आपको छिपाये रखकर कुछ कालतक निवास किया। तदनन्तर एक दिन कौरव-पाण्डव सभी वीर कुमार हस्तिनापुरसे बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नताके साथ मिलकर वहाँ गुल्ली-डंडा खेलने लगे। उस समय खेलमें लगे हुए उन कुमारोंकी वह वीटा कुएँमें गिर पड़ी ॥ १६-१७ ॥

ततस्ते यत्नमातिष्ठन् वीटामुद्धर्तुमादृताः ।
न च ते प्रत्यपद्यन्त कर्म वीटोपलब्धये ॥ १८ ॥

तब वे उस वीटाको निकालनेके लिये बड़ी तत्परताके साथ प्रयत्नमें लग गये; परंतु उसे प्राप्त करनेका कोई भी उपाय उनके ध्यानमें नहीं आया ॥ १८ ॥

ततोऽन्योन्यमवैक्षन्त व्रीडयावनताननाः ।
तस्या योगमविन्दन्तो भृशं चोत्कण्ठिताभवन् ॥ १९ ॥

इस कारण लज्जासे नतमस्तक होकर वे एक दूसरेकी ओर देखने लगे। गुल्ली निकालनेका कोई उपाय न मिलनेके कारण वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये ॥ १९ ॥

तेऽपश्यन् ब्राह्मणं श्याममापन्नं पलितं कृशम् ।
कृत्यवन्तमदूरस्थमग्निहोत्रपुरस्कृतम् ॥ २० ॥

इसी समय उन्होंने एक श्याम वर्णके ब्राह्मणको थोड़ी ही दूरपर बैठे देखा, जो अग्निहोत्र करके किसी प्रयोजनसे वहाँ रुके हुए थे। वे आपत्तिग्रस्त जान पड़ते थे। उनके सिरके बाल सफेद हो गये थे और शरीर अत्यन्त दुर्बल था ॥ २० ॥

ते तं दृष्ट्वा महात्मानमुपगम्य कुमारकाः ।
भग्नोत्साहक्रियात्मानो ब्राह्मणं पर्यवारयन् ॥ २१ ॥

उन महात्मा ब्राह्मणको देखकर वे सभी कुमार उनके पास गये और उन्हें घेरकर खड़े हो गये। उनका उत्साह भङ्ग हो गया था। कोई काम करनेकी इच्छा नहीं होती थी। मनमें भारी निराशा भर गयी थी ॥ २१ ॥

अथ द्रोणः कुमारांस्तान् दृष्ट्वा कृत्यवतस्तदा ।
प्रहस्य मन्दं पैशल्यादभ्यभाषत वीर्यवान् ॥ २२ ॥

तदनन्तर पराक्रमी द्रोण यह देखकर कि इन कुमारोंका अभीष्ट कार्य पूर्ण नहीं हुआ है—ये उसी प्रयोजनसे मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुसकराहटके साथ बड़े कौशलसे बोले—॥ २२ ॥

अहो वो धिग् बलं क्षात्रं धिगेतां वः कृतास्त्रताम् ।
भरतस्यान्वये जाता ये वीटां नाधिगच्छत ॥ २३ ॥

'अहो! तुमलोगोंके क्षत्रियबलको धिक्कार है और तुमलोगोंकी इस अस्त्र-विद्या-विषयक निपुणताको भी धिक्कार है; क्योंकि तुमलोग भरतवंशमें जन्म लेकर भी कुएँमें गिरी हुई गुल्लीको नहीं निकाल पाते ॥ २३ ॥

वीटां च मुद्रिकां चैव ह्यहमेतदपि द्वयम् ।
उद्धरेयमिषीकाभिर्भोजनं मे प्रदीयताम् ॥ २४ ॥

'देखो, मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अँगूठी दोनोंको सींकोंसे निकाल सकता हूँ। तुमलोग मेरी जीविकाकी व्यवस्था करो' ॥ २४ ॥

एवमुक्त्वा कुमारांस्तान् द्रोणः स्वाङ्गुलिवेष्टनम् ।
कूपे निरुदके तस्मिन्नपातयदरिंदमः ॥ २५ ॥

उन कुमारोंसे यों कहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणने उस निर्जल कुएँमें अपनी अँगूठी डाल दी ॥ २५ ॥

ततोऽब्रवीत् तदा द्रोणं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने द्रोणसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

कृपस्यानुमते ब्रह्मन् भिक्षामाप्नुहि शाश्वतीम् ॥ २६ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच प्रहस्य भरतानिदम् ।

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन्! आप कृपाचार्यकी अनुमति ले सदा यहीं रहकर भिक्षा प्राप्त करें ॥ २६½ ॥

उनके यों कहनेपर द्रोणने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारोंसे कहा।

द्रोण उवाच

एषा मुष्टिरिषीकाणां मयास्त्रेणाभिमन्त्रिता ॥ २७ ॥

द्रोण बोले—ये मुट्ठी भर सींकें हैं, जिन्हें मैंने अस्त्र-मन्त्रके द्वारा अभिमन्त्रित किया है ॥ २७ ॥

अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं यदन्यस्य न विद्यते ।
भेत्स्यामीषीकया वीटां तामिषीकां तथान्यया ॥ २८ ॥

तुमलोग इसका बल देखो, जो दूसरेमें नहीं है। मैं पहले एक सींकसे उस गुल्लीको बींध दूँगा; फिर दूसरी सींकसे उस पहली सींकको बींधूँगा ॥ २८ ॥

तामन्यया समायोगे वीटाया ग्रहणं मम ।

इसी प्रकार दूसरीको तीसरीसे बींधते हुए अनेक सींकोंका संयोग होनेपर मुझे गुल्ली मिल जायगी।

वैशम्पायन उवाच

ततो यथोक्तं द्रोणेन तत् सर्वं कृतमञ्जसा ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर द्रोणने जैसा कहा था, वह सब कुछ अनायास ही कर दिखाया ॥ २९ ॥

तदवेक्ष्य कुमारास्ते विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ।
आश्चर्यमिदमत्यन्तमिति मत्वा वचोऽब्रुवन् ॥ ३० ॥

यह अद्भुत कार्य देखकर उन कुमारोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले ॥ ३० ॥

कुमारा ऊचुः

मुद्रिकामपि विप्रर्षे शीघ्रमेतां समुद्धर ।

कुमारोंने कहा—ब्रह्मर्षे! अब आप शीघ्र ही इस अँगूठीको भी निकाल दीजिये।

वैशम्पायन उवाच

ततः शरं समादाय धनुर्द्रोणो महायशाः ॥ ३१ ॥
शरेण विद्ध्वा मुद्रां तामूर्ध्वमावाहयत् प्रभुः ।
सशरं समुपादाय कूपादङ्गुलिवेष्टनम् ॥ ३२ ॥
ददौ ततः कुमाराणां विस्मितानामविस्मितः ।
मुद्रिकामुद्धृतां दृष्ट्वा तमाहुस्ते कुमारकाः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महायशस्वी द्रोणने धनुष-बाण लेकर बाणसे उस अँगूठीको बींध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया। शक्तिशाली द्रोणने इस प्रकार कुएँसे बाणसहित अँगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें दे दी; किंतु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नहीं हुए। उस अँगूठीको कुएँसे निकाली हुई देखकर उन कुमारोंने द्रोणसे कहा ॥ ३१–३३ ॥

कुमारा ऊचुः

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते ।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे ॥ ३४ ॥

कुमार बोले—ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्र-कौशल दूसरे किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं—यह हम जानना चाहते हैं। बताइये, हमलोग आपकी क्या सेवा करें? ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो द्रोणः प्रत्युवाच कुमारकान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुमारोंके इस प्रकार पूछनेपर द्रोणने उनसे कहा ।

द्रोण उवाच

आचक्षध्वं च भीष्माय रूपेण च गुणैश्च माम् ॥ ३५ ॥
स एव सुमहातेजाः साम्प्रतं प्रतिपत्स्यते ।

द्रोण बोले—तुम सब लोग भीष्मजीके पास जाकर मेरे रूप और गुणोंका परिचय दो । वे महातेजस्वी भीष्मजी ही मुझे इस समय पहचान सकते हैं ॥ ३५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेत्युक्त्वा च गत्वा च भीष्ममूचुः कुमारकाः ॥ ३६ ॥
ब्राह्मणस्य वचस्तथ्यं तच्च कर्म तथाविधम् ।
भीष्मः श्रुत्वा कुमाराणां द्रोणं तं प्रत्यजानत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—'बहुत अच्छा' कहकर वे कुमार भीष्मजीके पास गये और ब्राह्मणकी सच्ची बातों तथा उनके उस अद्भुत पराक्रमको भी उन्होंने भीष्मजीसे कह सुनाया । कुमारोंकी बातें सुनकर भीष्मजी समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं ॥ ३६-३७ ॥

युक्तरूपः स हि गुरुरित्येवमनुचिन्त्य च ।
अथैनमानीय तदा स्वयमेव सुसत्कृतम् ॥ ३८ ॥
परिपप्रच्छ निपुणं भीष्मः शस्त्रभृतां वरः ।
हेतुमागमने तच्च द्रोणः सर्वं न्यवेदयत् ॥ ३९ ॥

फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही इन कुमारोंके उपयुक्त गुरु हो सकते हैं, भीष्मजी स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये । वहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ भीष्मने बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ द्रोणाचार्यसे उनके आगमनका कारण पूछा और द्रोणने वह सब कारण इस प्रकार निवेदन किया ॥ ३८-३९ ॥

द्रोण उवाच

महर्षेरग्निवेशस्य सकाशमहमच्युत ।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वं धनुर्वेदजिघृक्षया ॥ ४० ॥

द्रोणाचार्यने कहा—अपनी प्रतिज्ञासे कभी च्युत न होनेवाले भीष्मजी ! पहलेकी बात है, मैं अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा तथा धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये महर्षि अग्निवेशके समीप गया था ॥ ४० ॥

ब्रह्मचारी विनीतात्मा जटिलो बहुलाः समाः ।
अवसं सुचिरं तत्र गुरुशुश्रूषणे रतः ॥ ४१ ॥

वहाँ मैं विनीत हृदयसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए सिरपर जटा धारण किये बहुत वर्षोंतक रहा । गुरुकी सेवामें निरन्तर संलग्न रहकर मैंने दीर्घकालतक उनके आश्रममें निवास किया ॥ ४१ ॥

पाञ्चालो राजपुत्रश्च यज्ञसेनो महाबलः ।
इष्वस्त्रहेतोर्न्यवसत् तस्मिन्नेव गुरौ प्रभुः ॥ ४२ ॥

उन दिनों पञ्चालराजकुमार महाबली यज्ञसेन द्रुपद भी, जो बड़े शक्तिशाली थे, धनुर्वेदकी शिक्षा पानेके लिये उन्हीं गुरुदेव अग्निवेशके समीप रहते थे ॥ ४२ ॥

स मे तत्र सखा चासीदुपकारी प्रियश्च मे ।
तेनाहं सह संगम्य वर्तयन् सुचिरं प्रभो ॥ ४३ ॥

वे उस गुरुकुलमें मेरे बड़े ही उपकारी और प्रिय मित्र थे । प्रभो ! उनके साथ मिल-जुलकर मैं बहुत दिनोंतक आश्रममें रहा ॥ ४३ ॥

बाल्यात् प्रभृति कौरव्य सहाध्ययनमेव च ।
स मे सखा सदा तत्र प्रियवादी प्रियंकरः ॥ ४४ ॥

बचपनसे ही हम दोनोंका अध्ययन साथ-साथ चलता था । द्रुपद वहाँ मेरे घनिष्ठ मित्र थे । वे सदा मुझसे प्रिय वचन बोलते और मेरा प्रिय कार्य करते थे ॥ ४४ ॥

अब्रवीदिति मां भीष्म वचनं प्रीतिवर्धनम् ।
अहं प्रियतमः पुत्रः पितुर्द्रोण महात्मनः ॥ ४५ ॥

भीष्मजी ! वे एक दिन मुझसे मेरी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली यह बात बोले—'द्रोण ! मैं अपने महात्मा पिताका अत्यन्त प्रिय पुत्र हूँ ॥ ४५ ॥

अभिषेक्ष्यति मां राज्ये स पाञ्चालो यदा तदा ।
त्वद्भोग्यं भविता तात सखे सत्येन ते शपे ॥ ४६ ॥
मम भोगाश्च वित्तं च त्वदधीनं सुखानि च ।
एवमुक्त्वाथ वव्राज कृतास्त्रः पूजितो मया ॥ ४७ ॥

'तात ! जब पञ्चालनरेश मुझे राज्यपर अभिषिक्त करेंगे, उस समय मेरा राज्य तुम्हारे उपभोगमें आयेगा । सखे ! मैं सत्यकी सौगंध खाकर कहता हूँ—मेरे भोग, वैभव और सुख सब तुम्हारे अधीन होंगे ।' यों कहकर वे अस्त्रविद्यामें निपुण हो मुझसे सम्मानित होकर अपने देशको लौट गये ॥ ४६-४७ ॥

तच्च वाक्यमहं नित्यं मनसा धारयंस्तदा ।
सोऽहं पितृनियोगेन पुत्रलोभाद् यशस्विनीम् ॥ ४८ ॥
नातिकेशीं महाप्रज्ञामुपयेमे महाव्रताम् ।
अग्निहोत्रे च सत्रे च दमे च सततं रताम् ॥ ४९ ॥

उनकी उस समय कही हुई इस बातको मैं अपने मनमें सदा याद रखता था । कुछ दिनोंके बाद पितरोंकी प्रेरणासे मैंने पुत्र-प्राप्तिके लोभसे परम बुद्धिमती, महान् व्रतका पालन करनेवाली, अग्निहोत्र, सत्र तथा शम-दमके पालनमें मेरे साथ सदा संलग्न रहनेवाली शरद्वान्की पुत्री यशस्विनी कृपीसे, जिसके केश बहुत बड़े नहीं थे, विवाह किया ॥ ४८-४९ ॥

अलभद् गौतमी पुत्रमश्वत्थामानमौरसम् ।
भीमविक्रमकर्माणमादित्यसमतेजसम् ॥ ५० ॥

उस गौतमी कृपीने मुझसे मेरे औरस पुत्र अश्वत्थामाको प्राप्त किया, जो सूर्यके समान तेजस्वी तथा भयंकर पराक्रम एवं पुरुषार्थ करनेवाला है ॥ ५० ॥

पुत्रेण तेन प्रीतोऽहं भरद्वाजो मया यथा ।

गोक्षीरं पिबतो दृष्ट्वा धनिनस्तत्र पुत्रकान्।
अश्वत्थामारुदद् बालस्तन्मे संदेहयद् दिशः ॥ ५१ ॥

उस पुत्रसे मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी मुझसे मेरे पिता भरद्वाजको हुई थी। एक दिनकी बात है, गोधनके धनी ऋषिकुमार गायका दूध पी रहे थे। उन्हें देखकर मेरा छोटा बच्चा अश्वत्थामा भी बाल-स्वभावके कारण दूध पीनेके लिये मचल उठा और रोने लगा। इससे मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया—मुझे दिशाओंके पहचाननेमें भी संशय होने लगा ॥ ५१ ॥

न स्नातकोऽवसीदेत वर्तमानः स्वकर्मसु।
इति संचिन्त्य मनसा तं देशं बहुशो भ्रमन् ॥ ५२ ॥
विशुद्धमिच्छन् गाङ्गेय धर्मोपेतं प्रतिग्रहम्।
अन्तादन्तं परिक्रम्य नाध्यगच्छं पयस्विनीम् ॥ ५३ ॥

मैंने मन-ही-मन सोचा, यदि मैं किसी कम गायवाले ब्राह्मणसे गाय माँगता हूँ तो कहीं ऐसा न हो कि वह अपने अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें लगा हुआ स्नातक गोदुग्धके बिना कष्टमें पड़ जाय; अतः जिसके पास बहुत-सी गौएँ हों, उसीसे धर्मानुकूल विशुद्ध दान लेनेकी इच्छा रखकर मैंने उस देशमें कई बार भ्रमण किया। गङ्गानन्दन! एक देशसे दूसरे देशमें घूमनेपर भी मुझे दूध देनेवाली कोई गाय न मिल सकी ॥ ५२-५३ ॥

अथ पिष्टोदकेनैनं लोभयन्ति कुमारकाः।
पीत्वा पिष्टरसं बालः क्षीरं पीतं मयापि च ॥ ५४ ॥
ननर्तोत्थाय कौरव्य हृष्टो बाल्याद् विमोहितः।
तं दृष्ट्वा नृत्यमानं तु बालैः परिवृतं सुतम् ॥ ५५ ॥
हास्यतामुपसम्प्राप्तं कश्मलं तत्र मेऽभवत्।
द्रोणं धिगस्त्वधनिनं यो धनं नाधिगच्छति ॥ ५६ ॥

मैं लौटकर आया तो देखता हूँ कि छोटे-छोटे बालक आटेके पानीसे अश्वत्थामाको ललचा रहे हैं और वह अज्ञान-मोहित बालक उस आटेके जलको ही पीकर मारे हर्षके फूला नहीं समाता तथा यह कहता हुआ उठकर नाच रहा है कि 'मैंने दूध पी लिया'। कुरुनन्दन! बालकोंसे घिरे हुए अपने पुत्रको इस प्रकार नाचते और उसकी हँसी उड़ायी जाती देख मेरे मनमें बड़ा क्षोभ हुआ। उस समय कुछ लोग इस प्रकार कह रहे थे, 'इस धनहीन द्रोणको धिक्कार है, जो धनका उपार्जन नहीं करता ॥ ५४–५६ ॥

पिष्टोदकं सुतो यस्य पीत्वा क्षीरस्य तृष्णया।
नृत्यति स्म मुदाविष्टः क्षीरं पीतं मयाप्युत ॥ ५७ ॥
इति सम्भाषतां वाचं श्रुत्वा मे बुद्धिरच्यवत्।
आत्मानं चात्मना गर्हन् मनसेदं व्यचिन्तयम् ॥ ५८ ॥
अपि चाहं पुरा विप्रैर्वर्जितो गर्हितो वसे।
परोपसेवां पापिष्ठां न च कुर्यां धनेप्सया ॥ ५९ ॥

'जिसका बेटा दूधकी लालसासे आटा मिला हुआ जल पीकर आनन्दमग्न हो यह कहता हुआ नाच रहा है कि 'मैंने भी दूध पी लिया।' इस प्रकारकी बातें करनेवाले लोगोंकी आवाज मेरे कानोंमें पड़ी तो मेरी बुद्धि स्थिर न रह सकी। मैं स्वयं ही अपने आपकी निन्दा करता हुआ मन-ही-मन इस प्रकार सोचने लगा—'मुझे दरिद्र जानकर पहलेसे ही ब्राह्मणोंने मेरा साथ छोड़ दिया। मैं धनाभावके कारण निन्दित होकर उपवास भले ही कर लूँगा, परंतु धनके लोभसे दूसरों-की सेवा, जो अत्यन्त पापपूर्ण कर्म है, कदापि नहीं कर सकता' ॥ ५७–५९ ॥

इति मत्वा प्रियं पुत्रं भीष्मादाय ततो ह्यहम्।
पूर्वस्नेहानुरागित्वात् सदारः सौमकिं गतः ॥ ६० ॥

भीष्मजी! ऐसा निश्चय करके मैं अपने प्रिय पुत्र और पत्नीको साथ लेकर पहलेके स्नेह और अनुरागके कारण राजा द्रुपदके यहाँ गया ॥ ६० ॥

अभिषिक्तं तु श्रुत्वैव कृतार्थोऽस्मीति चिन्तयन्।
प्रियं सखायं सुप्रीतो राज्यस्थं समुपागमम् ॥ ६१ ॥

मैंने सुन रक्खा था कि द्रुपदका राज्याभिषेक हो चुका है, अतः मैं मन-ही-मन अपनेको कृतार्थ मानने लगा और बड़ी प्रसन्नताके साथ राज्यसिंहासनपर बैठे हुए अपने प्रिय सखाके समीप गया ॥ ६१ ॥

संस्मरन् संगमं चैव वचनं चैव तस्य तत्।
ततो द्रुपदमागम्य सखिपूर्वमहं प्रभो ॥ ६२ ॥
अब्रुवं पुरुषव्याघ्र सखायं विद्धि मामिति।
उपस्थितस्तु द्रुपदं सखिवच्चास्मि संगतः ॥ ६३ ॥

उस समय मुझे द्रुपदकी मैत्री और उनकी कही हुई पूर्वोक्त बातोंका बारंबार स्मरण हो आता था। तदनन्तर अपने पहलेके सखा द्रुपदके पास पहुँचकर मैंने कहा—'नरश्रेष्ठ! मुझ अपने मित्रको पहचानो तो सही।' प्रभो! मैं द्रुपदके पास पहुँचनेपर उनसे मित्रकी ही भाँति मिला ॥ ६२-६३ ॥

स मां निराकारमिव प्रहसन्निदमब्रवीत्।
अकृतेयं तव प्रज्ञा ब्रह्मन् नातिसमञ्जसा ॥ ६४ ॥

परंतु द्रुपदने मुझे नीच मनुष्यके समान समझकर उपहास करते हुए इस प्रकार कहा–'ब्राह्मण! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त असंगत एवं अशुद्ध है ॥ ६४ ॥

यदात्थ मां त्वं प्रसभं सखा तेऽहमिति द्विज।
संगतानीह जीर्यन्ति कालेन परिजीर्यतः ॥ ६५ ॥

'तभी तो तुम मुझसे यह कहनेकी धृष्टता कर रहे हो कि 'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ!' समयके अनुसार मनुष्य ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता है, त्यों-त्यों उसकी मैत्री भी क्षीण होती चली जाती है ॥ ६५ ॥

सौहृदं मे त्वया ह्यासीत् पूर्वं सामर्थ्यबन्धनम्।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ६६ ॥

'पहले तुम्हारे साथ मेरी जो मित्रता थी, वह सामर्थ्यको लेकर थी—उस समय हम दोनोंकी शक्ति समान थी (किंतु अब वैसी बात नहीं है) । जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रिय (वेदवेत्ता)का, जो रथी नहीं है, वह रथीका सखा नहीं हो सकता ॥ ६६ ॥

साम्याद्धि सख्यं भवति वैषम्यान्नोपपद्यते ।
न सख्यमजरं लोके विद्यते जातु कस्यचित् ॥ ६७ ॥

'सब बातोंमें समानता होनेसे ही मित्रता होती है । विषमता होनेपर मैत्रीका होना असम्भव है । फिर लोकमें कभी किसीकी मैत्री अजर-अमर नहीं होती ॥ ६७ ॥

कालो वैनं विहरति क्रोधो वैनं हरत्युत ।
मैवं जीर्णमुपास्स्व त्वं सख्यं भवत्वपाकृधि ॥ ६८ ॥

'समय एक मित्रको दूसरेसे विलग कर देता है अथवा क्रोध मनुष्यको मित्रतासे हटा देता है । इस प्रकार क्षीण होनेवाली मैत्रीकी उपासना (भरोसा) न करो । हम दोनों एक दूसरेके मित्र थे, इस भावको हृदयसे निकाल दो ॥ ६८ ॥

आसीत् सख्यं द्विजश्रेष्ठ त्वया मेऽर्थनिबन्धनम् ।
न ह्यनाढ्यः सखाढ्यस्य नाविद्वान् विदुषः सखा॥ ६९ ॥
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते ।
न हि राज्ञामुदीर्णानामेवम्भूतैर्नरैः क्वचित् ॥ ७० ॥
सख्यं भवति मन्दात्मन् श्रियाहीनैर्धनच्युतैः ।
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा ॥ ७१ ॥
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते ।
अहं त्वया न जानामि राज्यार्थे संविदं कृताम् ॥ ७२ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारे साथ पहले जो मेरी मित्रता थी, वह (साथ-साथ खेलने और अध्ययन करने आदि) स्वार्थको लेकर हुई थी । सच्ची बात यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का और कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता; अतः पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो ? मन्दमते ! बड़े-बड़े राजाओंकी तुम्हारे-जैसे श्रीहीन और निर्धन मनुष्योंके साथ कभी मित्रता हो सकती है ? जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका, जो रथी नहीं है, वह रथीका तथा जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता । फिर तुम मुझे जीर्ण-शीर्ण मित्रताका स्मरण क्यों दिलाते हो ? मैंने अपने राज्यके लिये तुमसे कोई प्रतिज्ञा की थी, इसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है ॥ ६९—७२ ॥

एकरात्रं तु ते ब्रह्मन् कामं दास्यामि भोजनम् ।
एवमुक्तस्त्वहं तेन सदारः प्रस्थितस्तदा ॥ ७३ ॥

'ब्रह्मन् ! तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें एक रातके लिये अच्छी तरह भोजन दे सकता हूँ ।' राजा द्रुपदके यों कहनेपर मैं पत्नी और पुत्रके साथ वहाँसे चल दिया ॥ ७३ ॥

तां प्रतिज्ञां प्रतिज्ञाय यां कर्तास्म्यचिरादिव ।
द्रुपदेनैवमुक्तोऽहं मन्युनाभिपरिप्लुतः ॥ ७४ ॥

चलते समय मैंने एक प्रतिज्ञा की थी, जिसे शीघ्र पूर्ण करूँगा । द्रुपदके द्वारा जो इस प्रकार तिरस्कारपूर्ण वचन मेरे प्रति कहा गया है, उसके कारण मैं क्षोभसे अत्यन्त व्याकुल हो रहा हूँ ॥ ७४ ॥

अभ्यागच्छं कुरून् भीष्म शिष्यैरर्थी गुणान्वितैः।
ततोऽहं भवतः कामं संवर्धयितुमागतः ॥ ७५ ॥
इदं नागपुरं रम्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ।

भीष्मजी ! मैं गुणवान् शिष्योंके द्वारा अपने अभीष्टकी सिद्धि चाहता हुआ आपके मनोरथको पूर्ण करनेके लिये पञ्चालदेशसे कुरुराज्यके भीतर इस रमणीय हस्तिनापुर नगरमें आया हूँ । बताइये, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ ७५½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मो भारद्वाजमभाषत ॥ ७६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—द्रोणाचार्यके यों कहनेपर भीष्मने उनसे कहा ॥ ७६ ॥

भीष्म उवाच

अपज्यं क्रियतां चापं साध्वस्त्रं प्रतिपादय ।
भुङ्क्ष्व भोगान् भृशं प्रीतः पूज्यमानः कुरुक्षये ॥ ७७ ॥

भीष्मजी बोले—विप्रवर ! अब आप अपने धनुषकी डोरी उतार दीजिये और यहाँ रहकर राजकुमारोंको धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी अच्छी शिक्षा दीजिये । कौरवोंके घरमें सदा सम्मानित रहकर अत्यन्त प्रसन्नताके साथ मनोवाञ्छित भोगोंका उपभोग कीजिये ॥ ७७ ॥

कुरूणामस्ति यद् वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम् ।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव ॥ ७८ ॥

कौरवोंके पास जो धन, राज्य-वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं । समस्त कौरव आपके अधीन हैं ॥

यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन् कृतं तदिति चिन्त्यताम् ।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ ७९ ॥

ब्रह्मन् ! आपने जो माँग की है, उसे पूर्ण हुई समझिये । ब्रह्मर्षे ! आप आये, यह हमारे लिये बड़े सौभाग्यकी बात है । आपने यहाँ पधारकर मुझपर महान् अनुग्रह किया है ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सम्भवपर्वणि भीष्मद्रोणसमागमे त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत, आदिपर्वके अन्तर्गत सम्भवपर्वमें भीष्म-द्रोण-समागमविषयक एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥